कैसे सोचें?

आचार्य महाप्रज्ञ

कैसे सोचें?

आचार्य महाप्रज्ञ

जैन विश्व भारती प्रकाशन

प्रकाशक :
आदर्श साहित्य विभाग
जैन विश्व भारती
पोस्ट : लाडनूं-341306
जिला : नागौर (राजस्थान)
फोन : 01581-226080/224671
E-mail: books@jvbharati.org

Books are available Online at
https://books.jvbharati.org

ISBN : 978-81-935173-4-5

© जैन विश्व भारती

नवीन संस्करण : मई, 2021 ई. (प्रतियां : 1000)

मूल्य : दो सौ बीस रुपये मात्र

मुद्रक : सांखला प्रिंटर्स, विनायक शिखर
शिवबाड़ी रोड, बीकानेर 334003

KAISE SOCHEN? by Acharya Mahapragya ₹ 220

प्रस्तुति

प्रस्तुत पुस्तक में तीन प्रश्नों की विशद चर्चा की गई है–

1. कैसे सोचें?

2. हृदय-परिवर्तन के सूत्र क्या हैं?

3. भय-मुक्ति के उपाय क्या हैं?

*** कैसे सोचे?**

मनुष्य मन वाला प्राणी है, इसलिए वह सोचता है। सोचना मन का काम है। पशु भी मन वाला प्राणी है, पर उसका नाड़ी-संस्थान विकसित नहीं होता, इसलिए उसमें सोचने की क्षमता भी विकसित नहीं होती। मनुष्य का नाड़ी-संस्थान विकसित होता है, इसलिए वह सोचने की उच्चतम भूमिका तक जा सकता है।

शरीर और मन का परस्पर गहरा संबंध है। शरीर से मन प्रभावित होता है और मन से शरीर प्रभावित होता है। मन शरीर को अधिक प्रभावित करता है। इस पारस्परिक प्रभाव के अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया कि मनुष्य का चिन्तन विधायक या रचनात्मक होता है तब शरीर भी स्वस्थ रहता है। निषेधात्मक चिन्तन शारीरिक विकृति भी पैदा करता है। मोहनीय कर्म या मूर्च्छा से जुड़ा हुआ सारा का सारा चिन्तन निषेधात्मक होता है। मूर्च्छा की उपशांति के क्षणों में होने वाला चिन्तन विधायक बन जाता है।

विधायक चिन्तन से सामाजिक और मानवीय संबंधों में सुधार होता है। उससे विकास और प्रगति का पथ प्रशस्त हो जाता है। निषेधात्मक भावों से सामाजिक और मानवीय संबंधों में कटुता पैदा होती है, प्रगति का पथ अवरुद्ध हो जाता है।

प्रेक्षाध्यान के अभ्यास से निषेधात्मक भाव कम होते जाते हैं और विधायक भाव बढ़ते चले जाते हैं।

❊ हृदय-परिवर्तन

विश्व का समूचा विकास परिवर्तन का विकास है। जो जैसे है वैसे ही रहे तो विकास सम्भव नहीं होता। मनुष्य बाहरी परिस्थिति को बदलने में बहुत सफल हुआ है। उसे आंतरिक परिस्थिति के बदलाव में उतनी सफलता नहीं मिली है।

हृदय-परिवर्तन तब घटित होता है जब आंतरिक परिवर्तन होता है। आंतरिक परिवर्तन के तीन अंग हैं–भाव का परिवर्तन, विचार का परिवर्तन और रसायनों का परिवर्तन। भाव विचार को पैदा करता है। विचार भाव को पैदा नहीं करता। जैसा भाव वैसा विचार। जब भाव बदलता है तो विचार भी बदलता है और मन भी बदलता है। जब विचार और मन बदलते हैं तब आंतरिक रसायन भी बदलते हैं। यहीं से हृदय-परिवर्तन प्रारंभ होता है।

भाव, विचार और रसायनों के बदलने की प्रक्रिया एक अनुस्यूत प्रक्रिया है। यह आश्रव-शोधन की प्रक्रिया है। यह हृदय-परिवर्तन की प्रक्रिया है।

इसके पांच सूत्र हैं–1. एकाग्रता का अभ्यास 2. समता का अभ्यास 3. जागरूकता का अभ्यास 4. वस्तु-निष्ठ आकर्षण का परिवर्तन 5. मिथ्यादृष्टिकोण का परिवर्तन।

❊ भय-मुक्ति

भय की उत्पत्ति के चार मूल स्रोत हैं–1. सत्त्वहीनता 2. भय की मति 3. भय का सतत चिंतन 4. भय के परमाणुओं का उत्तेजित होना।

भय की पांच प्रतिक्रियाएं हैं–रोग, बुढ़ापा, मरण, विस्मृति और पागलपन।

भय-मुक्ति के साधन कौन-कौन से हैं और प्रेक्षा-ध्यान की प्रक्रिया उन साधनों के क्रियान्वयन में कैसे सहयोग करती हैं–यह सब इस अध्याय में विवृत हैं।

मैंने चिन्तन की प्रक्रिया के कुछ सूत्र, हृदय-परिवर्तन के कुछ उपाय और भय-मुक्ति के कुछ साधनों की चर्चा प्रस्तुत पुस्तक में की है। इस विचार-मंथन की प्रक्रिया में आचार्य श्री तुलसी का सारस्वत अनुग्रह और मुनि दुलराजजी का सम्पादन-कौशल प्रत्यक्ष है। चिंतन की धारा में एक निमज्जन उन्मज्जन का हेतु बन सकेगा।

आचार्य महाप्रज्ञ

अनुक्रम

*** कैसे सोचें?**

1. कैसे सोचें? (1) 9
2. कैसे सोचें? (2) 18
3. कैसे सोचें? (3) 30
4. चिंतन का परिणाम 41
5. अपने बारे में अपना दृष्टिकोण (1) 54
6. अपने बारे में अपना दृष्टिकोण (2) 67
7. दूसरे के बारे में अपना दृष्टिकोण 79
8. प्रतिक्रिया से कैसे बचें? (1) 89
9. प्रतिक्रिया से कैसे बचें? (2) 103

हृदय परिवर्तन : प्रक्रिया और आधार

10. परिस्थितिवाद और हृदय-परिवर्तन 117
11. परिवेश का प्रभाव और हृदय-परिवर्तन 128
12. हृदय-परिवर्तन के सूत्र (1) 140
13. हृदय-परिवर्तन के सूत्र (2) 151
14. हृदय-परिवर्तन के सूत्र (3) 162
15. हृदय-परिवर्तन के प्रयोग 173
16. निषेधात्मक भाव 184
17. विधेयात्मक भाव 193

18. हृदय परिवर्तन का प्रशिक्षण 204
19. हृदय-परिवर्तन : एक महान उपलब्धि 213
भय-मुक्ति
20. अभयदान 225
21. भय के स्रोत 236
22. भय की परिस्थिति 247
23. भय की प्रतिक्रिया 257
24. रचनात्मक भय 266
25. अभय की मुद्रा 274

कैसे सोचें ?

1. कैसे सोचें? (1)

प्रसिद्ध दार्शनिक देकार्ट ने कहा—'मैं सोचता हूं, इसलिए मैं हूं। मेरे अस्तित्व का प्रमाण है कि मैं सोचता हूं और सोचता हूं इसलिए मैं हूं।'

यदि मुझे कहना पड़े तो मैं इस तर्क की भाषा में कहूंगा—'मैं हूं और विकसित मस्तिष्क वाला प्राणी हूं इसलिए सोचता हूं।'

सोचना मस्तिष्क का लक्षण नहीं है। सोचना एक अभिव्यक्ति है। वह लक्षण नहीं बन सकता। हमारा अस्तित्व और चैतन्य चिंतन से परे है, सोचने से परे है। सोचना ज्योति का एक स्फुलिंग मात्र है, समग्र ज्योति नहीं है। न सोचना यह ज्योति का अखंड रूप है।

दर्शन और चिंतन

ध्यान-साधना द्वारा हम उस स्थिति तक पहुंचना चाहते हैं, जहां सोचने की बात समाप्त हो जाती है, जहां साक्षात्कार संभव हो जाता है। जहां साक्षात् होता है, वहां सोचने की आवश्यकता नहीं रहती। साक्षात् होने पर वस्तु 'हस्तामलकवत्' स्पष्ट हो जाती है। हथेली पर आंवला रखा हुआ है। वह जो कुछ है, उसका हमें साक्षात्कार हो रहा है। उसके विषय में सोचने की आवश्यकता नहीं होती। प्रत्यक्ष में दर्शन होता है, वहां चिंतन नहीं होता और जहां चिंतन होता है, वहां दर्शन नहीं होता।

हम तीन स्थितियों का अनुभव करते हैं जागना, देखना और सोचना। एक आदमी ने पूछा—'आपके नौकर ने अमुक काम किया या नहीं?' मालिक बोला—'मुझे ज्ञात नहीं है। मैं जानकारी करके बताऊंगा।' इस स्थिति में सोचने की बात प्राप्त नहीं होती। जो घटना किसी दूसरे से संबद्ध है, उसके लिए सोचा नहीं जा सकता। वहां चिंतन काम नहीं देता।

एक आदमी ने पूछा—'आपके घर में अमुक वस्तु है?' उसने कहा—'भाई! याद नहीं है, देखकर बताऊंगा।' यहां भी सोचना काम नहीं आएगा।

एक घटना में है 'जानकारी करके बताऊं' और दूसरी घटना में है 'देखकर बताऊंगा।' जहां जानना और देखना होता है, वहां सोचना प्राप्त नहीं होता। जहां ये दोनों जानना और देखना नहीं होते, वहां सोचने की स्थिति आती है। जो परोक्ष है, अस्पष्ट है, जिसके विषय में सहसा कुछ कहा नहीं जा सकता, वहां सोचना होता है, चिंतन करना पड़ता है।

सोचना मस्तिष्कीय चेतना का एक अंग है, इसलिए यह ज्योति का एक स्फुलिंग मात्र है, ज्योति की एकाग्रता नहीं है। जब दर्शन स्पष्ट होता है, प्रत्यक्ष दर्शन की स्थिति प्राप्त हो जाती है तब चिंतन समाप्त हो जाता है।

ध्यान-साधना का लक्ष्य है कि साधक प्रत्यक्ष दर्शन की अवस्था तक पहुंचे, साक्षात्कार की भूमिकाओं को प्राप्त करे। जब साक्षात्कार होता है तब चिंतन नीचे रह जाता है और अखंड ज्ञान ऊपर आ जाता है, किंतु जब तक व्यक्ति शरीर से बंधा हुआ है, मस्तिष्कीय चेतना से जुड़ा है, उसको व्यापृत करता है और जब तक अतीन्द्रिय चेतना जागृत नहीं होती, तब तक चिंतन करना भी आवश्यक होता है। उससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता।

चिंतनमुक्त कौन ?

दो प्रकार के व्यक्ति चिंतन-मुक्त होते हैं। प्रत्यक्षज्ञानी कभी चिंतन नहीं करता। अज्ञानी आदमी कभी चिंतन नहीं करता। प्रत्यक्षज्ञानी को चिंतन करने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि जो कुछ है, वह उसके लिए प्रत्यक्ष है। अज्ञानी या मूर्ख आदमी चिंतन करना जानता ही नहीं, उसमें चिंतन की क्षमता ही नहीं होती।

मालिक ने नौकर से कहा–'वनस्पति घी के दो डिब्बे हैं। बगीचे में जाकर इस घी को कहीं छिपा दो।' नौकर डिब्बे लेकर बगीचे में गया। थोड़े समय बाद आकर बोला–'मालिक! मैंने घी तो बगीचे में छिपा दिया, अब डिब्बे कहां रखूं?' मालिक बोला–'अरे! घी को कहां छिपाया?' नौकर बोला–'मालिक! मैंने वृक्ष के पास एक गड्ढा खोदा, घी उसमें डालकर ऊपर से मिट्टी डाल दी। घी को छिपा दिया। किसी को पता ही नहीं चल पाएगा। अब बताएं, डिब्बे कहां रखूं?'

जो व्यक्ति सोचना जानता ही नहीं, जिसमें चिंतन की क्षमता विकसित ही नहीं है, वह अज्ञानी होता है। वह घी को छिपा सकता है गड्ढा खोदकर, पर खा नहीं सकता। वह घी को छिपा सकता है, पर डिब्बे को छिपाना नहीं जान सकता।

दो प्रकार के व्यक्ति चिंतनशून्य होते हैं प्रत्यक्षज्ञानी और अज्ञानी। यह कैसी विचित्र तुलना! बहुत बार ऐसी विचित्र तुलनाएं होती हैं। मान और अपमान में सम रहने वाले दो ही व्यक्ति होते हैं। या तो वीतराग, इनमें सम रह सकता है या मूर्ख इनमें सम रह सकता है। कहां वीतराग और कहां मूर्ख! वीतराग व्यक्ति में असमानता के बीज नष्ट हो जाते हैं। समभाव उसका प्रखर हो जाता है। मूर्ख में मान और अपमान का विवेक कर सकने की क्षमता ही नहीं होती। वह दोनों में पृथक्करण नहीं कर सकता, इसलिए वह सम रहता है। कैसी विचित्र तुलना! कैसा विचित्र संयोग!

निर्विकल्प अवस्था

हमारी जीवन-यात्रा का एक महत्त्वपूर्ण घटक है चिंतन। एक ओर हम चिंतन की महत्ता स्वीकार करते हैं और दूसरी ओर निर्विकल्प या विचार शून्य अवस्था की प्राप्ति के लिए ध्यान-साधना में संलग्न होते हैं। क्या यह विसंगति या विरोधाभास नहीं है? हम इस बात को न भूलें कि निर्विचार अवस्था या अचिंतन की अवस्था में पहुंचना हमारा लक्ष्य अवश्य है, पर वहां तक पहुंच पाना आज ही संभव नहीं हो सकता। यह मान लेना बहुत बड़ी भ्रांति है कि ध्यान की साधना प्रारंभ करते ही व्यक्ति विचारातीत अवस्था को प्राप्त हो जाता है। ध्यान-काल में विचारों का प्रवाह और तीव्र हो जाता है। जो विचार सामान्य अवस्था में नहीं आते, वे विचार ध्यानकाल में उभर जाते हैं। जैसे ही व्यक्ति ध्यान की मुद्रा में या कायोत्सर्ग की मुद्रा में स्थित होता है, तब उसमें न आने वाले विचार भी आने लग जाते हैं। उस समय विस्मृत तथ्यों की स्मृति उभर जाती है और व्यक्ति विचारों से आक्रांत हो जाता है। इस अवस्था में आदमी आकुल-व्याकुल हो जाता है और वह ध्यान-साधना को छोड़ने की बात सोच लेता है, परंतु उस समय विचारों का आना तो अनिवार्य है, क्योंकि उनके उद्भव का वह एक सुंदर अवसर है। जब आदमी तनाव में होता है तब सब उससे डरते हैं। विचार भी तब आना नहीं चाहते। जब आदमी कायोत्सर्ग की मुद्रा में होता है, शिथिल होकर बैठता है, तब सारे तनाव विसर्जित हो जाते हैं, तब विचार सोचते हैं। चलो, अब यह अच्छा अवसर है। कोई खतरा नहीं है। वे बेधड़क आते ही रहते हैं। जब तक शिथिलीकरण बना रहता है, वे अभय हो जाते हैं। शिथिलीकरण में सबका भय समाप्त हो जाता है। तनाव की स्थिति में भयभीत हो जाते हैं, सब परस्पर खींच जाते हैं। तनाव की स्थिति में मांसपेशियां खींच जाती हैं, हड्डियां कड़ी हो जाती हैं। शिथिलीकरण में कोई आदमी गिरता है तो उसे चोट नहीं लगती और यदि तनाव की स्थिति में कोई

आदमी गिरता है तो उसे बहुत गहरी चोट आती है। जितना अधिक तनाव, उतनी ही अधिक चोट।

ध्यान और चिंतन

ध्यान एक प्रक्रिया है। उसका परिणाम है कि व्यक्ति की पकड़ कम हो जाती है। उसमें प्रवेश का अवकाश है तो निर्गम का भी उतना ही अवकाश है। ध्यान करने वाले सबका स्वागत करते हैं, आने वाले का भी स्वागत करते हैं और जाने वाले का भी स्वागत करते हैं। ध्यान न करने वाले अनेक तथ्यों को ऐसे पकड़ लेते हैं कि वे जीवन भर उन्हें छोड़ नहीं सकते। पकड़ने वाले बहुत दुःखी होते हैं।

ध्यान का प्रारंभ करते ही व्यक्ति विचारों से आक्रांत हो जाता है। ध्यान करने वाले को उस विचार-प्रवाह से घबराना नहीं है। वह ज्ञाता-द्रष्टा बन जाए। जो आते हैं, उन्हें देखे और छोड़ दे। जैसे-जैसे द्रष्टाभाव और ज्ञाताभाव अधिक पुष्ट होता जाएगा, वैसे-वैसे विचारों का प्रवाह मंद और कमजोर होता जाएगा। जैसे-जैसे अनुभूति जागेगी, अनुभव का रस प्रबल होगा, विचार निर्बल होते जाएंगे, किंतु पहले ही दिन सोचा जाए कि विचार आए ही नहीं, यह असंभव बात है। इसलिए ध्यान करने वाले प्रत्येक व्यक्ति को कैसे सोचें, यह सीखना चाहिए। जो व्यक्ति इन कंटीले मार्ग में चलते-चलते इन नुकीले कांटों के बीच में परेशान होना नहीं चाहता, कांटों की चुभन से पीड़ित होना नहीं चाहता और निर्विघ्न रूप से चलना चाहता है, उसके लिए यह बहुत उपयोगी है कि वह 'कैसे सोचता है' इस विज्ञान को सीखे।

हर आदमी सोचता है। कोई भी आदमी ऐसा नहीं मिलता, जो नहीं सोचता हो, पर प्रश्न है कैसे सोचें?

सोचने की कला

'सोचना' एक कला है। हर आदमी इस कला को नहीं जानता। इस कला को कोई-कोई आदमी ही जानता है। जो इस कला को जान लेता है, उसका मार्ग बहुत साफ हो जाता है।

एक फकीर ने चर्चा के प्रसंग में कहा–मैंने हर व्यक्ति से कुछ न कुछ अवश्य ही सीखा है। एक व्यक्ति ने पूछ लिया–आपने चोर से क्या सीखा? फकीर बोला–एक बार मैं चोर के घर ठहरा था। रात के समय चोर चोरी करने जाता। जब वह वापस लौटता तब मैं पूछता, कुछ मिला? वह बोलता–'कुछ नहीं मिला। आज खाली हाथ लौटा हूं, कल मिल जाएगा।' दूसरे, तीसरे दिन

मैं यही पूछता गया। वह कहता–'आज कुछ नहीं मिला, खाली हाथ लौटा हूं। कल कुछ मिल जाएगा।' इस प्रकार पूरा एक महीना बीत गया। एक महीने तक चोर को कुछ नहीं मिला। मैंने सोचा–चोर रोज चोरी करने जाता है। सात-आठ घंटे बिताता है। अपनी नींद का मीठा समय खोता है। चोरी में कुछ नहीं मिलता। पूरा एक महीना नहीं तो कल अवश्य मिलेगा। मैंने सोचा–चोर में इतना धैर्य है कि वह खाली हाथ लौटने पर निराश नहीं हुआ। यह सारा देखकर, मैंने उससे यह सीखा कि भक्ति के मार्ग में कभी निराश नहीं होना है। अच्छा काम करते हुए कभी निराश नहीं होना है।

विचित्र है मनुष्य की प्रकृति। अच्छा काम करने वाला जल्दी निराश हो जाता है और बुरा काम करने वाला निराश नहीं होता। चोर, लुटेरे, डाकू कहां निराश होते हैं?

यह एक तथ्य है, सचाई है। मैंने चिंतन किया और इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि आदमी की जितनी गहरी आस्था बुराई में होती है, उतनी अच्छाई में नहीं होती। अच्छाई में उतनी गहरी आस्था संपादित करने के लिए बहुत साधना की आवश्यकता होती है। जहां आस्था नहीं होती, वहां निराशा हो जाती है। बुराई और आस्था का इतना गहरा संबंध है कि आदमी बुराई के रास्ते पर चलता है और स्वतः उस रास्ते पर उसकी आस्था जमती चली जाती है। बहुत प्रयत्न करने की जरूरत ही नहीं रहती। बिना कुछ साधना किए ही आस्था का अनुबंध हो जाता है। भलाई के रास्ते पर आस्था का जमना, आस्था का अनुबंध होना बहुत कठिन होता है।

हम कैसे सोचें? हमारा सोचने का तरीका क्या हो? इसे जानना इसलिए जरूरी है कि निषेधात्मक दृष्टि से चिंतन करने वाला व्यक्ति हर सचाई को नकारता चला जाता है और विधायक दृष्टि से चिंतन करने वाला व्यक्ति सचाई के पास पहुंच जाता है, सचाई को उपलब्ध हो जाता है और वह अनेक समस्याओं का समाधान पा लेता है।

दृष्टि के प्रकार

चिंतन की दो दृष्टियां हैं–निषेधात्मक दृष्टि और विधायक दृष्टि। आदमी बहुत बार निषेधात्मक दृष्टि से ही सोचता है। वह विधायक दृष्टि से नहीं सोचता। निषेधात्मक दृष्टि से सोचने का परिणाम होता है–निराशा, अनुत्साह, आवेग, कार्य निवृत्ति, कर्त्तव्य से अपसरण। एक शब्द में कहें तो निषेधात्मक दृष्टि का परिणाम है–जीवन में असफलता का उदय।

सफलता का सूत्र

जीवन की सफलता का सबसे महत्त्वपूर्ण सूत्र है–विधायक दृष्टि से सोचना। विधायक दृष्टि से वही व्यक्ति सोच सकता है, जिसने ध्यान का मर्म समझा है, जिसने चित्त को निर्मल करना सीखा है, जिसने मन को एकाग्र करना सीखा है और जिसने राग-द्वेष के मलों को साफ करना सीखा है।

विधायक दृष्टिकोण और निषेधात्मक दृष्टिकोण की कुछ कसौटियां हैं।

पहली कसौटी है समग्रता की दृष्टि और व्यग्रता की दृष्टि। समग्रता की दृष्टि से चिंतन करने वाला व्यक्ति विधायक दृष्टि से सोच सकता है और व्यग्रता की दृष्टि से चिंतन करने वाला एकांगी आग्रह में फंस जाता है और अपने चिंतन को विकृत बना देता है।

जब व्यक्ति के सामने घटना का या वस्तु का पूरा चित्र नहीं होता, अधूरा चित्र होता है, तब उसके आधार पर किया गया चिंतन भी अधूरा ही होगा। वह सही नहीं हो सकता। सम्यक् और संतुलित चिंतन के लिए जरूरी है समग्रता का दृष्टिकोण। जब विधायक या समग्रता का दृष्टिकोण होता है तब अनेक अहेतुक संघर्ष उभर आते हैं।

एक प्रसंग है। कुछ पथिक आम की शीतल छांह के नीचे आकर बैठे। चर्चा चल पड़ी। एक बोला–अभी मैं इस रास्ते से गुजरा हूं। मैंने देखा–एक वृक्ष पर एक जानवर बैठा है। वह लाल रंग का है। तत्काल दूसरा बोल उठा– तुम्हें भ्रम हो गया। मैंने भी उसको देखा है। वह हरे रंग का था। वह बोला– तुम गलत कहते हो। कोई दूसरे वृक्ष पर दूसरा जानवर देखा होगा। मैंने अपनी आंखों से देखा है कि वह लाल रंग का था। उसने कहा–मैं गलत नहीं कह रहा हूं। दूसरा बोला–तुम गलत रहे हो। वह जानवर हरे रंग का ही था। आरोप-प्रत्यारोप चलता रहा। कुछ क्षण बीते। दोनों ने बाहें चढ़ा लीं। लड़ाई प्रारम्भ हो गई। एक समझदार पथिक ने कहा–बेकार क्यों लड़ रहे हो? मैं भी तुम्हारे पीछे-पीछे उसी रास्ते से आ रहा हूं। तुम दोनों सही हो। वह लाल रंग का भी था और हरे रंग का भी था। तुम समग्रता की दृष्टि से सोचोगे तो दोनों सही निकलोगे और व्यग्रता की दृष्टि से सोचोगे तो लड़ते ही रहोगे। देखो, वह जानवर गिरगिट था। जब पहला पथिक उधर से निकला तब उसका रंग लाल था। जब दूसरा पथिक उधर से निकला तब वह हरे रंग में बदल गया। गिरगिट रंग बदलता है। तुम दोनों सही हो।

यह दुनिया गिरगिट रूप है। यहां प्रत्येक पदार्थ की प्रकृति भी गिरगिट की प्रकृति है और आदमी की प्रकृति भी गिरगिट की प्रकृति है। एक आदमी एक दिन में न जाने कितने रूप बदलता है। लगता है कि आदमी स्वयं परमात्मा की प्रतिमूर्ति बन गया है। जिस आदमी को प्रातःकाल के समय बहुत शांत और वीतराग अवस्था में देखा, उसी आदमी को मध्याह्न में इतना अशांत और उत्तेजित होते देखा कि मानो उससे बड़ा राक्षस और दैत्य दूसरा कौन हो सकता है? एक आदमी एक दिन में हजारों-हजारों मुद्राएं बना लेता है। वह अनेक मुद्राओं में जीता है। समुद्र में दिन में एक बार और रात में एक बार ज्वार भाटा आता है, पर आदमी के विचारों में दिन में सैकड़ों ज्वार-भाटे आ जाते हैं। उतार-चढ़ाव निरंतर चलता रहता है। एकरूपता कहां रहती है? अनेकरूपता है व्यग्रता का परिणाम। अनुसंधान आवश्यक है। अनुसंधान का अर्थ है अतीत के पर्याय की और वर्तमान के पर्याय की खोज। जब तक दोनों पर्यायों का जोड़ नहीं होता, आदमी को पहचाना नहीं जा सकता। वस्तु का जानने और पहचानने के लिए आवश्यक है अतीत और वर्तमान के पर्याय का अनुसंधान। यही समग्रता का दृष्टिकोण है। समग्रता के दृष्टिकोण में संघर्ष और विवाद की संभावनाएं बहुत कम हो जाती हैं। आदमी जब-जब व्यग्रता की दृष्टि से सोचता है, एकांगी बात को पकड़ कर सोचता है, एकांगी आग्रह में फंसता है तब-तब लड़ाई और संघर्ष को निमंत्रण देता है।

दृष्टिकोण की समग्रता

चिंतन का स्वस्थ दृष्टिकोण है विधायक दृष्टिकोण, समग्रता का दृष्टिकोण।

सम्राट श्रेणिक की महारानी चेलना सो रही थी। सर्दी का मौसम। भयंकर सर्दी। सोते-सोते अचानक रानी के मुंह से ये शब्द निकल पड़े 'वह क्या करता होगा?' सम्राट जाग रहा था। उसने सुना। इन शब्दों ने उसके रोम-रोम में आग लगा दी। महारानी चेलना के चरित्र पर उसे गर्व था। उसने सोचा—जिस रानी पर मैं इतना अधिक विश्वास करता हूं, वह नींद में बड़बड़ा रही है 'वह क्या करता होगा?' हो न हो, यह किसी अन्य में आसक्त है। राजा का मन अत्यंत संतप्त हो गया। उसके मन में रानी के प्रति अविश्वास उत्पन्न हो गया, घृणा पैदा हो गई।

प्रातःकाल हुआ। सम्राट अत्यंत खिन्न और उदासीन था। उसने अपने महामात्य अभयकुमार को बुलाकर कहा 'मैं भगवान महावीर को वंदन करने जा रहा हूं। तुम इस महल को जला देना, विलंब मत करना।'

सम्राट का यह आदेश सुनकर अभयकुमार अवाक् रह गया। उसने सोचा– अंतःपुर को जला देना, महारानी चेलना को किसी भी पूर्व सूचना के जलाकर खाक कर देना, यह कैसा आदेश! एक ओर सम्राट श्रेणिक, अपने पिता का आदेश है और दूसरी ओर महारानी चेलना, अपनी माता को अपने ही हाथों जीवित जला देने का जघन्यतम अपराध। वह जानता था कि सम्राट के आदेश का उल्लंघन क्या-क्या परिणाम ला सकता है। वह असमंजस में पड़ गया।

सम्राट श्रेणिक महावीर के समवसरण में पहुंचा। वंदना की। सतियों का प्रसंग चल रहा था। महावीर ने सहसा कहा–'महारानी चेलना सतियों में अग्रणी है। वह धर्मनिष्ठ और सत्यनिष्ठ है।' सम्राट ने सुना। उसे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। उसने महावीर से पूछा–'भंते! एक उलझन है। आप कह रहे हैं, महारानी चेलना महासती है। कल रात को सोते-सोते उसके मुंह से ये शब्द निकले 'वह क्या करता होगा?' क्या ये शब्द सतीत्व के प्रतीक हैं या उसके विपरीत?

भगवान बोले– 'तू नहीं जानता, इन शब्दों का क्या तात्पर्य है। कल महारानी चेलना वंदना करने आई थी। वंदना कर वह जिस मार्ग से महलों में जा रही थी, बीच में वृक्ष के नीचे एक जैन मुनि ध्यान कर खड़े थे। वे निर्वस्त्र थे। भयंकर सर्दी थी। रानी वहां रुकी नहीं। वंदना कर चली गई। रात को वह सो रही थी। एक हाथ कंबल से बाहर रह गया। सर्दी के कारण वह जड़ हो गया, ठिठुर गया। वह मृतवत हो गया। रानी ने हाथ उठाना चाहा, पर उठा नहीं। रानी ने सोचा– ओह! हाथ थोड़े समय के लिए सर्दी में रह गया, उसकी यह दशा हो गई। वह मृतवत हो गया, जड़ हो गया। धन्य हैं वे मुनि, जो निर्वस्त्र होकर खुले में ध्यान करते हैं। वह बेचारा मुनि इस भयंकर सर्दी में क्या करता होगा?'

सम्राट ने सुना। वह स्तंभित रह गया। वह वहां से चला। उसने सोचा– मेरे आदेश के अनुसार यदि अंतःपुर जला दिया है तो महान अनर्थ घटित हो जाएगा। उसकी गति में तीव्रता थी। रास्ते में अभय कुमार मिला। सम्राट ने पूछा–क्या आदेश का पालन कर दिया? 'हां महाराज! आपके आदेश के प्रति मैं लापरवाही कैसे बरत सकता था?'

सम्राट ने कहा–अभयकुमार! अनर्थ कर डाला।

अभयकुमार ने पूछा–कैसे?

सम्राट ने सारी बात बताई।

अभयकुमार बोला–महाराज! आप चिंता न करें। मैंने आग लगाई है, क्योंकि आपका आदेश था, किंतु उस आग को महल तक पहुंचने में पूरा दिन लगेगा।

एक व्यग्र चिंतन के कारण कितनी बड़ी दुर्घटना घटित हो सकती है और आदमी कितना बड़ा अनर्थ कर सकता है, इस घटना से यह जाना जा सकता है। न जाने कितने सांप्रदायिक सामाजिक विवाद इस व्यग्र दृष्टिकोण के कारण होते हैं, पत्नी एक बात कहती है, पति उसे समग्रता से नहीं सुन पाता। उस अधूरी बात से घर में महाभारत हो जाता है। भयानक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। वह कहता है, मैंने अपने कानों से सुना। 'अरे, तुम्हारे कान कौन से भगवान के कान आ गए?' मैंने अपनी आंखों से देखा है। 'अरे, तुम्हारी आंखें कौन सी भगवान की आंखें आ गईं।' आदमी के कान और आंखें कितना धोखा देती हैं, यह किसी से छुपा हुआ नहीं है। अधूरी बात के आधार पर आदमी क्या-क्या नहीं कर लेता। व्यग्रता और आवेशशीलता के कारण बड़े-बड़े अनर्थ घटित होते हैं।

सम्यक् और संतुलित चिंतन के लिए, विधायक दृष्टि के लिए सबसे पहली बात है, समग्रता के दृष्टिकोण का विकास। व्यक्ति को चाहिए कि वह कभी व्यग्रता की दृष्टि से न सोचे और पूरी जानकारी के बिना निर्णय न ले।

एक बार चीन में सैनिकों की अनिवार्य भर्ती हो रही थी। एक व्यक्ति ने आकर माओत्से तुंग से कहा–'तुम्हारी टांग टूट गई है। अच्छा हुआ। तुम अनिवार्य सैनिक भर्ती से बच गए।' माओत्से तुंग ने कहा–'तुम कह सकते हो कि अच्छा हुआ। मैं यह नहीं कह सकता, क्योंकि पूरा चित्र मेरे सामने नहीं है। मैं नहीं कह सकता कि अच्छा हुआ या बुरा हुआ।'

जब पूरा चित्र सामने होता है तब कहा जा सकता है कि अच्छा हुआ या बुरा हुआ। अधूरे चित्र के आधार पर निर्णय नहीं लिया जा सकता। आदमी जब अधूरे विचारों, अधूरे विकल्पों और अधूरी भावनाओं के आधार पर निर्णय लेता है तब संघर्ष और युद्ध पैदा होते हैं। आवश्यकता है कि आदमी में समग्रता के दृष्टिकोण का विकास हो।

विधायक दृष्टिकोण की लंबी समीक्षा है। उसका पहला सूत्र है समग्रता की दृष्टि का विकास। जब यह पहला सूत्र जीवन में क्रियान्वित होता है तब विधायक दृष्टिकोण का विकास होने लग जाता है।

2. कैसे सोचें? (2)

गर्मी का मौसम। जेठ की दुपहरी। चिलचिलाती धूप। इस गर्मी में आदमी का दिमाग भी गर्मा जाता है। दिमाग ठंडा होता है तो चिंतन में सुविधा होती है। दिमाग गर्म होता है तो चिंतन में असुविधा होती है। असुविधा ही नहीं, अनेक कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं, आदमी न जाने क्या-क्या कर बैठता है। स्वास्थ्य का एक लक्षण है– पैर गर्म रहें और दिमाग ठंडा रहे, पर उल्टा हो जाता है। पैर ठंडे हो जाते हैं और दिमाग गर्म हो जाता है। वह विचित्र स्थिति है। यदि दिमाग ठंडा रहता है तो आदमी लंबे समय तक जी सकता है, शांति और आनंद के साथ जी सकता है। दीर्घ-श्वास का एक सूत्र है दिमाग को ठंडा रखना।

शीतलीकरण

आज के वैज्ञानिक एक नई विधि का विकास कर रहे हैं, जिससे आदमी पांच सौ वर्षों तक या हजार वर्षों तक जी सके। यह विधि है शीतलीकरण की। आदमी को ठंड में जमा दिया जाय। दस वर्ष तक वह ठंड में जमा रहे। दस वर्ष बाद उसे गरमाया जाए और वह जी उठेगा। यदि बार-बार इस शीतलीकरण की प्रक्रिया को दोहराया जाए तो वह पांच सौ वर्ष भी जी सकता है और हजार वर्ष भी जी सकता है। वैज्ञानिकों ने चींटियों को ठंड में जमा दिया। सब चींटियां मृतवत हो गईं। दस मिनट बाद उन्हें गरमाया गया। वे पुनः जी उठीं। उनमें हलन-चलन प्रारंभ हो गया। हम बहुत बार देखते हैं, मक्खियां और चींटियां जब बहुत ठंडे पानी में गिर जाती हैं, तब वे मृत जैसी हो जाती हैं, फिर जब उन्हें भाप से गरमाया जाता है या धूप में रखा जाता है तो वे पुनः जीवित हो उठती हैं।

मनुष्य का कायाकल्प किया जा सकता शीतलीकरण के द्वारा, पूरे शरीर को ठंडा करके। यदि बीमार को ठंडा किया जा सके तो वह बहुत लंबा जी सकता है। एक बात और है। पूरे शरीर को ठंडा न भी किया जा सके, पर यदि दिमाग ठंडा रह सके तो आदमी लंबा जी सकता है। जितनी अकाल-मृत्यु

होती है, छोटी आयु में मौत होती है, उसका एक कारण यह है कि व्यक्ति का दिमाग बार-बार गर्म हो जाता है, आग बार-बार जल उठती है, आंच इतनी गहरी हो जाती है कि कोशिकाएं जल्दी नष्ट होने लग जाती हैं।

हमारे जीवन का आधार है मस्तिष्क की कोशिकाएं। जब तक कोशिकाएं जीवित रहती हैं, सक्रिय रहती हैं तो हृदय गति बंद हो जाने पर भी आदमी मरता नहीं। हृदय की गति बंद है, श्वास की गति बंद है, किंतु यदि मस्तिष्क की कोशिकाएं जीवित हैं तो आदमी मरेगा नहीं, फिर जी जाएगा। कई बार ऐसा देखा गया है कि डाक्टर जिस व्यक्ति को मृत घोषित कर देता है, वह व्यक्ति कुछ समय बाद जी उठता है। कभी-कभी वे व्यक्ति भी जी जाते हैं, जिनकी अर्थी निकल चुकी है, जो श्मशानघाट पहुंच चुके हैं, जिनको चिता पर लेटा दिया गया है, चारों ओर लकड़ियां चिन दी गई हैं, पर अचानक हलचल होती है, लकड़ियां इधर-उधर बिखर जाती है और वह व्यक्ति अंगड़ाई लेते हुए उठ-बैठता है। लोग उसे भूत समझ लेते हैं, पर यथार्थ में वह मरा ही नहीं था। वह जीवित था। डाक्टर ने घोषित कर दिया और हमने मान लिया, पर वास्तव में उसका मस्तिष्क सक्रिय था, मस्तिष्क मरा नहीं था और जब तक मस्तिष्क नहीं मरता, आदमी नहीं मरता, फिर चाहे हार्ट बंद हो जाए, नाड़ी बंद हो जाए।

मस्तिष्क की स्वस्थता

हमारे जीवन का मूल आधार है मस्तिष्क। वह मस्तिष्क जितना ठंडा रहता है, उतना ही जीवन अच्छा रहता है और उतना ही चिंतन स्वस्थ होता है। स्वस्थ चिंतन के लिए, विधायक और संतुलित चिंतन के लिए मस्तिष्क का ठंडा होना बहुत जरूरी है। इस दृष्टि से चिंतन का दूसरा मानदंड होगा कि चिंतन आवेश की स्थिति में किया जा रहा है या अनावेश की स्थिति में किया जा रहा है? आवेश चिंतन का दोष है। आवेश आया, चिंतन शुरू किया, चिंतन तो हो सकता है, पर चिंतन स्वस्थ नहीं होगा, सही नहीं होगा, संतुलित और विधायक नहीं होगा। विधायक चिंतन तभी हो सकता है जब आवेश की स्थिति न हो। चिंतन का आधार तथ्य होना चाहिए। तथ्यों के आधार पर जो चिंतन होता है, वह चिंतन उपयोगी तथा जहां तथ्य गौण और आवेश मुख्य हो जाता है वहां चिंतन कार्यकारी नहीं होता है। जो व्यक्ति ध्यान का अभ्यासी नहीं होता, जिसका मन पर अधिकार नहीं होता, जिसका मन शांत और संतुलित

नहीं होता, वह व्यक्ति तात्कालिक चिंतन करता है, आवेशपूर्ण चिंतन करता है। उसका चिंतन कभी सही नहीं होता।

एक राजनेता के पास आकर मित्र ने कहा—'अमुक-अमुक व्यक्ति आपको गालियां बक रहा था।' राजनेता ने सुना, आगबबूला हो गया, बोला—पहले मुझे चुनाव जीत लेने दो, मंत्री बन जाने दो, फिर मैं बता दूंगा कि गाली देने का परिणाम क्या होता है?

यह आवेशपूर्ण चिंतन का परिणाम है। उसे जानना चाहिए था कि अमुक आदमी ने गालियां दीं या नहीं। एक बात हुई, आवेश जागा और आवेश ही चिंतन बन गया। यह भयंकर अवस्था है। क्रोध का आवेश और अहंकार का आवेश कितना भयंकर होता है, यह अज्ञात नहीं है। इसके दुष्परिणामों से हम अवगत हैं। नौकर बात नहीं मानता, तत्काल अहंकार का आवेश आ जाता है और उस आवेश में क्या-क्या नहीं कर दिया जाता? गालियां बोली जाती हैं, नौकर को पीट दिया जाता है, उसे नौकरी से निकाल दिया जाता है। यह सारा अहंकार के आवेश के कारण होता है। क्या यह जरूरी है, हर आदमी हर आदमी का आदेश माने? कोई जरूरी नहीं है। मानना अच्छा होता है, पर कभी-कभी न मानना उससे भी अच्छा होता है। मालिक सोचता है तो क्या नौकर नहीं सोचता?

मालिक ने नौकर से कहा—'जाओ, बगीचे में पानी सींच आओ।' नौकर बोला—'मालिक! बाहर मूसलाधार वर्षा बरस रही है। पानी सींचने से क्या?' मालिक बोला—'मूर्ख हो तुम। वर्षा बरस रही है तो छाता ले जाओ और पानी सींच आओ।' नौकर अब क्या करे? कहने वाला मालिक इतना भी नहीं सोचता कि मूसलाधार वर्षा हो रही है, पौधों को पानी सींचने का अर्थ ही क्या हो सकता है? नौकर इस आदेश को माने तो क्यों?

चेतना की निर्मलता

आदेश देने वाले सभी बहुत समझदार होते हैं और बहुत विवेकपूर्ण आदेश देते हैं, ऐसा तो नहीं है। बहुत बार ऐसे आदेश दे दिए जाते हैं कि उन्हें मान लेने पर अनर्थ हो सकता है, किंतु न मानने पर मालिक का क्रोध और आवेश तैयार रहता है। उसके परिणाम भी भुगतने पड़ते हैं। आवेश के कारण चिंतन की दिशाएं विकृत बन जाती हैं। आदमी एक दूसरे को समझ नहीं पाता। पति-पत्नी, भाई-भाई, नौकर-स्वामी के संबंधों में जो दूरी आती है, उसमें

आवेश का मुख्य हाथ रहता है। जब आवेश का परदा बीच में होता है तब आदमी दूसरे आदमी को समझ नहीं पाता, देख नहीं पाता। उसे आवेश ही दिखता है। सामने वाला व्यक्ति वैसा ही दिखेगा जैसा प्रतिबिंब आवेश के साथ जुड़ा हुआ है। आवेश चिंतन को कभी सम्यक् नहीं होने देता। इसलिए संतुलित चिंतन का मानदंड बनता है अनावेश अवस्था का अभ्यास। यह कैसे हो सकता है? क्या क्रोध और अहंकार को कम किया जा सकता है? लोग इस भाषा में नहीं सोचते कि अहंकार को मिटाया जा सकता है या कम किया जा सकता है? वे इस भाषा में सोचते हैं कि क्रोध स्वभाव है, वह मिटने वाला नहीं है। अहंकार मनुष्य का स्वभाव है, वह मिटने वाला नहीं है। आदमी बदलता नहीं। ये मिटते नहीं। आदमी नहीं बदलता, इसको मान लेने पर बदलने का प्रश्न ही नहीं उठता। ध्यान का अभ्यासी व्यक्ति सबसे पहले इस मिथ्या धारणा को तोड़ता है। जो इस धारणा को नहीं तोड़ता, वह ध्यान का अच्छा अभ्यासी नहीं हो सकता। ध्यान का अभ्यास करने वाले को पहला पाठ पढ़ना होगा कि आदमी बदल सकता है, उसका स्वभाव बदल सकता है। यदि आदमी न बदले, स्वभाव न बदले तो ध्यान को ही बदल देना चाहिए, छोड़ देना चाहिए, फिर ध्यान का कोई प्रयोजन नहीं, कोई सार्थकता नहीं। ध्यान की सार्थकता तो यही है कि चित्त इतना एकाग्र और निर्मल बन जाए कि उसमें जो बुरे स्वभाव के परमाणु जमे हुए हैं, वे सारे के सारे धुलकर बह जाएं। चित्त निर्मल हो जाए। जब चित्त साफ हो जाता है, फिर आदतें कहां टिकती हैं? सारी आदतें चित्त की कलुषता में टिकती हैं। कलुषता की इतनी चिकनाहट चित्त पर जमी हुई है कि जो भी आता है, वह वहां चिपक जाता है। सारी आदतों और स्वभावों को आधार देने वाला है चित्त, चेतना।

एक प्रश्न आता है, आत्मा निर्मल होती है, चेतना निर्मल होती है, फिर कर्म उस पर कैसे चिपक जाते हैं।

निर्मल कौनः चेतन या अचेतन

लोग आरोपण की भाषा बहुत जानते हैं। जो नहीं है, उसे आरोपित कर लेते हैं। चेतना निर्मल हो सकती है, होगी, पर वर्तमान में वह निर्मल नहीं है। जो वर्तमान में है, उसको उसी पर्याय में देखा जाए। भविष्य के पर्याय का वर्तमान में आरोपण न हो और अतीत के पर्याय का भविष्य में आरोपण न हो। आरोपण से अनेक कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती हैं। सोना जो आंच में तपा, वह निर्मल हो

गया, पीला हो गया, चमकदार बन गया, पर खदान से निकलते सोने को देखकर यह कल्पना नहीं की जा सकती कि सोना इतना चमकदार होता है। उस समय वह केवल मिट्टी का ढेला होता है। कच्चे सोने में और पक्के सोने में बहुत अंतर होता है। आग में निकलने वाले सोने की चमक और मिट्टी के साथ मिले हुए सोने की चमक की तुलना ही क्या? सारे मलों के दूर हो जाने के पश्चात् जो चमक आती है, वह निराली होती है। इसी प्रकार साधना की भट्टी में पक जाने के बाद चेतना में जो निर्मलता आती है, उस निर्मलता की कल्पना कषाय-मलिन, विषय और वासना से लिप्त चेतना में नहीं की जा सकती। वर्तमान में हमारी चेतना कषायों से लिप्त है। क्रोध, अहंकार, कपट, छलना, प्रवंचना, लालच, घृणा, भय, ईर्ष्या, राग और द्वेष, प्रियता और अप्रियता के संवेदन–इन सबसे जुड़ी हुई चेतना निर्मल कैसे हो सकती है? इन सबको टिकाए हुए कौन है? अचेतन में कभी क्रोध नहीं होता। क्या दीवार कभी गुस्सा करती है? यदि ये दीवारें गुस्सा करने लग जाएं तो आदमी की ऐसी स्थिति होगी कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकेगी। पट्ट, जिस पर हम बैठते हैं, वह कभी गुस्सा नहीं करता। उस पर हम पैर रखते हैं, पर वह कुछ नहीं कहता। किसी के सिर पर पैर रख कर देखें। छूते ही आदमी बड़बड़ाने लग जाता है, उसका पारा चढ़ जाता है, पर बेचारा पट्ट न कभी क्रोध करता है और न कभी अहंकार करता है। किसी आदमी के सिर पर पैर रखें, अहंकार का सर्प फुफकार उठेगा।

अचेतन में न क्रोध होता है, न अहंकार होता है और न छलना-प्रवंचना होती है। आदमी आदमी को ठग लेता है, चेतन चेतन को ठग लेता है, पर कभी जड़ ने किसी चेतन को ठगा हो, ऐसा देखने-सुनने में नहीं आया। ये सारी प्रवंचनाएं, सारी ठगाइयां आदमी ने ही पैदा की हैं और आदमी ही इन्हें करता चला जा रहा है। दूसरे शब्दों में, चेतन ने पैदा की है और चेतन ही करता चला जा रहा है। इसका निष्कर्ष है कि सारी बुराइयों को चेतन ही टिकाए हुए है। अचेतन में कोई बुराई नहीं होती। अचेतन में तो जो होता है, वह होता है। न अच्छाई होती है और न बुराई होती है। चेतन ही सब टिकाए हुए है, पर कब तक-यह प्रश्न है। जब तक चेतन अपने चेतनस्वरूप का अनुभव नहीं करता, तब तक ये दोष टिके हुए रहते हैं।

परिवर्तन का सूत्र

ध्यान चेतन-स्वरूप के अनुभव की प्रक्रिया है। ध्यान अपने स्वरूप के जागरण की प्रक्रिया है। जब तक स्वरूप की विस्मृति बनी रहती है, तब तक

ये सारे दोष चेतन में टिके रहते हैं। उनको आधार और सहारा मिलता रहता है। इतना वातानुकूलित स्थान मिल गया है उनको, कि वहां न सर्दी का भय है और न गर्मी का भय है। जितने पाप हैं, दोष हैं, बुराइयां हैं, ये सारे चेतन के आधार को पाकर मजे से जी रहे हैं, पनप रहे हैं। जिनको आधार प्राप्त है, वे आराम से जी रहे हैं और जो आधार देने वाला है, वह बुरे हाल में जी रहा है। बड़ी विचित्र स्थिति है। ऐसा होता है। मकान मालिक दुःख पाता है और किरायेदार सुख से जीता है। किरायेदार से मकान खाली करा पाना सहज नहीं है। इन दोषों से चेतना को मुक्त कर पाना सहज-सरल नहीं है।

इस अर्थ में लोगों की धारणा एकदम गलत नहीं है कि स्वभाव को बदला नहीं जा सकता। असंख्य काल से जो संस्कार चेतन पर अधिकार किए बैठे हैं, उन्हें सरलता से उखाड़ा नहीं जा सकता, किंतु ध्यान एक ऐसी प्रक्रिया है जिससे चेतना पर आई हुई चिकनाहट को धीरे-धीरे साफ किया जा सकता है। और जब चिकनाहट धुलती है तब उस पर चिपके रहने वाले तत्त्व भी धुलते जाते हैं। किरायेदार को कानून की ओर से कुछेक अधिकार प्राप्त है। उससे मकान खाली नहीं कराया जा सकता। पर जब मकान जर्जर हो जाता है, मूसलाधार वर्षा होती है, तूफान आता है तो वह मकान ढह जाता है। उस स्थिति में सारे किरायेदार बोरिया-बिस्तर समेट कर अन्यत्र चले जाते हैं। मकान अपने आप खाली हो जाता है। ध्यान एक ऐसी मूसलाधार वर्षा है, ऐसा तूफान है कि मकान को खंडहर बना देता है और तब सारे किरायेदार दोष निकल भागते हैं। यह है बदलने की प्रक्रिया। सब कुछ बदल जाता है।

इस दुनिया में कुछ परिवर्तनीय है और कुछ अपरिवर्तनीय। जो अपरिवर्तनीय है, जो ध्रौव्यांश है, उसे नहीं बदला जा सकता, किंतु जो पर्याय हैं, उन्हें बदला जा सकता है। कोई भी पर्याय अपरिवर्तनीय नहीं होता। क्रोध की अवस्था एक पर्याय है, मान और अहंकार की अवस्था एक पर्याय है, लोभ की अवस्था एक पर्याय है, प्रियता और अप्रियता की अवस्था एक पर्याय है। ऐसे हजारों पर्याय हैं। वे कभी अपरिवर्तनीय नहीं होते। उन्हें बदला जा सकता है। सारे संबंध और सभी कर्म पर्याय हैं। उन्हें बदला जा सकता है। मूल तत्त्व को नहीं बदला जा सकता। मूल तत्त्व दो ही हैं चेतन और अचेतन। ये नहीं बदले जा सकते। चेतन अचेतन में या अचेतन चेतन में नहीं बदला जा सकता। पर्याय बदले जा सकते हैं। जब यह तथ्य जान लिया जाता है तब सारे संबंध-विजातीय भाव टूटने लग

जाते हैं। उस स्थिति में यह स्पष्ट अनुभव होने लगता है कि ध्यान विसंबंध की प्रक्रिया है। ध्यान करने वाले व्यक्ति की चेतना संबंधातीत होने लग जाती है। यह व्यवहार में कुछ अटपटी-सी बात लगती है, पर यह होता है। उस व्यक्ति का सारा रस बदल जाता है, मर जाता है। जब वह परम रस में मग्न हो जाता है, तब ये नीचे के रस तुच्छ हो जाते हैं, रसहीन हो जाते हैं। पदार्थ में रसानुभूति तब तक ही होती है, जब तक रसातीत अवस्था का अनुभव नहीं हो जाता। ध्यान से संबंधातीत अवस्था का उदय होता है और तब सब कुछ विसंबंधित हो जाता है। पदार्थ पदार्थ मात्र रह जाता है और चेतना चेतना मात्र रह जाती है। पदार्थ को चेतना के साथ जोड़ने वाला सूत्र है आसक्ति। वह ध्यान की प्रक्रिया से कट जाता है, तब पदार्थ उपयोगिता मात्र रह जाता है। जीना है तो श्वास लेना ही होगा, भोजन और पानी का उपयोग करना ही होगा। जीना है तो कपड़े और मकान का उपयोग करना ही होगा। इन सब से उपयोगिता की दृष्टि बनी रहती है, मूर्च्छा या आसक्ति टूट जाती है, यह एक नई स्थिति का निर्माण है।

ध्यान के द्वारा चिंतन में सृजनात्मक शक्ति का विकास होता है। उसका साधन बनता है अनावेश। यह है आवेश का अभाव। चिंतन का एक दोष है संदेह! आदमी संदेह बहुत करता है। वह खतरा उठाता है इसलिए संदेह करता है। एक कहावत है दूध से जला छाछ को भी फूंक-फूंक कर पीता है। इसमें सचाई है। आदमी जब ठगा जाता है, तब हर बात में संदेह करने लग जाता है। यदि प्रवंचना के तत्त्व समाज में नहीं होते तो आदमी में संदेह पैदा नहीं होता। प्रवंचना के तत्त्व हैं, इसलिए संदेह होने लगा।

प्रवंचनाः संदेह

एक व्यापारी बाहर से माल लेकर आया। रास्ते में चुंगी की चौकी थी। वह आंख चुराकर चला गया। चुंगी के अधिकारी को पता लग गया। अब वह अधिक सतर्क रहने लगा। इससे पहले चुंगी चुराने का प्रसंग नहीं आया था, इसलिए अधिकारी विश्वस्त रहते थे। स्वयं व्यापारी आकर उनको बता जाता, चुंगी दे जाता। अब एक आदमी ने प्रवंचना की और अधिकारी सारे व्यापारियों की तलाशी लेने लग गए। पहले तलाशी नहीं ली जाती थी, क्योंकि प्रवंचना का तत्त्व उभरा नहीं था, कोई प्रवंचना नहीं करता था। एक ने प्रवंचना की और सबको परिणाम भुगतना पड़ा।

प्रवंचना संशय को पैदा करती है। प्रवंचना के बिना संदेह उत्पन्न ही

नहीं होता। आज सामाजिक वातावरण ही ऐसा बन गया है कि हर आदमी विश्वसनीय बात में भी अविश्वास करता है। वह किसी का भरोसा नहीं करता। बेटा बाप का भरोसा नहीं करता और बाप बेटे का भरोसा नहीं करता। नेपोलियन ने एक बार कहा था मेरे शब्दकोश में 'असंभव' जैसा शब्द ही नहीं है, वैसे ही आज के शब्दकोशों से 'विश्वास' जैसे शब्द को निकाल देना चाहिए। सर्वत्र संशय ही संशय। संशय के बिना कोई बात ही नहीं होती। चिंतन का एक दोष है संशय। जब आदमी संशय के आधार पर चिंतन करता है तब चिंतन विधायक नहीं होता, त्रुटि रहित नहीं होता। वह कभी भी संतुलित चिंतन नहीं हो सकता।

आस्था

जीवन में आस्था का स्थान बहुत ऊंचा है। जिस जीवन में आस्था नहीं होती, वह जीवन आधारशून्य होता है। उस जीवन में सफलता का वरण नहीं हो सकता। आस्था के तीन आधार स्तंभ हैं क्षमता, कर्तृत्व और सार्वभौम नियमों का ज्ञान।

पहला तत्त्व है क्षमता। प्रत्येक व्यक्ति को यह विश्वास होना चाहिए कि उसमें असीम क्षमता है।

दूसरा तत्त्व है कर्तृत्व। हर आदमी में यह भरोसा होना चाहिए कि वह उस कार्य को कर सकता है। उसमें कर्तृत्व शक्ति है।

तीसरा तत्त्व है सार्वभौम नियमों का ज्ञान। शक्ति के सार्वभौम नियमों का ज्ञान और उन पर विश्वास होना चाहिए।

आस्था का अर्थ किसी अन्य पर भरोसा करना नहीं होता। उसका अर्थ है अपने आप पर भरोसा करना। कोई किसी पर भरोसा नहीं करता। सब स्वयं पर भरोसा करते हैं। जब आदमी में अपनी क्षमता पर विश्वास, अपने कर्तृत्व पर विश्वास और सार्वभौम नियमों पर विश्वास होता है, तब वह पूर्ण आस्थावान बनता है। हम जानते हैं कि हमारे में असीम शक्ति है, अनंत शक्ति है। हम यह भी जानते हैं कि यदि आदमी सम्यक् पुरुषार्थ करता है तो असंभव लगने वाला काम भी संभव बन जाता है। व्यक्ति का पुरुषार्थ और प्रयत्न फलवान होते हैं। कर्तृत्व की भी एक सीमा है। इस दृष्टि से आदमी को सार्वभौम नियम भी जान लेने चाहिए। यदि कोई आदमी इस दिशा में प्रयत्न और पुरुषार्थ करे

कि मनुष्य मरे ही नहीं, उसे मौत आए ही नहीं तो यह सार्वभौम नियम को न जानने का परिणाम होगा। कोई यह कह सकता है, मैं संकल्प शक्ति का प्रयोग करूंगा, इच्छाशक्ति और एकाग्रता की शक्ति का प्रयोग करूंगा, ध्यान का प्रयोग करूंगा और फिर यह घोषणा करूंगा कि मैं कभी नहीं मरूंगा, पर ऐसा होगा नहीं। संकल्पशक्ति और इच्छाशक्ति धरी रह जाएगी। एक दिन आएगा, आदमी मर जाएगा। क्यों! क्योंकि उसने सत्य को समझा ही नहीं। मृत्यु सार्वभौम नियम है। कोई भी इसका अपवाद नहीं हो सकता।

परिवर्तन है सार्वभौम

यह भी एक सार्वभौम नियम है कि बिना बदले इस दुनिया में कुछ भी नहीं रह सकता। जिसने एक आकार लिया है, उसे दूसरा आकार लेना ही पड़ेगा। जिसने एक परिणमन किया है, उसे दूसरा परिणमन करना ही पड़ेगा। बदलने और परिणत होने की सीमा हो सकती है, कल की अवधि हो सकती है। यह अवधि दस वर्ष की हो सकती है, हजार और लाख वर्ष की हो सकती है, असंख्य काल की हो सकती है, पर यह अटल नियम है कि बदलना ही पड़ेगा। हम एक परमाणु को लें। वह आज काले रंग का है। एक निश्चित अवधि के बाद उसे अपना रंग बदलना ही होगा। रंग स्वतः बदल जाता है। बदलने वाला दूसरा कोई नहीं है। यह एक सार्वभौम नियम है। यह एक ऐसी नियति है कि जिसे कभी टाला नहीं जा सकता। जो एक रंग में अभिव्यक्त हुआ है, उसे दूसरा रंग भी लेना होगा। एक स्पर्श में आया है, उसे दूसरा स्पर्श भी लेना होगा। जितने पर्याय हैं, वे सारे बदलते हैं। उन पर्यायों को बदलने से नहीं रोका जा सकता। उन्हें कभी शाश्वत नहीं बनाया जा सकता। जन्म एक पर्याय है। मृत्यु भी एक पर्याय है। जिसने जन्म लिया है, उसे मरना ही पड़ेगा।

हठयोग के ग्रंथों में अनेक स्थलों पर यह उल्लेख मिलता है कि अमुक द्रव्य का प्रयोग करो, अमर हो जाओगे। आयुर्वेद के ग्रंथ भी इस बात का उल्लेख करते हैं कि अमुक रसायन का प्रयोग करो, अजर-अमर बन जाओगे। संभव है व्यक्ति अजर तो बन जाए, पर अमर नहीं बन सकता। यह आवश्यक नहीं है कि हर आदमी बूढ़ा होकर ही मरे। आदमी जवानी में भी मर सकता है और जवानी को लंबे समय तक टिकाए भी रख सकता है। अजर रहने की बात समझ में आ जाती है, पर अमर वाली बात समझ में नहीं आती। अमर तो कोई होता ही नहीं। यह भ्रम पैदा हो गया कि ग्रंथों में अमर होने की बात

लिखी पड़ी है, प्रयोग लिखे पड़े हैं। मृत्यु अवश्यंभावी घटना है। अमर नहीं हो सकते। कुछेक लोग ऐसी घोषणा भी कर देते हैं कि मैं नहीं मरूंगा। मैंने साधना के द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली है। बड़ी मूर्च्छा हो जाती है। लिखने वालों ने लिखा होगा किसी अपेक्षा से। उनकी अपेक्षा यह रही होगी कि अजर-अमर हो जाएगा अर्थात् अकाल मौत नहीं मरेगा। यह अपेक्षा विस्मृत हो गई और यह बात पकड़ ली गई कि आदमी अमर हो जाएगा। यह बहुत बड़ी समस्या पैदा हो गई।

संशय क्यों?

संशय का अर्थ है संभावना की अस्वीकृति। संशय करने वाला व्यक्ति संभावना को सर्वथा अस्वीकार कर देता है। हम आस्था का निर्माण करें और संभावना को स्वीकार करें। आस्था से संभावना का स्वीकार होता है। चिंतन की त्रुटि कहां होती है, इसे हम समझें। कोई नई बात सामने आती है और आदमी तत्काल कह देता है, ऐसा कभी संभव नहीं होगा।

आज वायुयान आकाश में हजारों फुट ऊंचे उड़ता है। इसमें किसी को संदेह नहीं है। सब लोग जानते हैं, किंतु पहले की बात है। एक अमेरिकन पादरी से एक कॉलेज के प्रिंसिपल ने कहा 'यह असंभव बात है। ऐसा हो ही नहीं सकता।' नियति की बात है कि उसी पादरी के दो लड़कों ने पैंतीस वर्ष पश्चात् पहली बार आकाश में उड़ान भरी।

संभावनाओं को अस्वीकार करना सबसे बड़ी त्रुटि है।

कई बार पत्रों में पढ़ते हैं, वैज्ञानिक जीन का निर्माण करने में लगे हुए हैं। वे जीन के निर्माण में सफल हो रहे हैं और संभव है वे जीन का निर्माण भी कर लें। लोग कह देते हैं, यह असंभव कल्पना है। जीन का निर्माण कैसे किया जा सकता है?

यह संभावना की अस्वीकृति अज्ञान के कारण होती है। संभावना को अस्वीकार क्यों किया जाए? उसके लिए अवकाश सदा से रहा है। विकास की सारी कहानी संभावना-स्वीकृति की कहानी है।

जैन आचार्यों द्वारा रचित एक प्राचीन ग्रंथ है 'जोणिपाहुड' (योनिप्राभृत)। उस ग्रंथ में जीव और अजीव, चेतन और अचेतन की जितनी योनियां हो सकती हैं, उनका वर्णन है। आश्चर्य होता है कि आज इतनी वैज्ञानिक गवेषणाओं के

बाद भी 'परखनली' में शिशु को उत्पन्न करने की प्रक्रिया पूर्णतः सफल नहीं हुई, किंतु उस योनिप्राभृत ग्रंथ में बतलाया गया है कि किसी भी प्रकार के प्राणी को उत्पन्न किया जा सकता है। उसमें उदाहरण मिलते हैं कि अमुक व्यक्ति ने हजारों भैंस बनाए, घोड़े बनाए आदि-आदि! घटना आती है एक भक्त राजा अपने गुरु के पास जाकर बोला–गुरुदेव! शत्रु ने नगर पर आक्रमण कर दिया है। आप कोई रास्ता बताएं। मैं उसका सामना करने में असमर्थ हूं। आपको ही बचाना होगा।' गुरु ने करुणा दृष्टि से भक्त राजा को देखा। मन करुणा से भर गया। उन्होंने उपाय खोजा। योनिप्राभृत ग्रंथ के ज्ञान का उपयोग किया। तालाब में कुछ द्रव्य फेंका और तत्काल उसमें से हजारों घुड़सवार निकलने शुरू हुए। वे निकलते ही गए। शत्रु सेना ने देखा। वह घबरा गई। उसने सोचा–कितनी विशाल है इस राजा की अश्वसेना! शत्रु सेना भाग गई।

दूसरा प्रसंग है। आचार्य मध्यरात्रि में अपने शिष्यों को योनिप्राभृत की वाचना दे रहे थे। उस दिन का प्रसंग था मत्स्यों के उत्पादन की विधि। रास्ते से एक मच्छीमार गुजर रहा था। उसने कान लगाकर सारी विधि सुन ली। दूसरे ही दिन उसने उस विधि का प्रयोग किया। तालाब मछलियों से लबालब भर गया। आचार्य उसी रास्ते से रोज आते जाते थे। उन्होंने सोचा कि जो तालाब आज तक मछलियों से शून्य रहता था, उसमें इतनी मछलियां कहां से आ गईं। आचार्य ने सोचा कि संभव है किसी ने यह विधि सुन ली है।

दूसरे शब्दों में हम इस उत्पादन विधि को जिनेटिक इन्जीनियरिंग कह सकते हैं। यह विधि बहुत प्राचीन है।

इन सारी बातों का निष्कर्ष यह है कि हम कभी भी संभावना के द्वार को बंद न करें। आस्था के निर्माण का अर्थ है संभावना की स्वीकृति। जहां संभावना की स्वीकृति होती है, वहां चिंतन सम्यक् हो जाता है। वहां कोई आग्रह नहीं होता। आग्रह वहीं पनपता है जहां संभावना को स्वीकार नहीं किया जाता।

आवेश-अवस्था का चिंतन

गलत चिंतन का आधार है आवेश। राजा खुले पैर घूम रहा था। अचानक एक कांटा चुभा। बहुत पीड़ा हुई। राजा ने मंत्री से कहा–देखो, कांटे का कितना दर्द होता है? मेरी रियासत में अनेक लोग खुले पैर चलते होंगे। उनके पैरों में कांटे चुभते होंगे। तुम ऐसा करो कि हमारे रियासत की सारी भूमि को चमड़े से

मढ़ दो, फिर किसी को कांटा नहीं चुभेगा। यह एक आवेश से प्रेरित आदेश था। राजा ने नहीं सोचा, यदि सारी पृथ्वी चमड़े से मढ़ जाएगी तो अनाज पैदा कैसे होगा? आदमी क्या खाएगा? पशु क्या खाएंगे?

यूनान का राजा था मिडास। उसने देवता से वर मांगा 'मैं जिसको छूऊं, वह सोने का बन जाए।' देवता ने वरदान दे दिया। अब जिस किसी पदार्थ के हाथ लगाता है, वह सोने का बन जाता है। लड़की आई दौड़ी-दौड़ी। पिता मिडास ने प्यार से उसे छुआ। वह निर्जीव हो गई। सोने की बन गई। राजा ने भोजन को हाथ लगाया, पानी को छुआ, सब स्वर्णमय बन गए। भूख और प्यास से वह छटपटाने लगा। सोचा, मैंने गलत चिंतन किया है। गलत वर मांग डाला। देवता का स्मरण किया। देवता आया। क्षमा मांगी। बोला–'देव! मैं जैसा था वैसा ही मुझे रहने दो। अपना वरदान वापस ले लो।'

मनुष्य आवेश और तनाव की स्थिति में गलत सोच लेता है। उस स्थित में वह कभी भी सही निर्णय नहीं ले सकता। यदि यह बात पूर्णतः समझ ली जाती है तो बहुत सारे वकीलों और जजों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। तनाव के कारण ही व्यक्ति न्यायालय की शरण में जाता है। वहां जाने वाला भी पछताता है और नहीं जाने वाला भी पछताता है, वह बूर का लड्डू है। न खाने वाला भी पछताता है और खाने वाला भी पछताता है। यदि आवेश की स्थिति समाप्त हो जाए तो न्यायालय में चलने वाले सत्तर प्रतिशत मुकदमे वैसे ही समाप्त हो जाते हैं।

मैंने सुना है कि पश्चिम जर्मनी में एक प्रयोग किया जा रहा है। जो व्यक्ति क्रिमिनल केस लेकर आता है, उसे एकांत में 5-6 घंटे बिठाया जाता है, फिर उससे पूछताछ की जाती है। उन्होंने निष्कर्ष के रूप में बताया कि सत्तर प्रतिशत व्यक्ति तो बिना शिकायत किए ही लौट जाते हैं, क्योंकि वे आवेश की वशीभूत होकर न्यायालय में आए थे। आवेश मिटा और वे शांत हो गए।

विधायक और निषेधात्मक चिंतन के ये कुछेक पहलू हैं। चिंतन को विधायक बनाने के लिए परिस्थितियों को बदलना जरूरी होता है। उनको बदलने का एकमात्र विकल्प है चित्त की एकाग्रता, चित्त की निर्मलता।

3. कैसे सोचें? (3)

आज मौसम सुहावना हो गया। मंद-मंद वर्षा, हल्की फुहारें। भयंकर गर्मी के बाद एक फुहार भी आदमी को आनंद देती है। मौसम का स्वभाव है, वह एक रूप नहीं होता। कभी गर्मी, कभी ठंडक। दुनिया में एक रूप कोई भी नहीं है। मौसम ही क्या? कोई भी एक रूप नहीं है। सब बदलते रहते हैं। आदमी भी कभी ठंडा होता है, कभी गर्म हो जाता है। न जाने कितनी बार होता है ऐसा। यह परिवर्तन एक अटल नियम है। इसे कभी नहीं टाला जा सकता। सब बदलते हैं। हमारे विचार भी बदलते हैं। वे भी शाश्वत कहां हैं? कुछ लोग कहते हैं कि ये विचार शाश्वत हैं। दोनों का विरोधाभास है। विचार और शाश्वत दोनों का योग ही कहां? विचार का अर्थ होता है चलने वाला। चलने वाला शाश्वत कैसे होगा? कभी शाश्वत नहीं हो सकता। जो चल है, वह अचल नहीं हो सकता और जो अचल है, वह चल नहीं हो सकता। चल और अचल का योग तो हो सकता है। एक द्रव्य में चलांश भी होता है और अचलांश भी होता है, दोनों अंश मिल सकते हैं, किंतु जो अचल है, वह चल नहीं हो सकता और जो चल है, वह अचल नहीं हो सकता। जो ध्रुव है, वह परिवर्तनशील नहीं हो सकता और जो परिवर्तनशील है, वह कभी ध्रुव नहीं हो सकता। प्रत्येक द्रव्य में दोनों प्रकार के धर्म मिलते हैं ध्रौव्यांश और चलांश, परिवर्तनशीलता और अपरिवर्तनशीलता। विचार सदा परिवर्तनशील होता है। कहते हैं आज इस आदमी का विचार बदल गया। इसमें क्यों आश्चर्य होना चाहिए? विचार यदि न बदले तो उसमें आश्चर्य होना चाहिए। विचार बदले, उसमें कौन-सा आश्चर्य है? विचार का काम ही है बदल जाना। कल जो विचार था, वह आज नहीं होगा और आज जो विचार है, वह आने वाले कल में नहीं होगा। अगर एक ही विचार पूरे जीवनकाल में टिक जाए तो मानना चाहिए बड़ा रूढ़ीवादी आदमी है। इतने लंबे समय तक एक विचार टिक गया। विचार का काम है सतत प्रवाह, गतिशीलता, बदलते जाना, बदलते जाना। जो

पकड़कर बैठ जाते हैं कि मैंने तो एक विचार पकड़ लिया है, अब छोड़ूंगा नहीं। वह बड़ा अहंकार और गर्व का अनुभव करता है। सोचता है मैं बड़ा मजबूत आदमी हूं कि पकड़ी हुई बात को छोड़ता नहीं। अरे, कौनसी बड़ी बात कर दी तुमने? यह तो मूर्खता की बात है। बात है मूर्खता की और मान लेता है गर्व की बात। गर्व से कहता है कि मैं कितना दृढ़ आदमी हूं। पत्थर बहुत मजबूत होता है। हड्डी बहुत कठोर हो जाती है तो बहुत खतरा होता है। हड्डियां लचीली रहती हैं तो आदमी स्वस्थ रहता है, बीमारी का पहला लक्षण है हड्डियों का कठोर हो जाना। हड्डी अकड़ गई, कड़ी पड़ गई तो मान लें, स्वास्थ्य चला गया। इसलिए एक बात पर डट जाना, कोई विशेषता की बात नहीं है, परंतु कभी-कभी ऐसा भी होता है कि आदमी मूर्खता की बात को भी बहुत विशेषता की बात मान लेता है। यही विचार का अंतर है। सम्यक् विचार और सम्यक् चिंतन नहीं होता है तो आदमी गलत बात को सही मान लेते हैं और मूर्खता को समझदारी मान लेते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि उन्हें यह भान भी नहीं होता कि वे मूर्खता कर रहे हैं। बहुत लोग ऐसे होते हैं जिन्हें अपनी मूर्खता का कभी पता ही नहीं चलता।

दो सहेलियां मिलीं। बातें चलने लगीं। एक सहेली ने अपनी सहेली से कहा–आजकल औरतें अपने पतियों की निंदा करती हैं। निंदा करना बुरा है। ऐसा नहीं करना चाहिए। मुझे भी देखो, मेरा पति कितना आलसी है, नालायक है, कितना मूर्ख है, पर मैं कभी किसी को नहीं कहती कि मेरा पति ऐसा है, वैसा है।

अजीब स्थिति होती है हमारे चिंतन की। आदमी मूर्खता करता ही चला जाता है और उसे भान ही नहीं होता कि मैं मूर्खता कर रहा हूं। मूर्खता पर भी एक मुलम्मा चढ़ाने का प्रयत्न करता रहता है।

वैचारिक जगत के विरोधाभास

विचार का क्षेत्र भी ऐसा ही होता है। बड़ा विचित्र होता है विचार का संसार। वहां विरोधाभास पलते हैं, वहां विसंगतियां पलती हैं। वहां समझदारी की ओट में मूर्खता पलती है। ऐसा है विचार का क्षेत्र। अविचार में तो ऐसा होता नहीं। तीन स्थितियां हैं अविचार, विचार और निर्विचार।

एक अविचार की स्थिति वह है जिसमें व्यक्ति चिंतन करना जानता ही नहीं। छोटे प्राणी हैं, वे चिंतन करना नहीं जानते। मनुष्य में भी कुछ ऐसे अविकसित मनुष्य हैं, उनका मस्तिष्क अविकसित होता है। वे विचार करना नहीं जानते। यह अविचार है विचार की अक्षमता।

दूसरी अवस्था है विचार। इस अवस्था में प्राणी चिंतन करता है, सोचता है।

तीसरी अवस्था है निर्विचार। यह है ध्यान की अवस्था। इस अवस्था में चले जाने पर विचार समाप्त हो जाते हैं। न कोई कल्पना, न कोई स्मृति और न कोई चिंतन। सारे दरवाजे बंद हो जाते हैं। यह हमारी निर्विचार अवस्था है। निर्विचार का अनुभव शब्दातीत अनुभव होता है और उसमें उस चेतना का जागरण होता है जो चेतना इन्द्रियों से, मन से, बुद्धि से और विवेक से परे है। सबसे परे की चेतना अतीन्द्रिय चेतना की अवस्था बन जाती है। वहां केवल आत्मा का अनुभव शेष बचता है, बाकी स्मृतियां लुप्त हो जाती हैं। वह एक परम अवस्था है। उसकी चर्चा शब्दों में नहीं हो सकती। यह अनुभव का विषय है। बुद्धि की सीमा का जो विषय है वह शब्दों द्वारा प्रतिपादित किया जा सकता है। जो बुद्धि से परे का संसार है, वह शब्दातीत होता है। उसके बारे में कहा जाए तो भी कुछ नहीं बनता और न कहें तो मन नहीं मानता। कहने और न कहने की दोनों स्थितियों में आदमी उलझा रहता है। हमारा संसार बुद्धि का संसार और विचार का संसार है, वहां ये बातें होती हैं, विरोधाभास होते हैं। जितना विरोधाभास वैचारिक जगत में होता है, उतना कहीं नहीं होता। एक आदमी आज एक बात कहता है, वही आदमी कल दूसरी बात कह देता है।

चर्चिल ने कहा था कि कुशल राजनीतिज्ञ वह होता है जो सुबह एक बात कहता है और शाम को उसका खंडन कर देता है इस चतुराई के साथ कि सुबह मैंने कहा था, वह भी ठीक था और अब जो कह रहा हूं, वह भी ठीक है।

विचार के क्षेत्र में कभी विरोधाभासों को टाला नहीं जा सकता। तर्कशास्त्र में स्थान-स्थान पर कहा जाता है यहां अमुक बात का विरोधाभास है, यहां अमुक बात का विरोधाभास है। अरे, जब शास्त्र ही तर्क का है, तर्कशास्त्र है, वहां तर्क नहीं तो क्या होगा? जहां विचार ही कर रहे हो तो विरोधाभास नहीं आएगा तो और क्या आएगा?

गर्भवती मां ने छोटे मुन्ने से पूछा—अरे तुम क्या चाहते हो, मुन्ना या मुन्नी? छोटा बच्चा था, बोला मां! तुम्हें कष्ट न हो तो छोटा-सा पिल्ला चाहिए, न मुन्ना, न मुन्नी।

कहां से आएगा? जो है नहीं, वह कहां से आएगा। जो होगा, वही आएगा। विचार में और क्या आएगा? विचार का काम है, संगति और विसंगति दोनों पैदा करना। विचार का काम है विरोध और अविरोध दोनों पैदा करना। कोई भी विचार, बुद्धि या तर्क ऐसा नहीं हो सकता, जो केवल अविरोध

पैदा करे, केवल संगति या सामंजस्य पैदा करे। द्वंद्व ही पैदा होगा विचार के द्वारा, क्योंकि वहां गतिशीलता है। यह नहीं हो सकता कि चलने वाला चलता ही रहे, लड़खड़ाये नहीं। जो चलता है, वह लड़खड़ाता है। घोड़े पर चढ़ता है, वह गिरता भी है। चलना और लड़खड़ाना, चढ़ना और गिरना–दोनों साथ जुड़े हुए हैं। विचार की इस द्वंद्वात्मक दुनिया में हम एक बात की अपेक्षा रखें कि यही होगा, वह नहीं होगा, यह होना चाहिए, वह नहीं होना चाहिए, तो यह हमारी भ्रांति होगी, कोई तथ्य नहीं होगा। यह विचार की प्रकृति है, विचार का स्वभाव है, इसलिए हम विचार पर भी विचार कर रहे हैं। और इसलिए कर रहे हैं कि आदमी अच्छा भी सोचता है, बुरा भी सोचता है। विधायक भी सोचता है और निषेधात्मक भी सोचता है। सृजनात्मक भी सोचता है और ध्वंसात्मक भी सोचता है। हम चाहते हैं कि निषेधात्मकता का, ध्वंसात्मकता का पक्ष कम होता चला जाए। इसलिए विचार पर विचार कर रहे हैं, यह सोच रहे हैं कि कैसे सोचें?

विचार परिष्कार की विधि

इस प्रश्न में विचारों के परिष्कार की बात आती है। उसका एक उपाय है कि यदि हम निर्विचार और विचार का संतुलन कर सकें तो विचार को विधायक बना सकते हैं, सृजनात्मक बना सकते हैं, ध्वंसात्मकता को कम कर सकते हैं। केवल विचार ही करेंगे तो यह संभव नहीं होगा, क्योंकि विचार में तो स्फुलिंग होगा, विचार में तो टक्कर होगी, संघर्ष होगा। निर्विचार का पलड़ा जैसे-जैसे भारी होता चला जाएगा, विचार का शोधन और परिष्कार भी होता चला जाएगा, बीच में आने वाले अवरोध और विसंगतियां कम होती चली जाएंगी। विचार के शोधन का और कोई उपाय नहीं है। विचार के परिष्कार का और कोई उपाय नहीं है। सुना है, पुराने जमाने में एक कंबल होता था। उसका नाम था रत्न-कंबल। बहुत बढ़िया होता था। आज से ढाई हजार वर्ष पहले के समय में उसका मूल्य था सवा लाख मुद्रा। उस सस्ते जमाने में इतना भारी मूल्य, किंतु वह कंबल होता था वातानुकूलित। गर्मी में बहुत ठंडा और सर्दी में बहुत गर्म। बिल्कुल एअरकंडीशन। उसकी धुलाई पानी से नहीं होती थी। उसकी धुलाई होती थी आग में। आग में डाल दो, कंबल बिल्कुल मैल रहित हो जाएगा, किंतु जब तक आग में धुलाई नहीं होती, कंबल से मैल नहीं उतरता। विचारों के मैल की धुलाई पानी से नहीं होती। विचार से विचार की धुलाई नहीं होती। बुद्धि और तर्क से विचार की धुलाई और सफाई नहीं

हो सकती। विचार के मैल को दूर करने, विचार को निर्मल बनाने का एक ही उपाय है, निर्विचार की आग में विचार को डाल दिया जाए, वह अपने आप निर्मल बन जाएगा। विचार के सारे मैल अपने आप साफ हो जाएंगे, और फिर उसमें से सृजनात्मकता निकलेगी। उसमें से विधायकता निकलेगी, उसमें से आस्था निकलेगी तथा पुरुषार्थ, पराक्रम और ज्योति निकलेगी। कोई संघर्ष नहीं निकलेगा।

अहिंसा और अभय

भय के वातावरण में जो चिंतन होता है, भय से पीड़ित मस्तिष्क का जो चिंतन होता है, वह सदा निषेधात्मक होता है। डरा हुआ आदमी क्या सोचेगा? भय पहले ही आदमी को कुंठित बना देता है। जैसे ही मस्तिष्क में भय का प्रवेश हुआ, भय का संवेदन-केन्द्र सक्रिय हुआ, चिंतन पहले ही कुंठित बन जाएगा। क्या उस मस्तिष्क से हम स्वस्थ चिंतन की अपेक्षा रख सकतेहैं? कभी संभव नहीं। स्वस्थ चिंतन के लिए पहली शर्त है अभय होना। अभय मानस, अभय मस्तिष्क, भयमुक्त सारा वातावरण। इसी परिवेश में स्वस्थ चिंतन का प्रादुर्भाव होगा, स्वस्थ चिंतन निकलेगा। डरा हुआ आदमी कभी ठीक बात नहीं सोच सकता। बड़ा आश्चर्य होता है मुझे, आदमी डरता क्यों है? वह डरता है अपने ही गलत चिंतन के कारण। व्यक्तित्व का निर्माण होता है विचार से और उसने कुछ ऐसे विचार, कुछ ऐसी मान्यताएं और अवधारणाएं बना लीं कि एक स्थिति के आते ही तत्काल सारा वातावरण भय से प्रताड़ित हो जाता है। क्यों? जिस व्यक्ति ने थोड़ा-सा अध्यात्म को समझा है, जिस व्यक्ति ने धर्म के लेश को भी समझा है, जिस व्यक्ति के जीवन पर या झुलसते हुए जीवन पर धर्म की एक फुहार भी गिरी है तो उसका पहला परिणाम होगा अभय। जो अभय नहीं होता, वह धार्मिक नहीं होता, आध्यात्मिक नहीं होता। जो अभय नहीं होता, वह स्वस्थ नहीं होता। बीमारियों की जड़ है भय। कलह की जड़ है–भय और अन-आध्यात्मिकता की जड़ है–भय। सबकी जड़ है–भय। जब तक मन से भय नहीं निकलता, तब तक आदमी क्या आत्मा का अनुभव कर सकता है? लोग बड़ी-बड़ी बातें करते हैं आत्मा और परमात्मा के बारे में। अरे! कहां आत्मा और कहां परमात्मा! इन अतीन्द्रिय और सूक्ष्म तत्त्वों के बारे में चर्चा करने का अधिकार तुम्हें कहां है? मन से भय ही नहीं निकला शरीर का भय, बीमारी का भय, बुढ़ापे का भय, मौत का भय, पदार्थ के वियोग का भय, वस्तु के चले जाने का भय, प्रिय व्यक्ति के चले जाने का भय–सारे

भय तो दिमाग पर सवार हैं। चारों ओर चेतना की शक्तियां भयाक्रांत हो रही हैं और चर्चा करना चाहते हो आत्मा की और परमात्मा की? भय में से भी कहीं आत्मा निकलेगी? नहीं। भय में से तो भूत निकलेगा, आत्मा-परमात्मा नहीं निकलेगा। भय का काम है भूत पैदा करना। भूत होता ही क्या है? कोई होता होगा, पर अधिकांश लोगों को जो भूत दीखता है, वह तो भयकारी भूत दीखता है। भय ही भूत बनकर आता है। एक ऐसा मानसिक प्रक्षेपण होता है कि जैसे ही डर लगना शुरू होता है तो भूत की आकृति सामने उभर आती है। अपना मानसिक प्रक्षेपण, अपना मानसिक प्रतिबिंब और अपने भयभीत मन की प्रतिकृति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं आता। क्या भय से ग्रस्त मानस कभी सूक्ष्म चर्चा का अधिकारी होगा?

भगवान महावीर ने एक सूक्ष्म बात कही थी। उन्होंने अहिंसा को ही धर्म नहीं बतलाया, सामान्यतः लोग कहते हैं कि उन्होंने अहिंसा को ही धर्म बतलाया, पर मैं जो समझ पाया हूं उसके आधार पर यह कह सकता हूं कि भगवान महावीर ने जितना बल अभय पर दिया, उतना बल अहिंसा पर नहीं दिया। अहिंसा की एक भावना है अभय भावना। जब तक अभय की भावना पुष्ट नहीं होती, जीवन में अहिंसा का अवतरण ही नहीं होता। क्या डरपोक आदमी कभी अहिंसक बनेगा? बन ही नहीं सकता। जिस व्यक्ति में प्राणों का मोह है, वह डरता है कहीं मर न जाऊं, वहां जाता हूं कहीं मर न जाऊं। अरे! मरने का भय और फिर अहिंसक ! बड़ी विचित्र बात है। एक भाई ने कहा कि जैनों की संख्या भी बहुत बड़ी है, सिक्खों से कम नहीं है, किंतु सिक्ख लोग जो चाहते हैं करवा लेते हैं, जैन लोग नहीं करवा पाते। मैंने कहा—लंबी चर्चा में तो नहीं जाना चाहता, पर एक बात तो बहुत साफ है कि सिक्ख लोग मरने से नहीं डरते, जैन लोग मरने से डरते हैं। हमने सुना है अंग्रेजों के समय में दिल्ली में जो गुरुद्वारा बन रहा था, बड़ा प्रतिरोध किया गया था। ब्रिटिश सरकार का शासन था। वह गुरुद्वारा बनाने के विरोध में थी, पर सामने जब बलिदान आने लगे, सरकार कांप उठी और स्वीकृति देनी पड़ी। जहां मरने का डर नहीं, वहां कुछ भी अशक्य नहीं। सारी अशक्यकताएं मरने के भय के साथ जुड़ी हुई हैं। जीवन के साथ मोह होता है कि कहीं मर न जाऊं। अरे! तुम्हारे चले जाने से कहीं दुनिया तो खाली नहीं हो जाएगी? और पीछे से बहुत रोने वाले भी नहीं हैं। सामने तो सब कहते हैं, पर मरने के बाद कौन किसकी चिंता करता है? दो-चार दिन कोई औपचारिकतावश चिंता कर लेता होगा, फिर तो कोई स्मृति

नहीं। बस, एक बार वर्षगांठ आती है, याद कर लेता है, वह भी पूरे मन से नहीं, एक याद को या व्यवहार को निभाना है, आज उसकी पुण्यतिथि है, हम मंगल कामना करते हैं। इतना-सा पर्याप्त है। हमारा ही यह जीवन का मोह है। जब तक जीवन का मोह और आसक्ति नहीं छुटती, तब तक विधायक विचार की स्थिति भी नहीं होती। विधायक विचार की पहली शर्त है जीवन और मौत के प्रति अभय।

मंथन की सार्थकता

हम तात्त्विक चर्चा में बहुत रस लेते हैं। तत्त्वचर्चा को बहुत महत्त्व देते हैं, पर प्रयोग के बिना जो तत्त्व-चर्चा होती है, उसमें मक्खन नहीं होता, होता है तो बहुत कम होता है। कोई आदमी बिलौना करे और नवनीत निकले, अच्छी बात है। सामने दही है, बिलौना करे तो नवनीत निकलेगा, पर बहुत बार तो हम ऐसा करते हैं कि दही नहीं होता, पानी को लेकर बिलौना शुरू कर देते हैं। कोरी हांडी और कोरी मथनी से ही बिलौना शुरू कर देते हैं। कभी वह नहीं होता, केवल कल्पना से ही बिलौना शुरू कर देते हैं। इससे मक्खन नहीं निकलता। नवनीत तभी मिलेगा जब बिलौना भी चले और सामने यथार्थ भी हो, यानी दही भी होना चाहिए। कोरी तत्त्वचर्चा मेरी दृष्टि में या तो पानी का बिलौना है या बिना पानी का बिलौना है। दही बिल्कुल भी नहीं है। कोरी मथनी चल रही है और कोरी हांडी पड़ी है या पानी से भरी हुई हांडी पड़ी है। तत्त्वचर्चा के साथ-साथ प्रयोग होना चाहिए, अभ्यास होना चाहिए। कोरा सिद्धांत नहीं, उसका व्यवहार होना चाहिए।

शिक्षा के दो रूप सदा से रहे हैं। मैं यह बात केवल आज के आधार पर नहीं कह रहा हूं, अनुभव के आधार पर कह रहा हूं। प्राचीन पद्धति के आधार पर भी कह रहा हूं। प्राचीनकाल में शिक्षा के दो रूप माने गए थे—एक ग्रहण शिक्षा और दूसरी आसेवन शिक्षा। जानो और उसका आसेवन करो। अभ्यास करो। तब तो पूरी बात समझ में आएगी। बहुत लोग आते हैं, जल्दी में आते हैं और कहते हैं कि महाराज! मुझे अभी-अभी जाना है, केवल दो चार मिनट का समय है। मेरा मन बहुत चंचल है, विक्षिप्त है, बड़ा परेशान हूं, बड़ी कठिनाइयां हैं। ऐसा कोई समाधान दें कि मन की स्थिति ठीक बन जाए, मन की परेशानी मिट जाए। मैं कहता हूं कि तुम भी भले आदमी हो, बड़े विचित्र आदमी हो! इतनी बड़ी तो मन की समस्या और परेशानी और फिर दो मिनट में समाधान चाहते हो? हमारे पास कोई जादू का डंडा नहीं है। मैं शक्तिपात में विश्वास

नहीं करता। जादू के डंडे और चमत्कार में विश्वास नहीं करता। मैं आशीर्वाद देने में भी विश्वास नहीं करता। मैं तो विश्वास करता हूं कि सामने वाले व्यक्ति का विश्वास जागे। पुरुषार्थ जागे। स्वयं सत्य खोजे। हमारे प्रेक्षाध्यान का सूत्र है–स्वयं सत्य खोजो। हर व्यक्ति अपना सत्य खोजे। केवल दूसरे पर भरोसा न करे। केवल दूसरे पर भरोसा करना भी बहुत खतरनाक होता है। भरोसा करना पड़ता है, वह भी एक सीमा तक। सीमा से बाहर भरोसा करना खतरनाक होता है।

गुरु पर भी जितना भरोसा करना चाहिए, उतना ही करना चाहिए। ऐसा न सोचें कि गुरु सबकुछ कर देगा। ऐसा सोचेंगे तो धोखा हो जाएगा। कुछेक गुरु अपने शिष्यों को बड़ा प्रलोभन देते हैं, बड़े मीठे आश्वासन देते हैं कि चिंता मत करो, सबकुछ ठीक हो जाएगा, पर सब धोखा निकलता है। जब स्थिति सामने आती है तब कहता है–गुरुजी! आपने इतना कहा था, हुआ तो नहीं? अरे, गुरु का इतना कहना माना ही क्यों? तुम मान बैठते हो कि सब कुछ हो जाएगा और जब मान बैठते हो तो फिर शिकायतें, फिर गुरु का अपवाद! चाहे धर्म हो, चाहे भगवान हो, चाहे गुरु हो, चाहे आत्मा हो, चाहे कोई हो, प्रत्येक के साथ विश्वास करने की एक निश्चित सीमा होती है। सीमा तक तो करना ही पड़ेगा। बिना सीमा काम नहीं चलेगा। सीमातीत कोई भी बात करते हैं वहां कठिनाई पैदा होती है। हम इस बात में विश्वास करते हैं, प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में यह बात चलती है कि हम सत्य खोजें।, अपना सत्य स्वयं खोजें। अपने आप अपने रास्ते को तय करें। हम सहारा देंगे, आलंबन देंगे, निमित्त बनेंगे। थोड़ा-सा धक्का दे देंगे। मोटर का इंजन नहीं चलता, तब पांच-दस आदमी मिलते हैं और एक बार कार को थोड़ा-सा धक्का दे देते हैं। बात यहां तक तो ठीक है, पर रोहतक जाना है, क्या सारे रास्ते धक्के देते जाएंगे? यह कभी संभव नहीं होगा। आखिर तो इंजन की अपनी शक्ति होनी चाहिए, स्थिति होनी चाहिए, धक्का कभी-कभी दिया जाता है, सदा नहीं दिया जाता।

यह अभय की खोज हमारे जीवन की महत्त्वपूर्ण खोज है। हम अभय बनें, डरना छोड़ें। जिस व्यक्ति ने अभय का पाठ नहीं पढ़ा, उसका विचार सही नहीं होगा। उसका विचार भय से प्रभावित विचार होगा।

वैचारिक स्वस्थता का आधार समता

दूसरी बात है, समता में से जो विचार स्फूर्त होता है वह विचार संतुलित होता है। जहां हीनता और अहंकार की ग्रंथि आ जाती है, वहां विचार अस्वस्थ बन जाता है, विकृत बन जाता है। एक बड़ी कसौटी है स्वस्थ विचार के

परीक्षण की कि विचार समता की दृष्टि से किया गया है या नहीं किया गया है। मुझे लगता है, आदमी का जीवन प्रायः दो प्रकार के संवेदनों में ही बीतता है। प्रियता का संवेदन और अप्रियता का संवेदन। विचार की पृष्ठभूमि का यदि हम सूक्ष्म विश्लेषण करें तो पता चलेगा कि कहीं न कहीं सूक्ष्म बात छिपी हुई है, प्रियता छिपी हुई है या अप्रियता छिपी हुई है। हर बात प्रियता से प्रभावित होती है या अप्रियता से प्रभावित होती है। ऐसा विचार जिसके साथ, जिसकी पृष्ठभूमि में, प्रियता और अप्रियता दोनों न हों, भाग्य से ही शायद वर्षों में आता होगा। हम सोचें, वही बात एक प्रिय व्यक्ति कहता है, बहुत अच्छी लगती है और सारा विचार बदल जाता है और वही बात, उन्हीं शब्दों में कोई अप्रिय व्यक्ति कहता है तो मन में घृणा और तिरस्कार का भाव जाग जाता है। यह क्यों? हम विचार की स्वस्थता पर विचार कर रहे हैं। बहुत ध्यान से देखें तो यह बात छिपी हुई नहीं रहेगी कि जिस विचार को हम स्वस्थ मानते हैं, वह विचार भी बहुत अस्वस्थ हो जाता है इस पक्षपात के कारण और प्रियता और अप्रियता की अनुभूति से जुड़े होने के कारण।

हमारे जीवन में अनेक घटनाएं घटित होती हैं। उन घटनाओं के पीछे दो सबसे बड़े कारण होते हैं राग और द्वेष, प्रियता और अप्रियता। या तो राग के कारण हम अनेक प्रवृत्तियां करते हैं या द्वेष के कारण अनेक प्रवृत्तियां करते हैं। रुचि और अरुचि, प्रियता और अप्रियता, राग और द्वेष, आकर्षण और विकर्षण–ये हमें बांट लेते हैं। हमारा ऐसा कोई धरातल नहीं, जहां हम इनसे हटकर सोच सकें, विचार कर सकें।

आदमी बुराइयां करता है, अप्रामाणिक व्यवहार करता है, दूसरों को धोखा देता है, ये सारे चिंतन, ये सारे मनोभाव कहां उभरते हैं? एक ओर प्रियता खींच रही है कि यह मेरा परिवार, मेरा पुत्र, मेरी पत्नी सुखी रहे। मेरा घर बड़ा बने, मेरे पास अपार धन हो, पदार्थ की कमी न रहे। जहां प्रियता होगी, वहां अप्रियता निश्चित ही होगी, कहने की जरूरत नहीं। एक आदमी बाजार में जाता है और पूरी छानबीन करके शुद्ध घी अपने घर में ले जाना चाहता है, क्योंकि वह अपने परिवार को मिलावटी चीजें खिलाना नहीं चाहताऔर वही व्यक्ति दवा बेचता है तो मिलावटी दवा बेच देता है दूसरों को क्योंकि उसमें अप्रियता है, प्रियता नहीं है। इसलिए वहां संकोच भी नहीं होता कि मैं क्या कर रहा हूं। इस प्रियता और अप्रियता की अनुभूति ने विचारों को इतना प्रभावित किया है कि इस आधार पर सारी बुराइयां और कार्मिक बुराइयां पनप रही हैं।

समत्व का कोण विकसित हुए बिना विचारों की जो मलिनता है, विचारों का जो द्वंद्व है उसे समाप्त नहीं किया जा सकता।

समता का प्रादुर्भाव

ध्यान का एक काम होता है प्रियता और अप्रियता के संवेदन से परे हटकर समता के अनुभव को जगा देना। जिस ध्यान के द्वारा समता का अनुभव नहीं जागता, वह वास्तव में ध्यान नहीं हो सकता। ध्यान कोरी प्रीति नहीं है, ध्यान कोरा विश्राम नहीं है, ध्यान कोरा आराम नहीं है। बस, निठल्ले बैठ गये, आंखें बंद कर लीं, कोई काम नहीं, कोई चिंता नहीं। दस दिन तक मकान (प्रज्ञा-प्रदीप) से बाहर जाना नहीं, बैठ गए, विश्राम मिला। पूछने पर कहते हैं, ध्यान बड़ा अच्छा लगा। क्यों लगा? इसलिए कि इतना आराम मिला। अरे, परिणाम क्या हुआ? निष्पत्ति क्या हुई? वे लोग मकान से बाहर न जाना, विश्राम मिलना, इसी को ध्यान की निष्पत्ति मान लेते हैं। जब वे इस सीमा से बाहर जाते हैं तब ज्यों के त्यों, जैसे थे वैसे, वही दुनिया और वही नटखटपन। यदि यह ध्यान है तो सीमाप्रतिबद्ध ध्यान हो गया, देशप्रतिबद्ध ध्यान हो गया। नींद में नटखट बच्चा भी शांत रहता है। थोड़े बहुत हाथ-पैर पछाड़ लेता होगा, फिर भी शांत रहता है। नींद में आदमी सोता है तो कब लड़ाई करता है? नींद में हर आदमी अच्छा हो जाता है, बुरा आदमी नींद लेते समय भीतर में तो बुरा ही रहता है, पर ऊपर से अच्छा हो जाता है। बुरे स्वप्न, बुरी कल्पनाएं, बुरे चिंतन चलते रहते हैं। चेतन मन थोड़ा सो जाता है तो अचेतन मन खुलकर खेलने लग जाता है, पर बाहर से फिर भी अच्छा लगता है। खाट की सीमा में सोया रहता है तो बहुत सारी बुराइयां नहीं करता, न झूठ बोलता है, न धोखा देता है, न गालियां देता है, कुछ भी नहीं करता। वह तो ठीक भी रहता है मूर्च्छा में। आदमी ठीक रहता है, कुछ भी नहीं करता। मूर्च्छित रहता है।

ध्यान यदि परिवर्तन नहीं लाता, विचारों और दृष्टिकोण में परिष्कार नहीं लाता और इस दीवार से बाहर जाने पर कोई परिवर्तन का अनुभव नहीं होता तो ध्यान का अर्थ होगा नींद और ध्यान का अर्थ होगा मूर्च्छा। इससे ज्यादा कुछ भी नहीं होगा।

ध्यान है परम जागरण

ध्यान परम जागरण है। उसमें चेतन मन तो सो जाता होगा, किंतु अवचेतन मन, भीतर की चेतना में इतनी जागृति है कि फिर यह दीवार की सीमा उसके लिए समाप्त हो जाती है। जैसा यहां, घर में जाकर भी वैसा। यहां तो बहुत

शांत रहा, घर में जाकर वही कलह, वही लड़ाइयां, तो घर वाले लोग सोचेंगे कि ध्यान करने वाले से हम ध्यान न करने वाले अच्छे हैं।

धर्म के क्षेत्र में आज प्रतिक्रियाएं होती हैं। कहा जाता है, आज का प्रबुद्ध मानस धर्म को नहीं चाहता। यह हो नहीं सकता। जो पढ़ा-लिखा है उससे ऊपर की चीज है धर्म। नीचे खड़ा आदमी ऊपर की बात को कैसे नहीं चाहेगा? पर जब धर्म के क्षेत्र में ये सारी प्रतिक्रियाएं आती हैं कि धर्म करने वाला आदमी धर्म करता ही चला जाए और परिणाम कुछ भी न आए तो वह धर्म किस काम का? पचास वर्ष धर्म करके भी यदि एक इंच भी नहीं बदला तो वह सोचता है कि धर्म इतना प्रभावहीन है कि कुछ भी परिणाम नहीं लाता, तो करें तो क्या फर्क पड़ने वाला है? ऐसी शक्ति के प्रति किसी का आकर्षण नहीं होता। यदि आग पर पैर रखने, न रखने में फर्क नहीं पड़ता तो फिर संकोच ही किसको होगा? जब लोग जानते हैं कि आग पर पैर रखा और जला, सब डरते हैं। सबके मन में एक आकर्षण है कि आग है, संभल कर पैर रखना।

धर्म एक आग बने, सब लोगों का ध्यान आकर्षित हो कि यह आग है, ध्यान रखना होगा, तब अपने आप उसके प्रति सावचेतता होगी। मैं सोचता हूं कि धर्म की यह निर्बल अवस्था इसलिए बनी कि उसके साथ ध्यान छूट गया। आंतरिक चेतना का स्पर्श छूट गया। केवल बाह्य चेतना का प्रभाव जुड़ा रहा और धर्म निष्प्रभावी हो गया।

जब तक आग राख से ढकी हुई रहेगी, ज्योति कभी प्रकट नहीं होगी। ज्योति तभी प्रकट होगी जब राख को हटा दिया जाए, राख को हटाकर आग को शुद्ध रूप में प्रकट किया जाए। ध्यान एक प्रक्रिया है विचार पर आई राख को हटा देने की। जो व्यक्ति राख को हटा देता है, उसकी ज्योति प्रकट हो जाती है। वह आंच में पके हुए, सोने की भांति निर्मल होगा, सारे जीवन को प्रभावित करने वाला और चमक देने वाला होगा।

4. चिंतन का परिणाम

हमारा जीवन अस्तित्व और आकांक्षा दोनों के बीच में चल रहा है। हम हैं, हमारा अस्तित्व है। हम होना चाहते हैं, यह होने की आकांक्षा है। अस्तित्व रहता है, होता है, पर बात उसमें नहीं होती। आदमी में बदलने की, कुछ होने की, एक आकांक्षा होती है, चाह होती है। कोई भी आदमी जिस स्थिति में है, उसमें शायद संतुष्ट नहीं होता, कुछ और होना चाहता है, जहां है वहां से कुछ और आगे जाना चाहता है। जिस बिंदु पर है, उस बिंदु पर टिका रहे, ऐसा शायद ही कोई आदमी हो। होने की चाह में से अनेक संभावनाएं जन्म लेती हैं। होना है तो आयाम खोजने होंगे। उपाय खोजने होंगे, अपाय का निरसन करना होगा और एक पूरे वातावरण की सृष्टि करनी होगी। आदमी सत्य को उपलब्ध होना चाहता है, सफल होना चाहता है, स्वस्थ होना चाहता है, विकास चाहता है। ये सारे परिणाम चाहता है।

किसे बदलें

मनुष्य की एक मनोवृत्ति है और वह बहुत भयंकर मनोवृत्ति है। इस मनोवृत्ति ने समस्याओं को जन्म दिया है और आज भी देती जा रही है, पर समाधान नहीं हो पा रहा है। वह मनोवृत्ति है–परिणामगामी। हम परिणाम को चाहते हैं, परिणाम को मिटाना चाहते हैं और परिणाम को बदलना चाहते हैं। तीनों बातें परिणाम के आधार पर ही करना चाहते हैं। मिटाना है तो परिणाम को और पाना है तो परिणाम को। परिणाम पर ही हमारा सारा ध्यान जाता है। प्रवृत्ति और वृत्ति पर हमारा ध्यान नहीं जाता।

एक अधिकारी नया-नया आया था। आलू की फसल बहुत अच्छी थी। जाकर देखा तो पत्ते ही पत्ते दिखाई दे रहे थे। केवल पत्ते और कुछ नहीं। उसने कहा, मुझे तुम लोगों ने गलत सूचना दी। तुमने कहा–आलू की फसल बहुत अच्छी हुई है पर यहां तो पत्ते ही पत्ते हैं, आलू कहां हैं? बिलकुल झूठी बात

थी तुम्हारी। वे मन ही मन हंसे और बोले–महाशय! आलू जमीन में होते हैं। ऊपर पत्ते ही पत्ते होते हैं, आलू नहीं होते। जमीन को थोड़ा कुरेद कर देखा तो आलू ही आलू थे।

पत्तों के आधार पर आलुओं का निर्णय नहीं किया जा सकता। जो भीतर होता है, उन्हें बाहर नहीं पाया जा सकता है। हमारी मनोवृत्ति ऐसी है कि हम ऊपर की बात पर ही अधिक विश्वास करते हैं, भीतर जाने का प्रयत्न ही नहीं करते। भीतर में गए बिना कुछ मिलता नहीं। परिणाम सदा भीतर रहता है। परिणाम के नीचे दो बातें रहती हैं। एक प्रवृत्ति और एक प्रवृत्ति के नीचे रहती है वृत्ति। मूल है वृत्ति। वृत्ति को पकड़ें तो प्रवृत्ति की व्याख्या की जा सकती है और प्रवृत्ति को पकड़ें तो परिणाम की बात समझ में आ सकती है। केवल परिणाम के आधार पर होने वाले सारे निर्णय गलत होते हैं, मिथ्या होते हैं और भ्रम में फंसाने वाले होते हैं।

हम क्रोध को मिटाना चाहते हैं, बुराई को मिटाना चाहते हैं, अज्ञान को मिटाना चाहते हैं और अनुशासनहीनता को मिटाना चाहते हैं, आक्रामक मनोवृत्ति को मिटाना चाहते हैं, संग्रह की मनोवृत्ति और इसी प्रकार की सारी बुराइयों को मिटाना चाहते हैं। हम ही नहीं, सारा समाज और सरकार इन्हें मिटाना चाहती है। सब लोग मिटाना चाहते हैं, पर बुराइयों में क्या जादू है, कितनी ताकत है, कितनी शक्ति है कि वे बुराइयां और अधिक पनपती जाती हैं। उनकी पौध बढ़ रही है। न जाने उन्हें कहां से सिंचन मिल रहा है। वे खुशहाल हो रही हैं। आदमी शायद कभी-कभी बर्बाद हो जाता है, पर वे बुराइयां आबाद हो जाती हैं। उलटा चक्का क्यों चल रहा है? बुराइयों को किसका संरक्षण प्राप्त है? आदमी किसके संरक्षण से वंचित है? यह हमारे सामने बहुत बड़ा प्रश्न है। मुझे प्रतीत होता है कि इस प्रश्न पर हमने कभी गंभीरता से चिंतन नहीं किया। यदि हमारा गंभीर चिंतन होता तो ठीक मूल की बात तक हम पहुंच पाते और समाधान खोज पाते, पर हम तो केवल बुराइयों को मिटाना चाहते हैं। हिंसा एक परिणाम है। क्रोध एक परिणाम है। बुराई एक परिणाम है। कोई आदमी मिलावट करता है, जमाखोरी करता है, संग्रह करता है, यह सब परिणाम है। अनुशासनहीनता एक परिणाम है। हम परिणाम को मिटाना चाहते हैं, मूल बात को मिटाना नहीं चाहते।

मूल जब तक विद्यमान है तब तक ये परिणाम तो आते ही रहेंगे। मूल

मजबूत है तो ये परिणाम फलते-फूलते रहेंगे। क्रोध अपने आप नहीं आता। क्रोध के नीचे एक प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति के नीचे एक वृत्ति होती है। जब तक वृत्ति को मिटाने की बात हम नहीं सोचते, तब तक प्रवृत्ति को भी नहीं मिटाया जा सकता और परिणाम को भी नहीं मिटाया जा सकता।

वृत्ति बदले

मनोवैज्ञानिकों ने वृत्तियों का विश्लेषण किया है। मनुष्यों में कुछ मौलिक वृत्तियों के आधार पर उनकी सारी प्रवृत्तियां चलती हैं, परिणाम आते हैं। धर्म-शास्त्रों ने बहुत गहरा विश्लेषण किया था वृत्तियों का और प्रवृत्तियों का। उन्होंने कभी नहीं कहा कि प्रवृत्तियों को मिटाओ। मैं प्रश्न उपस्थित करता हूं बहुत बार लोगों के सामने और विशेषतः उनके सामने, जो दीक्षित होना चाहते हैं, घर से विरक्त होकर संन्यस्त होना चाहते हैं, श्रमण बनना चाहते हैं कि क्या अहिंसा को साधा जा सकता है? क्या ब्रह्मचर्य को साधा जा सकता है? क्या अपरिग्रह को साधा जा सकता है? लोग कहते हैं—ये सब साधे जा सकते हैं। हमने संकल्प कर लिया है कि हिंसा नहीं करेंगे, झूठ नहीं बोलेंगे, चोरी नहीं करेंगे, अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं करेंगे, परिग्रह नहीं रखेंगे।

प्रश्न है—संकल्प ले लिया, पर यह सिद्ध हो गया क्या? यदि संकल्प लेने मात्र से सारी बातें सिद्ध होतीं तो दुनिया में सबसे बड़ा शब्द का चमत्कार होता कि जो भी कहा, सिद्ध हो गया। हर कोई आदमी कहेगा कि मैं गरीबी नहीं चाहता। गरीबी को मिटा दूंगा—बात सिद्ध हो जाती। यह जो बुराई है इसे मिटा दूंगा। एक जादू का डंडा जैसा हो जाता, पर केवल शब्द के उच्चारण से कोई काम सधता नहीं। हमारे पास कोई ऐसा चिंतामणि रत्न नहीं है कि जो भी मुंह से कहा और सामने प्रस्तुत हो जाए। कहां है चिंतामणि? कहां है कल्पवृक्ष और कहां है कामधेनु? जो मन में कल्पना की, जो कामना की, चिंता की और वह सिद्ध हो गया। ऐसा तो कुछ भी नहीं है, फिर मात्र एक संकल्प के स्वीकार से, एक शब्द के उच्चारण से वह बात कैसे बन जाएगी? इस पर गंभीर चिंतन हुआ। तीर्थंकरों ने, आचार्यों ने एक मार्ग बताया कि गुप्ति की साधना करो, व्रत सिद्ध होगा। मनो गुप्ति, वचन गुप्ति और काया गुप्ति—इन गुप्तियों की साधना से व्रत सिद्ध होगा। मन स्थिर है, अहिंसा सिद्ध हो जाएगी।

मन निर्मल है, स्थिर है तो ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाएगा। मन स्थिर है, निर्मल है तो अपरिग्रह सध जाएगा, पर जब तक मन उतना ही चंचल है, मन बन्दर

बना हुआ भटक रहा है, दौड़ लगा रहा है, पदार्थ के प्रति दौड़ता है, व्यक्ति के प्रति दौड़ता है, घटनाओं के प्रति दौड़ता है, उतनी ही चंचलता, उतना ही विक्षेप और उतना ही आसक्तिभाव, सब चलता है तो क्या अहिंसा सध जाएगी? ब्रह्मचर्य सध जाएगा? साधु बनने मात्र से सब कुछ सध जाएगा? अगर ऐसा सुगम उपाय मिले तो मैं तो चाहूंगा कि सारी दुनिया को ही साधु बना लिया जाए। किसी को असंन्यासी रहने की आवश्यकता ही नहीं है। एक शब्द का उच्चारण किया और बन गया, पर अगर ऐसा होगा तो 'पुनर्मूषको भव' वाली बात आ जाएगी। जो साधक अपनी साधना के परिपाक के बिना आगे बढ़ जाता है, उसे पीछे लौटने की बात भी करनी पड़ती है।

पुनर्मूषकों भव

एक चूहा था। उसे बिल्ली का बहुत भय सताता था। एक बार एक ऋषि ने उसे वरदान दिया और वह बिल्ली बन गया। बिल्ली का भय मिटा और अब कुत्ते का भय सताने लगा। ऋषि ने उसे कुत्ता बना दिया। कुछ दिन बीते। ऋषि ने पूछा–अभय हो गए? वह बोला–अभय कैसे? अब शेर से डर लगता है। ऋषि ने उसे शेर बना दिया। अब भी भय नहीं मिटा। उसने पुनः ऋषि से कहा–अब मुझे किसी भी पशु से भय नहीं लगता, केवल शिकारी से डर लगता है। ऋषि ने पूछा–अब क्या चाहते हो? मनुष्य बना दूं? उसने कहा–नहीं, मैंने स्पष्ट अनुभव कर लिया है कि सभी अवस्थाओं में डर बना का बना रहता है। डर मिटेगा नहीं, चाहे बिल्ली, कुत्ता, शेर या शिकारी बन जाओ। मुझे तो पुनः चूहा ही बना दो। ऋषि ने कहा–तथास्तु पुनर्मूषको भव। वह पुनः चूहा बन गया।

डर मिटेगा नहीं, चाहे कुछ भी बन जाओ। वृत्ति बदले बिना आदमी कुछ भी बन जाए, कोई परिवर्तन नहीं होता। मूल बात है, भय की वृत्ति बदलने पर ही भय मिटता है।

वृत्ति की प्रधानता हमें स्वीकार करनी होगी। वृत्ति बदलती है गुप्ति की साधना से। गुप्तियां तीन हैं मन की गुप्ति, वचन की गुप्ति और काया की गुप्ति। हिंसा हमारी वृत्ति का एक परिणाम है। जब तक मनुष्य में प्रियता और अप्रियता का संवेदन तीव्र है, तब तक वह अहिंसक कैसे बन सकता है? जब तक मनुष्य में प्रियता और अप्रियता का संवेदन तीव्र है, तब तक वह ब्रह्मचारी कैसे बन सकता है? जब तक मनुष्य में प्रियता और अप्रियता की गहरी अनुभूति है तब

तक वह अपरिग्रही कैसे बन सकता है। हमारी जैसी वृत्ति होगी, वैसी ही हमारी प्रवृत्ति होगी। हमारा सारा आचरण और सारा व्यवहार हमारी मौलिक वृत्ति के आधार पर होता है। वृत्ति प्रवृत्ति को जन्म देती है। प्रवृत्ति परिणाम लाती है। यह एक पूरी शृंखला है। इस शृंखला में से एक को भी नहीं छोड़ा जा सकता।

समस्या क्या?

आज समस्या इसीलिए उलझी हुई है कि हम केवल परिणाम को मिटाना चाहते हैं। औरों की बात छोड़ दें, धार्मिक लोग भी परिणाम को मिटाना चाहते हैं। आदमी आता है, सीधा कहता है–महाराज! गुस्सा बहुत आता है। इसे छोड़ना चाहता हूं। झगड़े की आदत छोड़ना चाहता हूं। ये सारे परिणाम हैं, इनके पीछे भी तो कुछ है। उसकी भी खोज होनी चाहिए। क्रोध आता है, उसके पीछे भी कोई शारीरिक कारण होता है। क्रोध के पीछे मानसिक कारण होता है, पौद्‌गलिक कारण होता है। क्रोध के पीछे छिपा हुआ एक कारण है संस्कार। क्रोध का संस्कार है, एक वृत्ति है। राग और द्वेष की वृत्ति काम कर रही है। वह वृत्ति प्रवृत्ति को जन्म देती है। आदमी किसी के प्रति आसक्त होता है, किसी से घृणा करता है। किसी से डरता है, किसी से प्रेम करता है। वह इन सारी प्रवृत्तियों को जन्म देता है और ये प्रवृत्तियां फिर अपना परिणाम लाती हैं। जब घर में विवाद होता है, कलह होता है और झगड़ा होता है तब यही कहा जाएगा कि लड़ो मत, विवाद मत करो, झगड़ा मत करो, पर वह लड़ने वाला क्यों नहीं लड़ेगा? लड़ने की सामग्री तो पूरी भीतर में पड़ी है। लड़ने के कारण भी तो भीतर में सक्रिय हैं। लड़ने की पूरी शक्ति भीतर में काम कर रही है और हम आदमी से कहते हैं, लड़ो मत। हमने चूल्हा सुलगा दिया, ईंधन जला दिया और कहते हैं कि लपट! ऊपर मत उठो। गर्मी मत दो। अरे! तुमने अपने हाथ से चूल्हा जलाया, ईंधन डाला, आग सुलग उठी, भभक उठी आग, और कहते हो कि गर्मी मत दो, यह कैसे संभव होगा। आंच एक परिणाम है, ताप एक परिणाम है। उस परिणाम को कैसे मिटाया जा सकता है? आग हो और ताप न हो यह कैसे संभव है? यदि ताप को मिटाना है तो आग को बुझाना होगा। आग को बुझाना नहीं चाहते और ताप से बचना चाहते हैं–यह विपर्यास है। आदमी ने कुछ ऐसे उपाय भी किए हैं, पर परिणाम को मिटाने के सारे उपाय तात्कालिक होते हैं, वे स्थायी नहीं होते और बहुत फलप्रद भी नहीं होते। अपनी सारी समस्याओं और उलझनों पर हम ध्यान दें तो निष्कर्ष यही

आएगा कि हम केवल परिणाम की परिक्रमा कर रहे हैं। यह परिक्रमा इतनी बड़ी परिक्रमा हो जाती है कि जिसका कभी अंत नहीं होता और समस्या का कोई समाधान भी नहीं होता। हम मूल तक नहीं पहुंच पा रहे हैं। ऐसी भ्रांति होती है कि मूल सामने है, पर मूल पर ध्यान नहीं जाता।

समस्या की जड़

एक आदमी अपनी पत्नी को लेकर चुनाव अधिकारी के पास गया और शिकायत की कि मेरी पत्नी का नाम मतदाता की सूची में नहीं है। अधिकारी ने देखा और कहा—इसका नाम तो मृतक की सूची में है। पत्नी बोली—मैं जीवित खड़ी हूं। मृतक की सूची में कैसे? पति बोला—तुम बेवकूफ हो, क्या इतना बड़ा अधिकारी झूठ बोलेगा।

बड़ी विचित्र परिस्थिति होती है। मूल जीवित खड़ा है, हमारे सामने उपस्थित है, पर हम अधिकारी की बात पर विश्वास करेंगे, जीवित आदमी की बात पर विश्वास नहीं करेंगे। हमारी सारी वृत्तियां जो जीवित हैं, लड़ाने वाली वृत्ति जीवित है, गुस्सा लाने वाली, अहंकार पैदा करने वाली वृत्ति व संग्रह करने वाली वृत्ति जीवित है, सारी बुराइयों को जन्म देने वाली हमारी वृत्तियां जीवित हैं, हम उन पर विश्वास नहीं करेंगे, अधिकारी पर विश्वास करेंगे कि क्या इतना बड़ा अधिकारी झूठ थोड़े ही बोलता है? हम उस धर्म-गुरु की बात में विश्वास करेंगे, जो यह कहता है बस, तुम मेरी शरण में आ जाओ, सब कुछ मिट जाएगा। उस पर भरोसा करेंगे, अपनी जीवित वृत्तियों पर भरोसा नहीं करेंगे। समस्या का समाधान करना है तो हमारे लिए एक ही उपाय सामने है कि परिणाम पर ज्यादा भरोसा न करें। न हम परिणाम को ज्यादा चाहें और न परिणाम को मिटाना चाहें। वृत्तियों पर ध्यान केन्द्रित करें और उनके संदर्भ में प्रवृत्तियों का विश्लेषण करें कि कौन-सी वृत्ति किस प्रवृत्ति को जन्म दे रही है। परिणाम की चिंता अलग से करने की जरूरत नहीं। वह तो अपने आप आने वाला है। जो अपने आप हो, उसके लिए अधिक प्रयत्न की आवश्यकता नहीं होती। वह तो स्वतः प्राप्त होगा। उसे तो आना ही होगा, आप चाहें या न चाहें, प्रयत्न करें या न करें। अपेक्षा नहीं होती। हमारा कितना मतिभ्रम है कि जो स्वतः आने वाला है, उसके लिए सारा का सारा प्रयत्न चल रहा है और जो पैदा करने वाला है, जहां से आदमी बदल सकता है, जहां से आदमी अच्छा बन सकता है, जहां से आदमी बुरा बन सकता है, जहां मन की शांति उपलब्ध

हो सकती है, जहां सफलता और असफलता, विकास और ह्रास, शांति और अशांति, सत्य की उपलब्धि और अनुपलब्धि ये सारी बातें हो सकती हैं, उस बिंदु की खोज हम करना नहीं चाहते। यह ध्यान की प्रक्रिया, उस बिंदु की खोज की प्रक्रिया है, परिणाम की प्रक्रिया नहीं। परिणाम चाहने वाले लोग, तात्कालिकता में विश्वास करने वाले व्यक्ति, केवल वर्तमान को उपलब्ध होने वाले व्यक्ति, वर्तमान की घटना पर व्यग्रता से चिंतन करने वाले व्यक्ति कभी भी इस प्रक्रिया को उपलब्ध नहीं हो सकते और न ही वे ध्यान के गहरे सत्य तक जा सकते हैं। समग्रता से किसी वस्तु का विश्लेषण किये बिना जो होना चाहिए, वह नहीं होता, न ठीक परिणाम आता है, न ठीक प्रवृत्ति आती है।

हमने चिंतन के संदर्भ में पांच सूत्र प्रस्तुत किए। पहला सूत्र है समग्रता की दृष्टि। हमारी दृष्टि समग्रता की होनी चाहिए। समग्रता की दृष्टि होती है तो सत्य के प्रति हमारा झुकाव होता है। फलतः परिणाम यह आता है कि हमें सत्य उपलब्ध हो जाता है। यदि हमारे मूल में वृत्ति है आग्रह की, ऐकांतिक आग्रह की वृत्ति बैठी हुई है भीतर में, तो हमारा सारा प्रयत्न मिथ्या होगा। हम जो भी सत्य पकड़ेंगे, वह अधूरा होगा। वह सापेक्ष बात नहीं होगी, वह निरपेक्ष बात होगी। परिणाम होगा विवाद। कोई भी क्षेत्र विवादमुक्त नहीं है। जितने विवाद चलते हैं, राजनैतिक प्रणालियों के क्षेत्र में हों, चाहे दार्शनिक क्षेत्र में, चाहे सामाजिक प्रणालियों के क्षेत्र में, वे सारे विवाद इस एकांगी आग्रह के कारण चल रहे हैं। प्रत्येक दर्शन, प्रत्येक व्यक्ति यह प्रमाणित करना चाहता है कि उसकी प्रणाली, उसकी पद्धति सबसे अच्छी है। बात तो बहुत अच्छी है। यह विश्वास भी होना चाहिए कि बहुत बच्छी है, किंतु जब एकांगी बात आ जाती है, अधूरी बात आ जाती है तो कोई भी बात अच्छी नहीं। यह सही है कि भाषा में उतरने वाली कोई भी बात सर्वथा अच्छी नहीं होती, पूर्ण नहीं होती। कोई व्यक्ति कहे कि यह बात सबसे अच्छी है तो इसके साथ यह और जोड़ देना चाहिए कि बात अधूरी है। अधूरी अच्छी भी हो सकती है, पर वह पूरी बात तो हो नहीं सकती। भाषा का वह काम नहीं कि वह पूरे सत्य को अभिव्यक्ति दे सके। सत्य अनंत हैं, पर भाषा बहुत सीमित है। दुनिया के शब्दकोशों में दो-तीन लाख से ज्यादा शब्द नहीं हैं। शब्द करोड़ों में नहीं, केवल लाखों में हैं। लाख की संख्या में रहने वाले सीमित शब्द उस असीम सत्य को अथवा सांत शब्द अनंत को अभिव्यक्ति कैसे दे सकेंगे? कभी संभव नहीं।

भाषा की समस्या

कुछ लोग आत्मा-परमात्मा की चर्चा करते हैं, काफी उलझ जाते हैं। हंसी आती है। आत्मा तक वह व्यक्ति कभी नहीं पहुंचता, जो शब्द की परिभाषा से आत्मा को देखना चाहता है। परमात्मा तक वह व्यक्ति कभी नहीं पहुंच सकता, जो पारिभाषिक शब्दावली में परमात्मा को व्याख्यायित करता है। शब्द जिसको छूता नहीं, शब्द जिसका स्पर्श नहीं कर सकता, वह शब्द उसका प्रतिनिधित्व कैसे करेगा? जिस व्यक्ति का किसी राष्ट्र से संबंध नहीं और वह उसका प्रतिनिधि बन जाए, कितनी झूठी बात होगी? कौन उसे मानेगा और वह कैसे उस राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करेगा। भाषा में कोई क्षमता नहीं कि वह सत्य का प्रतिनिधित्व कर सके। यह तो एक अंधे आदमी की लकड़ी जैसी है। न देख पाने के कारण अंधा आदमी लकड़ी को टिका-टिका कर चलता है। क्या अंधे की लकड़ी को हम अधिक मूल्य दें? उसका जितना मूल्य है, उतना ही उसे दें। यह ठीक है कि भाषा के बिना हमारे जीवन में संपर्क नहीं होता, सामाजिक संपर्क नहीं होता। हमारे संबंध नहीं होते। हमारा काम नहीं चलता, इसलिए भाषा को भी एक स्थान देना पड़ता है, पर भाषा की आखिर क्षमता कितनी है? भाषा की क्षमता अधूरी है। एक बात कहता है आदमी और वह उलझ जाता है। कई बार भाषा की ऐसी स्थिति होती है कि सुलझते-सुलझते आदमी उलझ जाता है। उलझाने में हमारे शब्द बहुत बड़े सहयोगी बनते हैं। पता नहीं चलता और आदमी उलझ जाता है। उस भाषा के सहारे हम कैसे परम सत्य की बात सोच सकते हैं? मुझे तो कभी-कभी बड़ा अटपटा लगता है कि सत्य, परम सत्य जैसे शब्द गढ़े गए, क्या यही हमारी मानसिक भ्रांति नहीं है? आत्मा के बारे में जो कहा जा रहा है, कौन कह रहा है? कौन बतला रहा है? आत्मा तो बोलती नहीं। आत्मा तो अपने आपको प्रकट करती नहीं। आत्मा तो गहरे में, गहरे में और गहरे में है। सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम है, फिर कौन अभिव्यक्ति दे रहा है? एक बड़ा प्रश्न है।

भरोसा किस पर?

हम भाषा पर बहुत भरोसा न करें। मन पर भी बहुत भरोसा न करें। कुछ लोग आते हैं और कहते हैं, आत्मा के बारे में बातचीत करना चाहता हूं। मैं पूछता हूं क्यों? किसलिए? वह कहता है, आत्मा को जानना चाहता हूं। कुछ आते हैं और कहते हैं कि आत्मा का दर्शन करना चाहता हूं। मैं बहुत सीधा उत्तर देता हूं कि आत्मा को जानना चाहते हो या आत्मा के बारे में वाद-

विवाद करना चाहते हो? कोई नहीं कहता कि वाद-विवाद करना चाहता हूं। सब यही कहते हैं, जानना चाहता हूं। जानना चाहते तो बात छोड़ो, ध्यान करो, मन को शांत करो, मौन करो, अंतर्मौन करो और शरीर को स्थिर करना सीखो, सिद्ध करना सीखो। दरवाजे के पास जाओ। यह शरीर तो दरवाजा है। बड़ा विचित्र है, हमारे तत्त्वज्ञानी लोग दरवाजे के पास जाना नहीं चाहते, वे तो चाहते हैं बिल्कुल सीधे भीतर पहुंच जाएं। डाइरेक्ट अप्रोच होना चाहिए, कोई बिचौलिया नहीं होना चाहिए। रास्ता तो पार करना पड़ेगा, बीच के रास्ते पार करने पड़ेंगे, सीधे कैसे पहुंच जाएंगे। वे चाहते हैं सीधे पहुंच जाएं। हमने मान लिया है कि आत्मा और परमात्मा की चर्चा करता है, वह तत्त्वज्ञानी है और जो शरीर की चर्चा करता है, वह तत्त्वज्ञान से परे चला जाता है। शरीर गंदा है, उसकी क्या चर्चा करनी है?

मैंने देखा, जो लोग मन, वचन और काया– इन तीनों की साधना में लग जाते हैं वे आत्मा तक और परमात्मा तक भी पहुंच जाते हैं, किंतु इनकी साधना किए बिना जो लोग बातों में उलझ जाते हैं, अनंत काल बीत जाता है, लेकिन उन्हें न आत्मा मिलता है, न परमात्मा मिलता है, वे उलझते ही चले जाते हैं, उलझते ही चले जाते हैं, उन्हें कभी रास्ता नहीं मिलता। आदमी की वृत्ति ऐसी होती है कि वह जो सामने होता है, उस पर ज्यादा ध्यान दे देता है, समग्रता की दृष्टि से विचार नहीं करता। समग्र दृष्टि के बिना सम्यग् परिणाम भी नहीं होता। मुझे एक कहानी याद आ रही है।

समग्रता की दृष्टि

चार मित्र चले जा रहे थे। उन चारों में तीन थे वैज्ञानिक और एक था अवैज्ञानिक। वैज्ञानिक होना एक बात है और बुद्धिमान होना दूसरी बात है। वे तीन थे वैज्ञानिक, किंतु बुद्धिहीन। चौथा अवैज्ञानिक था, किंतु था बहुत बुद्धिमान। चारों जा रहे थे। जंगल आया। वहां एक शेर का अस्थिकंकाल पड़ा था। वैज्ञानिकों ने देखा, तत्काल वैज्ञानिक दृष्टि जागी और वे परस्पर बात करने लगे, आज तो प्रयोग का अवसर है। सुंदर अवसर मिला है, प्रयोग करना है। प्रयोग के द्वारा इसको जीवित कर देना है, अस्थिपंजर में प्राण फूंकने हैं। तीनों ने परामर्श किया। एक ने कहा–इसमें मांस और चमड़ी मैं उत्पन्न कर दूंगा। दूसरे ने कहा–इसमें रक्त मैं पैदा कर दूंगा। तीसरे ने कहा–इसमें प्राण-संचार मैं कर दूंगा। चौथा बोला–परिणाम क्या होगा? ठहरो, मुझे पेड़ पर चढ़ जाने

दो। वह पेड़ पर चढ़ गया। ऊपर बैठा-बैठा देखता रहा। तीनों ने अपना-अपना प्रयोग किया। कंकाल में प्राण-संचार हुआ और एक शेर खड़ा हो गया। वह भूखा था। उसने अपने सामने खड़े तीनों वैज्ञानिकों को मार डाला। उनका मांस खा भूख शांत की। चौथा अवैज्ञानिक, किंतु बुद्धिमान देखता रहा।

हम समग्रता की दृष्टि से चिंतन करें, एकांगी दृष्टिकोण से नहीं। जब कोई भी बात एकांगी दृष्टिकोण से पकड़ी जाती है, जहां समग्रता की बात नहीं होती, वहां हमारी वृत्ति भी ठीक काम नहीं करती, प्रवृत्ति भी ठीक काम नहीं करती और उसका सम्यक् परिणाम भी नहीं होता। समग्रता की दृष्टि में तीनों बातें जुड़ी हुई हैं। समग्रता के आधार पर चिंतन करने वाला केवल परिणाम के आधार पर निष्कर्ष नहीं निकालेगा। समग्रता की दृष्टि से चिंतन करने वाला व्यक्ति केवल प्रवृत्ति के आधार पर परिणाम नहीं निकालेगा। समग्रता की दृष्टि से चिंतन करने वाला व्यक्ति कोरी वृत्ति के आधार पर कोई निष्कर्ष नहीं निकालेगा। वह तीनों का अध्ययन करेगा।

व्यवहार मनोविज्ञान

मनोविज्ञान में आज व्यावहारिक मनोविज्ञान का अध्ययन हो रहा है। व्यवहार के आधार पर मनुष्य की मानसिक अवस्थाओं का अध्ययन हो रहा है, वृत्तियों का अध्ययन हो रहा है। लगता है कि मनुष्य ने समग्रता की दिशा को पकड़ा है। एक बच्चा माता-पिता का अनुशासन नहीं मानता, बड़ा उद्दंड है, हर किसी से लड़ लेता है, बच्चों को मारता है, पीटता है, गालियां बकता है, उसमें ये सारी प्रवृत्तियां हैं। प्रवृत्ति को भी माता-पिता मिटाना चाहते हैं। बच्चा लड़ेगा, मां को पता चलेगा, एक चांटा जड़ देगी, क्योंकि उस प्रवृत्ति को मिटाना चाहती है। क्या चांटा जड़ा और प्रवृत्ति मिट गई? अगर ऐसे मिट जाती तो सारे बच्चे सुधर जाते, पर आज तक हमने देखा है, जिन बच्चों को पीटते हैं, वे सुधरने की अपेक्षा ज्यादा बिगड़े हैं, खराब हुए हैं। क्यों बिगड़ते हैं, क्योंकि हमने एक बात को पकड़ा है कि प्रवृत्ति मिटे।

माता नहीं चाहती कि बच्चा हर किसी से लड़े। माता नहीं चाहती कि बच्चा अनुशासनहीन रहे। वह उस प्रवृत्ति को बदलना चाहती है, पर क्या प्रवृत्ति बदल जाएगी? जब तक उसकी वृत्ति नहीं बदलेगी, प्रवृत्ति भी नहीं बदलेगी। हमारा सारा प्रयत्न होना चाहिए वृत्ति को बदलने का। हमने प्रेक्षाध्यान के संदर्भ में मूल बात को पकड़ा है कि बच्चे की प्रवृत्ति को बदलना है तो हमें

वृत्ति पर ध्यान देना होगा। जब तक पिच्यूटरी और थायराइड ग्लैण्ड को जागृत नहीं किया जाता, तब तक हजार बार कहने पर भी, हजार प्रयत्न करने पर भी बच्चे को नहीं बदला जा सकता। सीधा उपाय एक ही है, बच्चे की आदतों को बदलना है तो दर्शन-केन्द्र पर ध्यान का अभ्यास कराओ, प्रवृत्तियां अपने आप बदल जाएंगी। वृत्ति को बदलना है तो प्रवृत्ति को बदलो। प्रवृत्ति बदलेगी तो परिणाम बदलेगा। लोग बड़े आग्रही होते हैं, पूरी बात को कभी नहीं पकड़ते, अधूरी बात पर भरोसा करते हैं। अधूरी बात पर भरोसा करते हैं, अधूरी बात पर सारा निर्णय लेते हैं। अधूरी बात कहीं से थोड़ी सुन ली, पूरी बात नहीं, पूरा पता नहीं और तनकर बैठ जाते हैं कि उसने ऐसा कह दिया। अरे, कब कहा, किस संदर्भ में, किस लहजे में कहा, किस परिस्थिति में कहा, यह सारी बात तो जानो। सारी बात जानने से शायद उसी समय अहंकार का पारा उतर जाता है। क्रोध का नशा भी उतर जाता है, पर पूरी बात को कोई नहीं जानता। कोरे शब्द कान में पड़ने चाहिए, उसने मेरे लिए ऐसा कह दिया, मैं खबर लेना चाहता हूं, मैं भी देखूंगा कि कैसे कह दिया? द्वंद्व युद्ध शुरू हो जाता है। इन अधूरी बातों से जीवन की इतनी अस्त-व्यस्तता हो जाती है कि ये सारी समस्याएं समाज में उलझती चली जाती हैं।

कोई आदमी स्वयं बदलना चाहे, कोई अपने बच्चे को बदलना चाहे, कोई अध्यापक अपने विद्यार्थी को बदलना चाहे, राष्ट्र के कर्णधार राष्ट्र को बदलना चाहें तो वे पहला प्रयत्न परिणाम को बदलने का करेंगे। वे कहेंगे स्मगलिंग, ब्लैक मार्केटिंग नहीं होना चाहिए, यह नहीं होना चाहिए, वह नहीं होना चाहिए। थोड़े आगे जाएंगे तो प्रवृत्तियों को मिटाने की बात आएगी कि ये प्रवृत्तियां नहीं चलनी चाहिए।

बड़े आश्चर्य का विषय है कि वृत्तियां तो विद्यमान रहेंगी और प्रवृत्तियां बदल जाएगी, परिणाम बदल जाएगा! अगर ऐसा होता तो आज दुनिया स्वर्ग बन जाती। सोने की बन जाती, पर ऐसा कभी नहीं होता। हम इस सच्चाई को गहराई से अनुभव करें कि वृत्ति को बदले बिना प्रवृत्ति को बदलने की कोई संभावना नहीं है और प्रवृत्ति नहीं बदलेगी तो परिणाम के बदलने की भी कोई संभावना हमारे सामने नहीं है। हम पूरी बात को पकड़ें। समग्रता की दृष्टि से चिंतन करें। उसके तीन पहलू हैं परिणाम, प्रवृत्ति और वृत्ति। ऊपर से चलते हैं तो यह क्रम बनता है, नीचे से चलते हैं तो कार्य-कारण की श्रृंखला में वृत्ति मूल

कारण है, प्रवृत्ति उसका कार्य है और परिणाम प्रवृत्ति का कार्य है। कार्य-कारण की शृंखला से ये तीनों जुड़े हुए हैं। तीनों सचाइयों का अनुभव करें। एक साथ अनुभव करें, ध्यान केन्द्रित करें इन पर।

हमने धर्म के क्षेत्र में भी एक सबसे बड़ी भूल की है और वह भूल यह है कि ध्यान को छोड़ दिया। बातों को पकड़े रखा, ध्यान को छोड़ दिया। हमने वृत्ति को बदलने वाली प्रवृत्ति को छोड़ दिया। हम परिणाम चाहते हैं कि धार्मिक आदमी को बदलना चाहिए। लोग पूछते हैं, अरे! इतना धर्म किया जाता है, पर समाज नहीं बदलता, मुझे लगता है, अनंतकाल तक धर्म चलेगा, फिर भी समाज नहीं बदलेगा। जिस समाज में, जिस धर्म के क्षेत्र में, वृत्ति तक पहुंचने की प्रवृत्ति नहीं है, वहां वांछित परिणाम नहीं आएगा। ध्यान की खोज इसलिए हुई थी कि प्रवृत्ति को जन्म देने वाली वृत्ति तक हम पहुंच सकें। इसके बिना हजार प्रयत्न करने पर भी हम सफल नहीं होंगे।

शिक्षा के क्षेत्र में मस्तिष्क को बदलने का प्रयत्न किया जा रहा है, किन्तु वृत्तियों को बदलने का और उनके परिष्कार का प्रयत्न नहीं किया जा रहा है।

परिवर्तन का सूत्र

यह सबसे बड़ी सचाई हमें अनुभूत हो रही है कि ध्यान के द्वारा दृष्टि का परिवर्तन और चारित्र अर्थात् आचरण का परिवर्तन किया जा सकता है। दृष्टि की मूढ़ता पैदा करने वाली मूर्च्छा तथा आचरण व्यवहार में मूढ़ता पैदा करने वाली मूर्च्छा–ये दोनों मूर्च्छाएं हमारे सामने हैं। जब तक ये दोनों परिष्कृत नहीं होंगी, तब तक दृष्टि और चारित्र का परिष्कार नहीं किया जा सकेगा। न मनुष्य का दृष्टिकोण बदलेगा और न चरित्र का कोई परिष्कार होगा। कुछ भी नहीं होगा। जो लोग प्रेक्षाध्यान में बैठे हैं, जिन्होंने प्रेक्षाध्यान का अभ्यास शुरू किया है, जो लोग चाहते हैं कि सचाइयों का अनुभव कर सकें, समझ सकें, उन लोगों के लिए बहुत जरूरी है, वे गहराई से अनुभव करें कि वे यहां न क्रोध को मिटाने आए हैं, न अहंकार को मिटाने आए हैं, न और दीखने वाले परिणामों को मिटाने आए हैं, वे आए हैं केवल वृत्ति के अनुसंधान के लिए, उस वृत्ति की खोज के लिए, जो वृत्ति इन सारे परिणामों को पैदा करती है, जिसके कारण ये सारे परिणाम आते हैं। ये परिणाम जब मिट जाते हैं तब सही दृष्टि होती है, सम्यक् दृष्टि होती है। अभी तो दृष्टि सम्यक् नहीं है। सारी दृष्टि आवेश के आधार पर चल रही है।

एक आदमी ने दूसरे से कहा—मैंने देखा कि तुम्हारी पत्नी अपने प्रेमी से बात कर रही थी। उसे गुस्सा आ गया। उसने हाथ में बंदूक ली और पूछा, कहां है? बोला, बगीचे में। उसने कहा—अभी जाता हूं गोली से मार देता हूं। चला आवेश में, बगीचे में जा पहुंचा और इतने में ध्यान आया, अरे! मेरा ब्याह अभी तो हुआ ही नहीं।

एक बनी बनाई धारणा है कि अपनी पत्नी किसी प्रेमी से बात करे, उसे गोली मार देनी चाहिए। मन का आवेश बना हुआ है, धारणा बनी हुई है। स्मृति खोई हुई है। यह पता नहीं है कि ऐसा हुआ है या नहीं। बस! अपनी पत्नी किसी प्रेमी से बात करे, यह कैसे सहन हो सकता है? गोली मार देना ही उसे दीखता है।

आज कुछ ऐसी ही विचित्र स्थिति चल रही है। आदमी आवेश से आविष्ट होकर मान्यता और धारणा के आधार पर ऐसे-ऐसे निर्णय कर लेता है कि उसे अपनी स्मृति ही नहीं कि वह क्या कर रहा है।

ध्यान के द्वारा हमारी खोई हुई स्मृति जागे। हम समग्रदृष्टि से अनावेश की परिस्थिति में सही चिंतन करें, सही निर्णय लें और सही निर्णय के आधार पर अपनी समस्या के मूल को खोजें और वहीं से समाधान प्राप्त करें।

5. अपने बारे में अपना दृष्टिकोण (1)

व्यक्ति शरीर की सीमा में जीता है। यह शरीर एक प्राकृतिक सीमा है। कोई भी व्यक्ति शरीर से मुक्त नहीं है और इस सीमा से भी मुक्त नहीं है। जहां सीमा होती है वहां कुछ बात अलग बन जाती है। एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से अलगाव है, चाहे कितना भी सट कर बैठा हो, चाहे कितना ही निकट का संबंधी हो, फिर भी इस अलगाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि शरीर ने एक सीमा बना दी। दो व्यक्ति पास में बैठे हैं। दोनों का संवेदन भिन्न-भिन्न हो रहा है। एक चिंता में डूब रहा है, दूसरा प्रसन्नता का अनुभव कर रहा है। चाहे सगे भाई हैं, पिता-पुत्र हैं, कुछ भी हैं और बहुत निकट बैठे हैं, गाढ़ मित्र हैं, गहरा संबंध अनुभव कर रहे हैं, बहुत परिचित हैं, फिर भी संवेदन दोनों का भिन्न-भिन्न चल रहा है, एक बहुत प्रसन्न, दूसरा बहुत अप्रसन्न। यह क्यों? कहा है पत्तेयं विन्नु, पत्तेयं वेयणा। ज्ञान प्रत्येक का होता है और संवेदन प्रत्येक का होता है, अपना-अपना होता है। ज्ञान अपना-अपना होता है। गुरु का ज्ञान शिष्य के काम नहीं आता। पिता का पुत्र के काम नहीं आता और बड़े भाई का ज्ञान छोटे भाई के काम नहीं आता। जैसे पैसा काम आता है वैसे ही यदि ज्ञान भी काम आता तो घर में एक ही आदमी पढ़ लेता, सबको पढ़ने की जरूरत नहीं होती। घर में एक आदमी कमा लेता है, फिर दूसरा कोई आदमी कमाए या न कमाए, काम चल सकता है। यदि पैसे की तरह ज्ञान का विनिमय होता तो एक आदमी पढ़ लेता, उससे सारे आदमी अपना काम चला लेते। तब शायद इतने स्कूलों और कॉलेजों की जरूरत नहीं होती और विद्या-संस्थानों में इतनी भीड़-भाड़ की भी जरूरत नहीं होती। इतनी सिर पच्ची भी नहीं होती। कौन किसलिए पढ़ता? एक पढ़ा हुआ है, सबका काम चल जाता।

संवेदन अपना-अपना

ज्ञान अपना-अपना होता है वैसे ही संवेदन भी अपना-अपना होता है।

एक आदमी का संवेदन दूसरे आदमी में संक्रांत नहीं होता। हर आदमी का अपना-अपना संवेदन होता है। जिस घटना का संबंध पांच व्यक्तियों से है, पांचों व्यक्तियों पर भिन्न-भिन्न संवेदन और भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएं होंगी। एक व्यक्ति एक घटना को लेकर इतना पीड़ित होता है कि रोटी हराम हो जाती है, जीवन बड़ा दुःखी बन जाता है। दूसरा व्यक्ति जो उसी घटना से संबद्ध है, इतने में टाल देता है, 'चलो, दुनिया में ऐसा ही होता है।' बात समाप्त।

एक भाई मेरे पास आकर बोला–'मुझ पर हर बात का बड़ा प्रभाव होता है। कष्ट का अनुभव करता हूं। कोई भी बात हो जाती है तो सारे दिन वही बात दिमाग में चक्कर लगाती है। बड़ा परेशान हूं, क्या करूं?' मैंने कहा–तुम एक सूत्र का आलंबन लो, एक सूत्र का उपयोग करो। जो भी घटना घटे, तुम यही कहा करो, 'दुनिया में ऐसा ही होता है, यह तो दुनिया का स्वभाव है। इसमें कोई नई बात नहीं। क्या आश्चर्य है? न हो तो आश्चर्य मानना चाहिए, हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।'

एक मित्र दूसरे मित्र को ठगे तो आश्चर्य होता है कि मेरे मित्र ने मुझे ठग लिया। अरे! तुमने सचाई को समझा ही नहीं, मित्र की प्रकृति को समझा ही नहीं। एक मित्र दूसरे मित्र को ठगे, इसमें क्या आश्चर्य है यह तो दुनिया की प्रकृति है, यह तो दुनिया का स्वभाव है, बात समाप्त हो जाती है। जब हम यह मान लेते हैं कि यह होता है, दुनिया में यह तो चलता है, फिर कोई कठिनाई नहीं होती।

प्रत्येक व्यक्ति के संवेदन में बहुत अंतर होता है। यह संवेदन की भिन्नता है, ज्ञान की भिन्नता है और शरीरगत पर्यायों की भिन्नता है। जन्म, शैशव, यौवन, बुढ़ापा, मृत्यु और रोग–ये सब शरीरगत होते हैं, प्रत्येक के अपने-अपने होते हैं। एक व्यक्ति के शरीर में अपना शैशव, अपना यौवन, अपना बुढ़ापा, अपना जन्म, अपनी मौत होती है। ये सब बातें प्रत्येक में होती हैं, अपनी-अपनी होती हैं। यह सीमा हमारा शरीर कर रहा है। शरीर ने इन सारी सीमा-रेखाओं को खींचा है। इनका निर्वाह शरीर कर रहा है।

संक्रमण की दुनिया

हमारे जीवन के दो पहलू बन जाते हैं एक वैयक्तिक और दूसरा सामाजिक। अधिकांशतः हम उस दुनिया में जीते हैं, जहां संक्रमण होता है, छूत की बीमारियां होती हैं। एक बीमारी होती है और वह बीमारी फैल जाती है, दूसरों

पर भी आक्रमण कर देती है। विचारों का भी संक्रमण होता है। एक आदमी के मन में एक विचार उठता है। ऐसा होता है कि वही विचार एक साथ हजारों लोगों के मन में उठ जाता है। विचार भी संक्रमणशील हैं। रोग भी संक्रमणशील हैं। जब संक्रमण के सूत्र से हम जुड़े हुए हैं तो हम नहीं कह सकते कि हमारा व्यक्तित्व कोरा वैयक्तिक है। यदि केवल वैयक्तिक दृष्टि से हम चिंतन करते हैं तो हमारा चिंतन सही नहीं होता। यदि हम केवल सामाजिक दृष्टि से चिंतन करते हैं तो भी हमारा चिंतन सम्यक् नहीं होता।

जीवन की दो प्रणालियां हैं एक समाजवादी जीवन की प्रणाली और दूसरी वैयक्तिक जीवन की प्रणाली। समाजवादी प्रणाली का आग्रह है कि व्यक्ति का कोई मूल्य नहीं है। व्यक्ति पुर्जा है, एक यंत्र है। उसका कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं है। समाजवादी चिंतन के लोग इस बात पर इतना अतिरिक्त भार दे रहे हैं कि व्यक्ति का व्यक्तित्व ही समाप्त होता चला जा रहा है। कोई मूल्य ही नहीं रह गया। कोई मूल्य नहीं, चाहे तब गोली मार दे, चाहे तब फांसी पर चढ़ा दे और चाहे तब उसे समाप्त कर दे। मात्र एक उपयोगिता रह गई कि मशीन ठीक काम दे रही है तो काम लें, काम नहीं दे रही है बाहर फेंक दें। जापान में पहले ऐसा होता था कि जब मां-बाप बूढ़े हो जाते, उन्हें जंगल में फेंक दिया जाता। बूढ़ा हो गया, अब काम का तो रहा नहीं। आदमी को तो वह चाहिए जो काम का हो। जो निकम्मा हो गया, वह हमारे किस काम का, फिर वह चाहे मां हो या बाप। वर्षों तक यह परंपरा चली है जापान में। बूढ़े मां-बाप को, बूढ़े आदमियों को पुत्र स्वयं जंगल में फेंक आते थे। वे सड़ते, मर जाते। कितना विचित्र दृष्टिकोण होता है मनुष्य का। केवल स्वार्थ और स्वार्थ। यह सामाजिक दृष्टिकोण भी एकांगी दृष्टिकोण बन गया।

दूसरी ओर वैयक्तिक दृष्टिकोण की प्रबलता है। उसमें आदमी अपनी ही बात सोचता है। अपने ही हित की बात सोचता है, अपने ही स्वार्थ की बात सोचता है। अपने से आगे दूसरे की बात सोचने की उसकी तैयारी नहीं है।

नितांत व्यक्तिवादी दृष्टिकोण और नितांत समाजवादी दृष्टिकोण—ये दोनों दृष्टिकोण आज समूचे समाज को उलझाए हुए हैं और हमारी समस्याएं भी उनके साथ उलझी हुई हैं।

हम स्वस्थ चिंतन की चर्चा करते हैं। हमें इन दोनों दृष्टियों का समन्वय करना होगा। व्यक्तिवादी और समाजवादी दृष्टिकोण का समन्वय किए बिना

एक स्वस्थ जीवन-प्रणाली का सूत्रपात नहीं किया जा सकता। वर्तमान की उलझनों को देखता हूं तो मुझे यही लगता है कि जिन देशों में यह समाजवादी प्रणाली प्रचलित है, वहां वैयक्तिक स्वतंत्रता समाप्त हो जाती है।

स्वतंत्रता

व्यक्ति के लिए तीन बातें बहुत महत्त्वपूर्ण होती हैं स्वतंत्रता, स्वावलंबन और अपने पुरुषार्थ पर विश्वास। ये व्यक्तिगत जीवन के तीन बड़े सूत्र हैं। मैं इन्हें व्यक्तिगत जीवन के तीन बड़े अवदान मानता हूं। बड़ी देन है स्वतंत्रता। आदमी जब स्वतंत्र नहीं होता तो फिर यंत्र में और मनुष्य में कोई अंतर नहीं लगता। रोटी के लिए, सुविधा के लिए, उपयोगिता के लिए कोई अपनी स्वतंत्रता बेच दे, उससे बड़ी दासता की मनोवृत्ति और क्या होगी? हमारे समाज में दासों की परंपरा रही है। नौकर अलग होता है, दास अलग होता है। नौकर वेतन लेता है, काम देता है। वह स्थायी नहीं होता। नौकर को चाहे तो मालिक छोड़ देता है। नौकरी है, करे या न करे उसकी स्वतंत्रता है, किंतु दासता की एक भयंकर परंपरा थी। व्यक्ति बिक जाता था। गाय को खरीदा, भैंस को खरीदा। खरीदने के बाद गाय और भैंस मालिक की हो जाती है, वैसे ही आदमी बिक जाता, मालिक खरीद लेता, दास उस मालिक का हो जाता, फिर वह दास कभी उसे छोड़ नहीं सकता। मालिक चाहे मारे, पीटे, सताए कुछ भी करे दास कभी छोड़ नहीं सकता था।

यह गुलामी की मनोवृत्ति, दासता की मनोवृत्ति कभी छूटती नहीं है। रोटी के लिए आदमी बिक जाए, सुख-सुविधा के लिए आदमी बिक जाए, यह गुलामी की मनोवृत्ति है। कोई भी मनुष्य इसके लिए बिकना नहीं चाहता, गुलाम बनना नहीं चाहता। अपने स्वतंत्र अस्तित्व को वह कायम रखना चाहता है। दुनिया में जितनी स्वतंत्रता प्रिय है उतनी शायद कोई बात प्रिय नहीं है।

मनुजी ने एक बहुत अच्छा वाक्य लिखा है सर्वं आत्मवशं सुखं, सर्वं परवशं दुःखम्। उनके सामने प्रश्न था कि सुख और दुःख को परिभाषित कैसे किया जाए? सुख क्या? दुःख क्या? सुख की क्या परिभाषा हो सकती है? किसी कवि ने तो कह दिया–

सुख-दुख क्या है? मनोभावना, जिसने जैसा कर माना।
मधुकर ने तो अपने मरने को अनन्त सुखमय जाना॥

यह तो एक साहित्यिक परिभाषा है। साहित्यिक मूल्य की परिभाषा

साहित्यिक होती है, किंतु मनुजी ने एक बहुत मर्म की बात लिखी है। उन्होंने एक सुंदर परिभाषा दी सुख की। सर्वं आत्मवशं सुखं अपनी स्वाधीनता ही सुख है। सर्वं परवशं दुःखम् परवश होने का नाम ही दुःख है। आदमी परवश हो गया। इसका मतलब है उसने दुःख मोल ले लिया। परवश होना और दुःखी होना–दो बातें नहीं होती। स्ववश होना और सुखी होना–इसमें कोई अर्थभेद नहीं होता।

स्वतंत्रता यह हमारा सबसे बड़ा सुख है। जो सुख रोटी खाने की अनुभूति में नहीं मिलता, वह सुख स्वतंत्रता की अनुभूति में मिलता है। रोटी खाना अच्छा तो है पर जहां स्वतंत्रता नहीं होती, क्या वहां रोटी खाना सुख हो सकता है? मुझे एक कहानी याद आ रही है।

सबसे मीठा क्या?

एक बार बादशाह ने सभासदों से पूछा–'बताओ, वह कौन-सी चीज है जो सबसे मीठी होती है।' कई लोगों से पूछा, सभासदों से पूछा। किसी ने कहा–रसगुल्ला सबसे मीठा होता है। किसी ने कहा–चॉकलेट सबसे मीठी होती है। अब जिसको जो मीठा लगता था, उसने वही बता दिया।

मीठे के बारे में जो प्रश्न पूछा जाए, एक उत्तर नहीं हो सकता। कोई कुछ बताता है, कोई कुछ बताता है। बीरबल बोला नहीं, चुप रहा। बादशाह को तो उससे पूछना था। सब बोले, संतोष नहीं हुआ। आखिर बादशाह को नाम लेकर पूछना पड़ा–'बीरबल! तुम भी बोलो।' वह बोला–महाराज! सब बोल रहे हैं, मेरे बोलने की क्या जरूरत है?' 'नहीं, तुम बताओ, सबसे मीठी क्या होती है?' बीरबल बोला–'सबसे मीठी होती है जबान।' बीरबल का उत्तर तो बड़ा बेतुका होता था। बादशाह ने कहा–तुम भी बड़ी ऊटपटांग बातें करते हो। जबान का क्या मीठा? जबान कैसी मीठी? गलत है तुम्हारी बात। या तो प्रमाणित करो या तुम्हारी बात गलत साबित होगी। उसने कहा–प्रमाणित करूंगा, आज नहीं, अवसर आने पर करूंगा।

कुछ दिनों बाद बीरबल ने कहा–जहांपनाह! मैं बेगम साहिबा को अपने घर भोजन के लिए निमंत्रित करना चाहता हूं। बादशाह बोला–ठीक है, जैसी तुम्हारी इच्छा। बीरबल ने भोजन की तैयारी की। भोजन के लिए बेगम गई। इतने बढ़िया भोजन बनाए कि बेगम साहिब खाकर आश्चर्य में पड़ गई कि इतने बढ़िया भोजन तो मेरे यहां भी तैयार नहीं होते। इतनी अच्छी तैयारी थी। न जाने कितनी बार प्रशंसा की होगी।

यह मनुष्य का स्वभाव है। उसमें खाने की कोई ऐसी आसक्ति है कि बढ़िया चीज सामने आती है तो खाता है कम और प्रशंसा करता है ज्यादा। खाते समय भी प्रशंसा करता है। बाद में भी प्रशंसा करता है। चार प्रकार की चर्चाएं होती हैं आहार की चर्चा, काम-वासना की चर्चा, देश संबंधी चर्चा और राज्य संबंधी चर्चा। जीवन का सबसे बड़ा भाग इन चर्चाओं में बीतता है। जो लोग यह कहते हैं कि समय नहीं मिलता, उनके जीवन का विश्लेषण किया जाए तो पता चलेगा कि उनके जीवन का बहुत सारा समय तो इन चार प्रकार की चर्चाओं-कथाओं में बीत जाता है, फिर बेचारे के पास समय बचता कहां है? कहां समय मिले? किसी से कहा जाए कि ध्यान करो तो उत्तर मिलता है, मुझे फुरसत नहीं है। इतना व्यस्त हूं, कर नहीं पाता और भी कोई अच्छा काम करने के लिए कहा जाए तो उत्तर मिलेगा कि समय नहीं है। न जाने कितने लोग सारे दिन राज्य की बात करते रहते हैं कि हमारा मंत्री अच्छा नहीं, हमारा प्रधानमंत्री अच्छा नहीं, हमारी नीतियां गलत हैं, यह हो रहा है, वह हो रहा है। आदमी इतनी चिंता करता है, मानो सारे राष्ट्र का भार उसी के कंधों पर है और सारे दायित्व उसी को निभाने हैं। समय तो हमारा बीत जाता है इन निकम्मे कामों में, फिर समय बचे कहां से?

बेगम ने भी भोजन की बड़ी प्रशंसा की। न जाने कितनी बार भोजन को सराहा। कितनी बार कहा–कैसा आतिथ्य किया है! कितना बढ़िया भोजन बनाया है। भोजन से निवृत्त होकर बेगम उठी, जाने लगी। बहुत प्रसन्न थी। जाते-जाते बीरबल ने अपने नौकर से कहा–'देखो आंगन को बहुत अच्छी तरफ साफ करना है, यहां तुर्कनी ने भोजन किया है, खूब साफ करना।' बेगम ने सुना, उसका खाया-पीया सारा जहर हो गया। अब तक तो भोजन बहुत मीठा था और अब कड़वा हो गया, इतना जहर बन गया कि दिमाग चकराने लगा। भोजन इतना जल्दी हजम हो गया कि पता ही नहीं चला। भोजन समाप्त हो गया। बेगम आई। बादशाह ने पूछा–कैसा आतिथ्य किया?

'बेगम बोली–आपने मुझे कहां भेज दिया?'

'क्या हुआ?'

'खाया-पीया सारा हराम हो गया। सारा जहर बन गया।'

'क्या भोजन ठीक नहीं कराया?'

'नहीं भोजन तो अच्छा कराया।'

‘तो फिर क्या हुआ?’

‘जहांपनाह! खाने के बाद आने लगी तो बीरबल ने ऐसी बात कही ‘भला, आपका सेवक होकर ऐसी बात कह सकता है! धूर्त आदमी, एक दुश्मन भी ऐसी बात नहीं कह सकता। मेरा इतना अपमान किया।’ उसने सारी बात बादशाह को सुनाई। बादशाह की भृकुटी भी तन गई। वह गुस्से में आ गया। सभा में आकर बैठ गया। बीरबल आया तो सामने भी नहीं देखा। बीरबल ने देखा, काम तो बन गया। आंखें, भृकुटी तनी हुई थीं। बीरबल आकर बैठ गया, अपने स्थान पर। कुछ देर बाद बादशाह का गुस्सा कुछ शांत हुआ, पारा थोड़ा नीचे उतरा, बादशाह बोला– बीरबल! तुमने कितना बड़ा अपराध किया है?

बीरबल बोला–जहांपनाह! मैंने तो कोई अपराध नहीं किया है।

‘तुमने क्या कहा?’

‘कुछ भी नहीं।’

‘तुमने भोजन करने के बाद बेगम साहिबा के लिए कहा था ‘तुर्कनी बैठी थी, जगह रगड़ कर साफ करना।’

थोड़ा स्मृति पर जोर डालते हुए ‘हां, यह तो मैंने कहा था।’

‘क्यों कहा?’

‘आपको प्रमाण देना था।’

‘अरे! कैसा प्रमाण?’

‘यही कि जबान का क्या मीठा और क्या खारा! देखिए, मेरी इस जीभ ने मेरे सारे प्रयत्न को धूल में मिला डाला। मैंने कितना श्रम किया, कितना खर्च किया। आप मुझे एक वर्ष में जितना वेतन देते हैं, वह तो मैंने एक ही दिन में गंवा दिया। मैं तो पूरा खाली हो गया। मेरा इतना सारा श्रम बेकार गया। केवल एक जबान आपको याद रह गई, वह आपके सामने आ गई। मेरा सारा श्रम ऐसे ही चला गया। मुझे तो आपको प्रमाण देना था कि जीभ कितनी मीठी होती है और कितनी कड़वी होती है।’ बादशाह बिल्कुल मौन और शांत हो गया।

जीभ मीठी होती है और जीभ कड़वी होती है। हमारे जीवन की यही स्थिति है। हमारे जीवन का यही चित्र है जो हमारे सामने प्रस्तुत होता है। स्वतंत्रता सबसे मीठी होती है। स्वतंत्रता के साथ यदि रूखी रोटी भी मिलती

है तो बहुत मीठी होती है और परतंत्रता के साथ बीरबल का पूरा आतिथ्य मिलता है तो भी अत्यंत कड़वा और जहरीला होता है। हमें वास्तव में मिठास का अनुभव ही कहां है।

मैंने एक छोटे शिविरार्थी से कहा–तुम स्वाद के लिए रोटी को व्यंजन के साथ मत खाओ, फिर देखो कि गेहूं कितना मीठा होता है। मुझे लगता है, नमक-मिर्च मसालों के साथ गेहूं की रोटी खाने वालों को गेहूं के स्वाद का बिल्कुल ही पता नहीं लगता। हमारे तो स्वाद ही बस दो हैं नमक या चीनी। इसके सिवाय न गेहूं के स्वाद का पता, न शाक-सब्जियों के स्वाद का पता। तोरु का, खीरे का स्वाद कैसा होता है, आपको पता कैसे चले? उस पर तो नमक और मिर्च हावी हो जाते हैं।

स्वाद स्वतंत्रता का

स्वतंत्रता का अपना इतना बड़ा स्वाद होता है, किंतु उस पर सुख, वैभव और सुविधावाद के मसाले इतने हावी हो जाते हैं कि हमें स्वतंत्रता के स्वाद का पता ही नहीं चलता, अनुभव ही नहीं होता। जिस व्यक्ति ने एक बार भी गेहूं की कोरी रोटी खाई है, उसे पता लग जाएगा कि गेहूं कितना मीठा होता है। जिस व्यक्ति ने एक बार भी स्वतंत्रता का अनुभव किया है उस व्यक्ति को पता लग जाएगा कि स्वतंत्रता का स्वाद कितना अच्छा होता है।

राणा प्रताप पहाड़ों में घूमते रहे, बड़े-बड़े स्वार्थों को ठुकराते रहे। क्यों ठुकराते रहे? क्यों इतने कष्टों को झेलते रहे? क्यों इतनी कड़ी परिस्थितियों को सहन करते रहे? जहां राजकुमार को खाने के लिए रोटी नहीं, रोटी के लिए बेचारा राजकुमार तरसता रहा। भूखा था, राजकुमार के लिए रोटी बनाई जा रही थी। रोटी बना कर रखी, इतने में बिलाव आया, झपट कर ले गया, वह देखता रह गया, तरसता रह गया। भला, एक राजकुमार इस अवस्था में रहे, आखिर क्यों? प्रताप ने स्वतंत्रता का स्वाद चख लिया था। उसे कोई भी दूसरा स्वाद अच्छा नहीं लग रहा था। न शासन का, न वैभव का, न राज्य का, न सत्ता का। उन्हें कोई भी स्वाद प्रभावित नहीं कर रहा था।

हमारी स्वतंत्रता का सर्वोपरि मूल्य होता है। व्यक्ति को अस्वीकार करने का अर्थ होता है कि हम स्वतंत्रता को अस्वीकार कर रहे हैं। वर्तमान की शासन प्रणाली, वर्तमान की जीवन प्रणाली और वर्तमान की नागरिक पद्धति को देखता हूं तो ऐसा लगता है कि धीरे-धीरे व्यक्ति का व्यक्तित्व और उसकी

स्वतंत्रता समाप्त होती जा रही है। व्यक्ति एक यंत्र का पुर्जा बनता जा रहा है। कितनी परतंत्रता! व्यक्ति घर में एक खिड़की निकालने के लिए स्वतंत्र नहीं है। कारपोरेशन की स्वीकृति चाहिए। यह तो ठीक है कि पड़ोसी को कठिनाई पैदा हो, ऐसी बात तो नहीं होनी चाहिए, वहां तो आपत्ति हो सकती है, पर किसी को कोई आपत्ति न हो, फिर भी वह बात मान्य न हो, यह विडंबना है। इतना कानूनों से जीवन जकड़ गया है कि स्वतंत्रता तो शायद ढूंढने पर भी न मिले। जीवन की यह बहुत विचित्र स्थिति होती जा रही है।

स्वावलंबन

हमारे वैयक्तिक जीवन की दूसरी फलश्रुति है–स्वावलंबन। स्वावलंबन कहां है? इतना परावलंबन होता है कि आदमी दूसरे पर निर्भर होता चला जा रहा है। आपने अमरबेल का नाम सुना होगा। नाम तो बहुत सुंदर, पर बड़ी खतरनाक बेल होती है। जिस पौधे पर चढ़ जाती है, उसका तो अंत ही समझिए। अपने पैरों पर खड़ी नहीं होती। दूसरे का आलंबन ढूंढ़ती है, दूसरों के सहारे खड़ी होती है। बड़ी अजीब प्रकृति है। जिसके सहारे खड़ी होती है, उसे खाना शुरू कर देती है। कहा जाता है कि अमरबेल एक किलोमीटर तक अपना पैर फैला देती है। वह दूसरों पर फैलती है और दूसरों को समाप्त करती चली जाती है। परावलंबन का सबसे अच्छा उदाहरण है अमरबेल। आदमी भी कम परावलंबी नहीं है, अमरबेल से कम खतरनाक नहीं है। वह भी दूसरों के कंधों पर अपना वैभव, अपनी शान, अपना ऐश्वर्य चलाता है और उनको चट करता चला जाता है।

बड़े से बड़ा उद्योगपति, बड़े से बड़ा धनपति नौकर रखता है। उसके आधार पर उसका सारा ठाट-बाट चलता है, बड़प्पन चलता है। नौकर-चाकर न हो, आदमी काम करने वाला न हो तो बड़प्पन की सारी मर्यादा टूट जाए। फर्क क्या पड़े? कोई फर्क नहीं पड़ता। बड़प्पन तब चलता है जब सामने 10-20 काम करने वाले हों। तब लगता है कि कुछ है। जैसे एक मजदूर को सारा काम अपने हाथ से करना पड़ता है, वैसे ही यदि एक धनपति को भी सारा काम अपने हाथ से करना पड़े तो अहंकार भी टूट जाता है और बड़प्पन का मानदंड भी टूट जाता है। थोथा घमंड भी टूट जाता है। कहां चले, कैसे चले, फिर फर्क ही क्या पड़े? आदमी करोड़पति किसलिए बने? इसलिए बनता है कि उसे सारी सुविधाएं मिल जाती हैं। वह इतना परावलंबी बन जाता है कि बिना

नौकर के उसका आना-जाना, खाना-पीना सब बंद हो जाता है। नौकर की उपयोगिता को वह स्वीकार करता है, पर उसकी आवश्यकताओं को नकारता जाता है। नौकर बीमार होता है तो वह सोचता है, अगले का भाग्य अगला जाने, काम के समय सारा काम नौकर से होता है, पर समय पर उसे अंगूठा दिखा देता है। क्या यह परावलंबन अमरबेल से कम है?

बम्बई की एक घटना है। आफिस में तार आया पड़ा था अधिकारी के टेबल पर। अधिकारी आया, आते ही जल्दीबाजी में तार पढ़ा तो उसमें लिखा था, तुम्हारी 'मां मर गई है, जल्दी चले आओ।' उसने और कुछ नहीं देखा। उसकी मां भी बूढ़ी थी। उसने सोचा–मेरी मां मर गई। वह उदास हो गया, गमगीन हो गया, बड़ा चिंतित था। जाने की तैयारी कर रहा था। इतने में एक कर्मचारी आकर बोला–'सर! मेरी मां मर गई, तार आया है। मुझे छुट्टी चाहिए। तार मैं आपकी टेबल पर रख गया था।' अधिकारी ने सुना, वह राजी हो गया। मन की विषमता भी समाप्त, जाने की तैयारी भी समाप्त। अधिकारी ने कहा–बूढ़े मरते ही रहते हैं। आज मां मर गई, कल और कोई मर सकता है। आए दिन छुट्टी ही छुट्टी! ऐसी डांट दी। बेचारे की हिम्मत ही नहीं हुई कि दूसरी बार कह सके, मुझे छुट्टी दो।

यह क्या है? जिस आदमी के सहारे सारी सुविधाएं उपलब्ध हो रही हैं, उस व्यक्ति में कठिनाई आती है तो आंखें बंद हो जाती है। ऐसा अंधापन आता है कि कुछ दिखाई ही नहीं देता। इस व्यक्तिवादी मनोवृत्ति ने ही समाजवादी प्रणाली को प्रेरित किया है। समाजवाद का विकास अकारण नहीं हुआ है। उसके पीछे एक प्रेरणा है। हर घटना के पीछे एक प्रेरणा होती है। व्यक्तिवादी दृष्टिकोण इतना सीमातीत हो गया, स्वार्थ इतना सघन हो गया कि दूसरे व्यक्ति की कठिनाइयों, सुविधाओं और असुविधाओं की ओर ध्यान देने का भी समय बचा नहीं। इस परिस्थिति ने ही एक प्रतिक्रिया पैदा की, एक आग पैदा की, एक चिनगारी पैदा की और एक नई बात सामने आई।

परावलंबन की कहानी वैयक्तिकता के साथ जुड़ी हुई है। आज व्यक्ति इतना परावलंबी हो गया कि उसने स्वावलंबन को बिल्कुल भुला डाला है। लगता तो यह है, यदि दूसरा सामने काम करने वाला मिलता हो तो शायद कुछ लोग तो हाथ हिलाना भी पसंद नहीं करेंगे। मुंह में कौर डालना भी नहीं चाहेंगे। चाह रहे हैं कि ऐसी मशीन का निर्माण हो जो केवल रसोई ही न पकाए, मुंह

में कौर भी देदे, फिर ऐसी मशीन की खोज भी करनी होगी, जो पचा भी दे। पचाने की भी फिर क्या जरूरत है? इतनी सुविधावादी मनोवृत्ति बन जाती है कि आदमी हर बात के लिए दूसरों का मुंह ताकता रहता है। इससे एक बहुत बड़ा अनर्थ हुआ है कि आदमी श्रम करना भूल गया।

मूल्य पुरुषार्थ का

हमारे शरीर का स्वभाव है श्रम, पुरुषार्थ। यह व्यक्तिगत जीवन की तीसरी फलश्रुति है। जिसे अपने पुरुषार्थ पर विश्वास नहीं होता, वह आदमी सब कुछ होने पर भी कुछ भी उपलब्ध नहीं कर पाता, परंतु बहुत लोग इस ओर ध्यान नहीं देते, क्योंकि बड़ा आदमी तो यह समझता है कि काम करना छुटपन की निशानी है। अपने हाथ से काम करना छुटपन की बात है और दूसरों के देखते काम करना तो और भी छुटपन की बात है। हम इस सचाई को समझें कि शरीर की स्वस्थता के लिए श्रम आवश्यक है, जरूरी है।

मेरे मन में बहुत बार प्रश्न होता था कि मजदूरों को कितना श्रम करना पड़ता है? मुनियों को कितना श्रम करना पड़ता है? वे गोचरी के लिए जाते हैं, पानी लाते हैं, धूप में जाते हैं, वजन उठाते हैं, कितना काम करना पड़ता है? चिंतन आता था, किंतु जैसे-जैसे इस सिद्धांत को समझा, मुझे यह सचाई समझ में आ गई कि शरीर के जिस अवयव का श्रम नहीं होता, वह अवयव बेकार, निकम्मा और रुग्ण बन जाता है। आरोग्य का सबसे बड़ा सूत्र है श्रम। प्रत्येक अवयव को श्रम चाहिए। यदि स्वस्थ रहना है तो हाथ को भी श्रम चाहिए। सभी को, हर अवयव को उचित श्रम चाहिए। जिस अवयव को श्रम नहीं मिलता, वहां रक्त का संचार ठीक नहीं होता। जहां रक्त का संचार ठीक ढंग से नहीं होता, वह अवयव अपने आप रुग्ण बन जाता है। उसके लिए किसी कीटाणु के आक्रमण की, संक्रमण की अपेक्षा नहीं होती। आज के बढ़ते हुए रोगों का सबसे बड़ा कारण है श्रम का अभाव। शिविर में आते हैं, योगासन करते हैं। किसलिए? यह बहुत बड़ी साधना नहीं है। साधना का दृष्टिकोण भी हो सकता है, पर योगासन कोरी साधना ही नहीं है। उसमें सबसे पहली बात है कार्यसिद्धि, काया को साध लेना, काया को स्वस्थ रखना। शरीर स्वस्थ नहीं है तो ध्यान नहीं हो सकता। ध्यान के लिए शरीर स्वस्थ चाहिये। योगासन करते हैं, उसका स्वास्थ्य पर भी असर आता है।

प्रश्न होता है स्वावलंबन और पुरुषार्थ में क्या अंतर है? पुरुषार्थ हमारे

शरीर की प्रक्रिया है। अंगों को काम में लेना और नियमित करना, यानी शक्ति का उपयोग करना है पुरुषार्थ और अपनी शक्ति पर भरोसा करना है स्वावलंबन। पहले स्वावलंबन होता है। स्वावलंबन होता है तो पुरुषार्थ होता है। अपनी शक्ति पर भरोसा नहीं है तो फिर स्वावलंबन की बात नहीं आती। जिसे अपने पैरों पर भरोसा नहीं है, उसे लाठी लेनी पड़ती है या फिर बैशाखी के सहारे चलना पड़ता है। अपनी शक्ति पर भरोसा होना पहली बात है। यह स्वावलंबन का दृष्टिकोण है और अपनी शक्ति का उपयोग करना, काम में लाना, हमारा पुरुषार्थ है।

शिविर का आकर्षण

शिविर का आकर्षण है आध्यात्मिक साधना। मन में यह दूसरा आकर्षण है कि यहां आने पर शरीर भी ठीक होता है। यह सबसे बड़ा आकर्षण है। होना तो चाहिए आध्यात्मिकता का आकर्षण, पर अमूर्त बात तक पहुंचने के लिए आदमी को बहुत समय लगता है। मूर्त्त बात को पकड़ने में कोई कठिनाई नहीं होती। वह तत्काल पकड़ में आ जाती है, बहुत जल्दी समझ में आ जाती है।

आदमी सुनता है कि अमुक गया, ध्यान किया और उसकी बीमारी ठीक को गई। यह ठीक हो गया, वह ठीक हो गया। एक कान से दूसरे कान तक बात पहुंचती है, आकर्षण हो जाता है। अभी एक भाई से मैंने पूछा, 'महाराष्ट्र से आए हो? इतनी दूर से क्यों आए हो?' उसने कहा, 'कुछ गड़बड़ है शरीर में। स्वस्थ नहीं हूं। मैंने सब जांच करवा ली, फिर भी कोई फर्क नहीं पड़ा तो यहां आया हूं। यहां अपने आपको ठीक अनुभव कर रहा हूं।'

स्वास्थ्य की प्रेरणा भी अस्वाभाविक नहीं लगती। शरीर भी ठीक नहीं है तो बेचारा और आगे क्या करेगा? जब चाकू ही ठीक नहीं है तो बेचारी स्त्री सब्जी कैसे काटेगी? साधन तो चाहिए, कोई न कोई उपाय और उपकरण तो हमारे पास चाहिए। हमारा शरीर एक उपकरण है। यह धार है चाकू की, जो सब कुछ ठीक-ठाक कर देती है। शिविर में शरीर स्वस्थ क्यों होता है? शिविर में आने वालों की गोलियां क्यों छूट जाती हैं? यहां घंटा भर तक आसन और प्राणायाम करना होता है। जहां कहीं रक्त का अवरोध होता है, सारे रक्त की प्रणालियां स्वस्थ हो जाती हैं, सब ठीक-ठाक हो जाता है। आपने देखा होगा कि सड़क पर इधर से भी गाड़ियां आती हैं, उधर से भी आती हैं, दाएं-बांए गाड़ियां क्रास करती हैं। पुलिस का आदमी खड़ा है। हाथ से दाएं-बाएं करता है। एक ओर अवरोध एक मिनट का हुआ तो कभी-कभी तो सैकड़ों गाड़ियों

की कतारें लग जाती हैं। हमारे शरीर में न जाने वर्षों तक यह अवरोध लगा हुआ है, बेचारे रक्त कणों की कितनी बड़ी कतार लगी हुई है कि उसे पार कराने में भी आपको दिन लग जायेंगे।

जब तक पूरा श्रम शरीर को नहीं मिलता, रोग समाप्त नहीं होते, हमारे रक्त की प्रणालियां स्पष्ट नहीं होतीं, स्वास्थ्य उपलब्ध नहीं होता। सचमुच शरीर को श्रम चाहिए। श्रम बहुत आवश्यक है। कोई श्रम न कर सके तो शायद योगासन का आलंबन लेना पड़ सकता है। योगासन के द्वारा शरीर को भी स्वास्थ्य मिलता है। श्रम हमारे जीवन के लिए बहुत आवश्यक है।

स्वतंत्रता, स्वावलंबन और पुरुषार्थ पर विश्वास–ये व्यक्ति की तीन वैयक्तिक आवश्यकताएं हैं। व्यक्ति की तीन सीमाएं हैं, जो व्यक्ति को अलग व्यक्तित्व प्रदान करती हैं।

6. अपने बारे में अपना दृष्टिकोण (2)

व्यक्ति अकेला होता, यदि उपयोगिता नहीं होती। उपयोगिता ने व्यक्ति को बांधा और समाज बन गया। व्यक्ति अकेला होता, यदि अपेक्षा नहीं होती। व्यक्ति अकेला होता, यदि योग नहीं होता। व्यक्ति जुड़ता है। उसमें योग की क्षमता है, जुड़ने की क्षमता है, संबंध की क्षमता है। इस संबंध की क्षमता से व्यक्ति ने समाज का निर्माण किया। योग और उपयोगिता–ये दो परस्परावलंबन के आधार बन गए। तीसरा आधार बना-प्रभाव। यदि एक दूसरे पर, एक दूसरे का प्रभाव नहीं पड़ता तो समाज नहीं बनता। उपयोगिता, प्रभाव और योग–ये तीन आधार हैं समाज की संरचना के। व्यक्ति अकेला नहीं रहा, समाज बन गया। उपयोगिता बहुत है, क्योंकि अपेक्षाएं बहुत हैं। खाने को चाहिए, पीने को चाहिए, रहने को मकान चाहिए, कपड़ा चाहिए और भी न जाने क्या-क्या नहीं चाहिए। बहुत सारी अपेक्षाएं हैं। अकेला व्यक्ति कभी इन सारी अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर सकता। उपयोगिता और अपेक्षाएं जुड़ी हुई हैं। स्वावलंबन की चर्चा मैंने की थी।

समाज का आधार

वैयक्तिकता का एक लक्षण हैं स्वावलंबन, किंतु सही अर्थ में, थोड़े गहरे में उतरकर देखा जाए तो स्वावलंबी यह शब्द भी सापेक्ष ही है। एक अपेक्षा से ही आदमी स्वालंबी होता है। वहां सूत्र बनता है परस्परावलंबन। इसका अर्थ है एक दूसरे को एक दूसरे का आलंबन। एक दूसरे को एक दूसरे का सहारा। परस्परावलंबन के आधार पर समाज का निर्माण होता है। एक आदमी खेती करता है, दूसरा व्यापार, तीसरा औजार का निर्माण करता है। चौथा खेती के साधनों का निर्माण करता है। इन सबका योग होता है और अनाज बाजार में आ जाता है। किसान है खेती करने वाला, पर यदि औजार नहीं है, ट्रेक्टर नहीं है तो कहां से खेती होगी? हो नहीं सकेगी। किसान को औजार चाहिए, उपकरण चाहिए। उपकरण कहां से आएगा? एक शिल्पी हल भी बना लेता है, ट्रेक्टर

भी बना लेता है। यदि लोहा नहीं है, काठ नहीं है तो कहां से होगा निर्माण! ये भी चाहिए, खदान भी चाहिए और मजदूर भी चाहिए जिससे कि खदान से लोहा निकाले और सप्लाई करे। इतना सब कुछ जुड़ा हुआ है। परस्परावलंबन में इतना सब कुछ योग है। सब एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। एक व्यक्ति अलग-सा लगता है, चलता है तो ऐसा लगता है, पर वह अकेला नहीं चल रहा है। उसके साथ सैकड़ों-सैकड़ों व्यक्ति चल रहे हैं। सैकड़ों व्यक्तियों की परछाई लिए हुए चल रहा है। पेट में रोटी है इसलिए चल रहा है, अकेला कहां चल रहा है। पत्नी रोटी न परोसे तो पति को पता चल जाता है कि कैसे चला जाता है, पैर ठंडे पड़ जाते हैं। घुटने टिक जाते हैं। चलने की शक्ति नष्ट हो जाती है। एक आदमी चल रहा है तो उसके साथ-साथ रोटी भी चल रही है। रोटी चल रही है तो साथ-साथ में व्यापारी भी चल रहा है। साथ-साथ में किसान भी चल रहा है। साथ-साथ में औजार बनाने वाला शिल्पी भी चल रहा है। एक आदमी के साथ अनेक परछाइयां चल रही हैं, तब वह आदमी चल रहा है। केवल अकेला चलेगा तो वह चलेगा नहीं, स्थिर ही होगा। वह गतिमान नहीं हो सकता। हमारी गति के साथ न जाने कितने लोगों का योग है, कितने जुड़े हुए हैं।

हम जब योग की बात को भुला देते हैं, इस जुड़े हुए की बात भुला देते हैं तब अकेलेपन की बात सोचते हैं, व्यक्तिगत बात सोचते हैं, किंतु जैसे ही हम दूसरे कोण की ओर मुड़ते हैं और ध्यान देते हैं कि योग के बिना, इस जुड़ाव के बिना कोई भी आदमी कुछ भी नहीं कर सकता तो समाज की प्रतिमा हमारे सामने उपस्थित हो जाती है। एक प्रयत्न के साथ सैकड़ों प्रयत्न स्पष्ट उभर आते हैं। अकेला आदमी कोई भी कुछ नहीं कर सकता। सबका योग मिलता है तब पूरा काम बनता है।

यह योग या संबंध इतना सूक्ष्म है कि पता ही नहीं चलता। स्थूल दर्शन में कोई पता नहीं चलता, किंतु सूक्ष्म में हर चरण पर उस संबंध का आभास होता है। एक आदमी दूसरे के घर जा रहा है। वह गति कर रहा है, चल रहा है क्योंकि संबंध जुड़ा हुआ है। वह उससे जुड़ा हुआ है, इसलिए जा रहा है। अपने मित्र के घर जाता है, अपने संबंधी के घर जाता है। जिसके साथ जिसका संबंध जुड़ा है वह उसके पास जाता है। संबंध की प्रेरणा उसे वहां ले जाती है। उपयोगिता है, वहां आदमी चला जाता है।

परस्परावलंबन

योग, उपयोग और प्रभाव–इन तीन सूत्रों के आधार परस्परावलंबन की बात समझ में आती है। कोई भी व्यक्ति परस्परावलंबन के बिना अपनी जीवन-

यात्रा को नहीं चला सकता और इस दुनिया में अपने अस्तित्व को कायम भी नहीं रख सकता। सब कुछ एक दूसरे पर टिका हुआ है। दूसरी मंजिल पहली मंजिल पर टिकी हुई है और पहली मंजिल नींव पर टिकी हुई है। नींव भूमि पर टिकी हुई है। यदि भूमि नहीं हो तो नींव नहीं टिकेगी। अधर में कुछ भी नहीं है। सब आधार पर टिका हुआ है। जो अधर में है वह सूक्ष्म जगत् है, हमारे व्यवहार का जगत नहीं है। व्यवहार का पूरा का पूरा जगत आधार पर टिका हुआ है। इसलिए हर बात में आधार खोजा जाता है।

समाज एक आधार पर चल रहा है। जहां परस्परावलंबन की विस्मृति होती है। वहां सामाजिक जीवन में समस्याएं पैदा होती हैं। वर्तमान की समस्याओं का यदि विश्लेषण किया जाए तो पता चलेगा कि गरीबी की समस्या उतनी भयंकर नहीं जितनी भयंकर है परस्परावलंबन की समस्या। आदमी सामाजिक जीवन जी रहा है, किंतु वह परस्परावलंबन का अंकन नहीं कर रहा है।

दिल्ली को देखते ही ऐसा लगता है कि कितना भव्य नगर है। इस बार जो शिविर का स्थान मिला है, वह दो होटलों के बीच में है। इधर होटल है, उधर होटल। कल एक भाई ने कहा–दो होटलों के बीच में रहकर शिविर में रहने का मन नहीं करता। इतने बड़े और इतने बढ़िया होटल! और उनमें रहने वाले इतने बड़े लोग! बड़े-बड़े भवनों में और इमारतों में रहने वाले बड़े-बड़े लोग जब भव्य इमारतों को देखते हैं और उनमें रहने वाले धनी लोगों को देखते हैं तब एक प्रकार का दृश्य सामने उपस्थित होता है, किंतु उन भवनों का निर्माण करने वालों को विस्मृत करते हैं तब समस्या खड़ी हो जाती है। परस्परावलंबन का सिद्धांत था कि सहारा लो और सहारा दो। विनियम करो सहारे का, आलंबन का। परस्पर में जो आलंबन होता है, एक दूसरे के सहारे की जो स्मृति होती है तो शायद यह समस्या पैदा नहीं होती। चाहे अतीत में समस्या रही हो, चाहे वर्तमान में समस्या हो, वह समस्या है परस्परावलंबन की। समाज की प्रकृति है परस्परावलंबन। जब उस प्रकृति की ही विस्मृति कर देते हैं, उस सीमा का अतिक्रमण कर देते हैं, फिर समस्या पैदा कैसे नहीं होगी? बड़ा आश्चर्य होता है कि जिसने निर्माण किया और जिसका निर्माण में अधिकतम योग रहा, उसकी विस्मृति हो गई।

संतुलन

हर वस्तु के निर्माण में दो बातें चाहिए–एक बुद्धि या शिल्प और दूसरा श्रम। पता नहीं क्यों बुद्धि को अतिरिक्त मूल्य नहीं दिया गया, श्रम को जितना मूल्य चाहिए, उतना भी नहीं मिला। यह बुद्धि और श्रम का असंतुलन ही एक

समस्या बना हुआ है। यह बहुत बड़ी समस्या है। जब तक यह संतुलन नहीं होता है तब तक बात बनती नहीं है। एक बुद्धिमान आदमी कुछ श्रम किए बिना दिन में एक लाख का भी अर्जन कर लेता है, एक करोड़ का अर्जन भी कर लेता है और ज्यादा भी कर लेता है। उसी बुद्धि में योग देने वाला जो श्रमिक है, उस बेचारे को लाख, हजार-करोड़ की बात का तो स्वप्न ही नहीं आता होगा। उसके जीवन की पर्याप्त आवश्यकता भी पूरी नहीं होती। इस असंतुलन ने समाज की प्रकृति को विकृत बना दिया। प्रकृति में विकृति होती है तो सारी समस्याएं पैदा होती हैं।

एक है तो कहानी, किंतु सामाजिक प्रकृति की अतिक्रमण को बहुत ज्यादा उजागर करती है और उस पर बहुत प्रकाश डालती है।

एक आदमी चला जा रहा था। जंगल में से गुजर रहा था। प्यास लग गई। पानी कहीं इधर-उधर दीख नहीं रहा था। प्यास गहरी होती गई। गरमी का दिन, दुपहरी का समय, खोजते-खोजते एक कुआं दिखाई दिया। वहां गया, देखा, पानी है, रस्सी पड़ी है, डोल भी पड़ा है, पर पानी निकालने वाला कोई नहीं है। उसने सोचा, पानी निकालूं और प्यास बुझाऊं। दूसरे ही क्षण सोचा, मैं पानी कैसे निकालूं। मैं तो अमीरजादा हूं। मैं पानी निकालूं और कोई देख ले तो बडप्पन चूर-चूर हो जाएगा। बड़े लोग क्या समझेंगे? वे कहेंगे, देखो, अमीरजादा पानी हाथ से निकालकर पी रहा है! बड़ी भद्दी बात होगी। वह बिना पानी निकाले, प्यास लिए बैठ गया।

थोड़ी देर हुई, इतने में एक दूसरा आदमी आया। वही हालत। कंठ सूखे जा रहे हैं। बड़ी बुरी हालत हो रही है। गहरी प्यास, पीने के लिए पानी खोजते-खोजते वहीं आया। देखा, डोल पड़ा है, रस्सी है, कुएं में पानी है और आदमी भी बैठा है। बोला–'अरे भाई! प्यास बहुत लगी है, जरा पानी पिला दो।' उसने कहा– मैं अमीरजादा हूं, मैं कैसे पानी निकालूं, तुम निकालो। उसने कहा मैं कैसे निकालूं, मैं नवाबजादा हूं। वह भी बैठ गया। पहले एक था, अब दो हो गए।

थोड़ी देर हुई, तीसरा आदमी आया। दूर से ही चिल्लाया–पानी-पानी। वे बोले नहीं। वह पास में गया, बोला, अरे भाई! प्यासा हूं, पानी तो पिलाना चाहिए। वे बोले–आप शांत रहें, ज्यादा हल्ला करने की जरूरत नहीं है। मैं अमीरजादा हूं, पानी नहीं निकाल सकता। दूसरा बोला–मैं नवाबजादा हूं, मैं भी पानी नहीं खींच सकता। तुम निकालो। वह बोला– मैं कैसे निकालूं। मैं शाहजादा हूं। तीनों प्यासे बैठ गए।

थोड़ी देर हुई, चौथा आदमी आया। वह भी प्यासा था। वह कुएं पर आया। डोल, पानी और रस्सी को पड़े देखा और देखा कि तीन आदमी उदास बैठे हैं। वह डोल के रस्सी बांध पानी निकालने लगा तो वे तीनों बोले–भाई! हमें भी पानी पिलाना। वह बोला– सब साधन तो थे। पानी निकालते और पी लेते। पहला बोला–अमीरजादा हूं, पानी निकालूं तो इज्जत भ्रष्ट हो जाए। दूसरा बोला– नवाबजादा हूं, पानी निकालूं तो सारी मर्यादा खंडित हो जाए। तीसरे ने कहा–मैं शाहजादा हूं पानी निकालने के लिए थोड़े ही जन्मा हूं? तब उस चौथे आदमी ने कहा–ठीक है। बैठे रहो। वह पानी निकालकर पीने लगा। तीनों बोल पड़े–अरे! हमें भी पिलाओ। उसने कहा– मैं हरामजादा हूं पानी पीता हूं, पिलाता किसी को नहीं। यह मेरी मर्यादा है। वह पानी पीकर चलता बना। उन्होंने कहा–तुम क्यों हरामजादे बने? उसने कहा–इन अमीरजादों, नवाबजादों और शाहजादों ने हरामजादों को पैदा किया।

कितना मार्मिक व्यंग्य है! यह पूरी समाज की स्थिति का चित्रण प्रस्तुत करता है। समाज में हरामजादा कोई भी नहीं होता, किंतु जब समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग अमीरजादा, शाहजादा और नवाबजादा बनकर बैठ जाता है तो हरामजादों को जन्म लेना ही पड़ता है और कोई चारा नहीं रह जाता। यह समाज की प्रकृति का विकृत स्वरूप हमारे सामने है। जहां परस्परावलंबन की बात छूट जाती है, आदमी यह अनुभव नहीं करता कि यह मुझे सहारा दे रहा है, यह आलंबन दे रहा है, इसके सहारे मैं जी रहा हूं। जब यह बात लादी जाती है तो समाज रुग्ण होता है, सामाजिक जीवन अस्त-व्यस्त होता है, उसमें हिंसा बढ़ती है, असत्य बढ़ता है, क्रूरता बढ़ती है और सारी कठिनाइयां बढ़ती हैं।

अनुशासन का आधार

सामाजिक जीवन का सबसे बड़ा और पहला सूत्र है–परस्परावलंबन-पारस्परिक सहयोग, एक दूसरे को सहारा। यह होता है तब और भी कुछ सामाजिक विशेषताएं शुरू होती हैं। सामाजिकता का एक लक्षण होता है अनुशासन। अनुशासन कब आता है? परस्परावलंबन के आधार पर अनुशासन विकसित होता है। सब चाहते हैं कि समाज में अनुशासन आए। अनुशासन का विकास तब तक नहीं होता, जब तक परस्परावलंबन की चेतना नहीं जाग जाती।

मालिक अपने नौकर पर अनुशासन करना चाहता है। स्वामी अपने सेवक पर अनुशासन करना चाहता है, किंतु जब-जब सेवक को, नौकर को यह अनुभव होता है कि यह मेरे आलंबन का मूल्यांकन नहीं कर रहा है,

मुझे आदमी नहीं समझ रहा है, तो उसमें अनुशासन की चेतना नहीं जागेगी, प्रतिक्रिया की चेतना जागेगी। अनुशासन सहज भाव से आ जाता है, उसकी चेतना को जगाने की आवश्यकता नहीं। सहज भाव से तब आता है, जब परस्परावलंबन का अनुभव हो।

मुझे स्मरण है, देखा है अपनी आंखों से कि दूसरे से सेवा लेना बहुत कठिन काम है, किंतु जहां परस्परावलंबन की चेतना होती है वहां दूसरे से सेवा लेना बहुत सरल बात है। हमारे संघ में एक मुनि हुए है। बहुत प्रशस्त और बहुत यशस्वी, मुनि मगनलालजी, वे 'मंत्री' के विशेषण के द्वारा अभिहित होते थे। वे संघ में सबसे ज्यादा प्रतिष्ठित मुनि थे और एक प्रकार से आचार्य के बाद उनका दूसरा स्थान था। सेवा में साधु रहते। वृद्ध थे। सेवा में नियुक्त मुनि पानी पिलाना भूल जाता, घंटा भर पानी नहीं पिलाता, प्यासे रह जाते पर यह नहीं कहते कि पानी नहीं पिलाया। जब उसे याद आती और वह आता तो उलाहना नहीं देते। उसे स्वयं भान होता। वह कहता–मेरी गलती हो गई, भूल गया। वे कहते–नहीं भाई! तुम्हारे भी बहुत काम हैं, बहुत काम करते हो, कोई बात नहीं। तुम जो इतना करते हो, यह तो बड़ी बात है। मैं तो निकम्मा हूं। उठ-बैठ भी नहीं सकता, चल भी नहीं सकता और तुम मेरी सेवा करते हो, यह कितनी बड़ी बात है! कितना उसका मूल्यांकन करते, हजार उलाहना देने पर जो भावना उसमें नहीं जागती, वह भावना जाग जाती। उसके मन में यह भावना आती कि इनकी जितनी सेवा की जाए, वह कम है। यह क्यों होता है? परस्परावलंबन के आधार पर होता है। दूसरे के सहारे का मूल्यांकन किया कि भई! तुम कितनी बड़ी सेवा करते हो। उसके मन में सेवा की भावना घर कर जाती।

यदि सेवा करने वाले को लताड़ा जाता है तो उसके मन में प्रतिक्रिया जागती है और नाना प्रकार के असद् विचार आते हैं। यदि भूल होने पर भी उसके आलंबन का मूल्य आंका जाए, सराहना की जाए तो भूल सुधर सकती है, अन्यथा नहीं।

सामाजिकता की एक बहुत बड़ी प्रकृति है परस्परावलंबन। उसका जितना मूल्यांकन होता है, उतना अनुशासन जागता है। अनुशासन कभी लाया नहीं जाता। अनुशासन पैदा होता है। अनुशासन तालाब का पानी नहीं है, ऊपर से बरसा हुआ पानी नहीं है। अनुशासन स्रोत से निकलता है। एक पानी आकाश से टपकता है, बरसता है और एक पानी जमीन से निकलता है। कुएं में स्रोत होता है। ऐसे बड़े-बड़े स्रोत और झरने होते हैं, जहां भूमि में से पानी निकलता

है। पहाड़ से पानी का प्रवाह चलता है। अनुशासन एक स्रोत है। यह वर्षा का पानी नहीं है। वर्षा का पानी होगा, वह सीमित होगा। तालाब में जितना पानी डालो, उतना पानी निकाल लो। थोड़ा-बहुत तो सूख ही जाएगा, किंतु जो स्रोत होता है वह तो चलता ही रहता है। कुएं से आज भी पानी निकाला, कल भी निकाला, निकालते ही चले जाओ। एक कुआं ऐसा होता है कि पूरे गांव को पानी दे देता है क्योंकि उसके स्रोत हैं, डाला हुआ पानी नहीं है। अनुशासन हमारे जीवन में एक स्रोत होता है, स्रोत बनकर बहता है।

अनुशासन का स्रोत

एक मालिक ने नौकर को अनुशासित करते हुए कहा 'देखो, ध्यान रखना। मुझे बिना पूछे कोई काम मत करना।' अनुशासन की बात तो बता दी। उसने स्वीकार कर लिया कि बिल्कुल ठीक बात है। दूसरे ही दिन एक घटना घटी। मालिक के पास आया और बोला 'मालिक! बिल्ली दूध पी रही है, क्या करूं?' 'अरे! मूर्ख! पूछने आया है? हटा देना था।' उसने कहा—आपने ही कहा था कि मुझे पूछे बिना कुछ भी नहीं करना है।

यह डाला हुआ पानी होता है। जितना कह दिया, उतना मान लिया। अनुशासन विवेक के साथ जुड़ा हुआ होता है, किंतु जबरदस्ती थोपा हुआ, आरोपित नहीं होता। अनुशासन ऐसे ही नहीं आता। अनुशासन परस्परावलंबन की अनुभूति के द्वारा आता है।

प्रश्न था स्वतंत्रता का। वैयक्तिकता के साथ जुड़ी हुई है स्वतंत्रता और सामाजिकता के साथ जुड़ी हुई है परतंत्रता। दोनों शब्द हमारे बहुत प्रिय शब्द हैं, स्वतंत्रता भी और परतंत्रता भी। स्वतंत्र होना भी कोई बुरी बात नहीं है, परतंत्र होना भी कोई बुरी बात नहीं है। हमने स्वतंत्रता को ज्यादा अभिव्यक्ति दे दी और परतंत्रता को विपरीत अर्थ में ज्यादा अभिव्यक्ति दे दी। इन दोनों को सापेक्षता के आधार पर समझना है। जहां हम निरपेक्ष बात करेंगे, वहां सारी बात गलत हो जाएगी। उदाहरण के लिए सफेद रंग अच्छा भी होता है और बुरा भी होता है। काला रंग खराब कहां होता है, बहुत अच्छा होता है। जैसे ही सर्दी का मौसम आता है, हर आदमी काला बन जाता है। वह इस बात को जानता है कि काले रंग में अवशोषण की क्षमता है कि बाहर से जो भी आता है वह उसे रोक देता है, भीतर नहीं जाने देता। यह काले रंग की विशेषता है।

न्यायालय में देखें, न्यायाधीश काले कपड़े पहनकर जाते हैं। काले रंग में क्षमता है कि दूसरे के प्रभाव से बचा सकते हैं। ये रंग भी, हमारी भावना के,

आचार और व्यवहार के प्रतीक होते हैं। रंगों का चुनाव ऐसे ही नहीं होता, बड़ी गहराई के साथ रंगों का चुनाव होता है। जजों और वकीलों के काली पोशाक का जो चुनाव किया गया, बहुत अर्थवान है। एक न्यायाधीश को प्रभावित नहीं होना चाहिए। न्यायालय का वातावरण प्रभावमुक्त होना चाहिए। इसलिए काले रंग का चुनाव किया गया। अगर न्यायाधीश लाल रंग के कपड़े पहनकर बैठता तो दूसरों की बात कम सुनता और उत्तेजित होकर अपनी ही बात सुनानी ज्यादा पसंद करता। इतना उत्तेजित हो जाता कि फिर बेचारे वकील तो खड़े ही रहते। उनकी कोई नहीं सुनता, फिर लाल का चुनाव नहीं किया जा सकता, पीले का चुनाव नहीं किया जा सकता। कहावत है कि लाल-पीला हो गया। कोई नहीं कहता कि गुस्से में आ गया। यही कहता है कि वह लाल-पीला हो गया। लाल और पीला दोनों गरम रंग हैं। रंग दो प्रकार के होते हैं ठंडा और गरम। नीला रंग ठंडा होता है। लाल रंग और पीला रंग गरम होते हैं। न्याय करने बैठे और गरम रंग का कपड़ा पहने, गरम तो पहले ही हो जाएगा, न्याय कैसे कर पाएगा? काले रंग का चुनाव किया गया। यह बहुत ही महत्त्वपूर्ण चुनाव है।

इसी प्रकार हमने परतंत्र होने का सर्वथा बुरा मान लिया और स्वतंत्र होने को सर्वथा अच्छा मान लिया, यह ठीक नहीं। यह न भूलें कि एकांतदृष्टि से किया गया कोई निर्णय सही नहीं होता। हम अनेकांतदृष्टि को छोड़कर सचाई तक नहीं पहुंच सकते। अनेकांत का निर्णय यह है कि स्वतंत्रता अच्छी भी है और बुरी भी है। परतंत्रता अच्छी भी है और बुरी भी है।

हमने सुना था कि जब हिंदुस्तान आजाद हुआ, तब लोगों ने स्वतंत्रता के बड़े विचित्र अर्थ किए। इन्कमटेक्स ऑफिसर इन्कमटेक्स लेने की बात करता है तो व्यापारी कहता है कि मैं टैक्स नहीं दूंगा, क्योंकि अब हमारा देश स्वतंत्र हो गया है अब हम किसलिए टैक्स चुकाएं? किसान से वसूली करनी है, वह कहता है कि मैं भी नहीं दूंगा क्योंकि आजाद हो गया हूं, अब किसलिए दूं? एक आदमी ने फिर व्यंग्य कसा कि फिर तो यह बात हो गई कि एक आदमी सड़क पर जाकर बैठ गया। उधर से ट्रक आया। उसने कहा–भई, रास्ता रोक कर सड़क के बीच क्यों बैठे हो? उसने कहा–मेरा देश आजाद है, मैं आजाद हूं, मन चाहे वैसा करूं। ड्राइवर ने कहा– अच्छी बात है, मैं भी ट्रक चलाने के लिए आजाद हूं।

स्वतंत्रता और परतंत्रता

स्वतंत्रता भी सर्वथा अच्छी नहीं होती। इसके भी कई अर्थ हो जाते हैं। परतंत्रता भी सर्वथा बुरी नहीं होती। एक बच्चा यदि परतंत्र नहीं होता, माता-

पिता के कहे में नहीं चलता है तो वह बिगड़ जाता है। एक अल्पमति वाला व्यक्ति, जिसका बौद्धिक विकास कम है, जिसमें सोचने-समझने की क्षमता कम है, वह व्यक्ति यदि अपने ही तंत्र के आधार पर चलता है और किसी दूसरे के तंत्र को स्वीकार नहीं करता, वह भी गलत रास्ते पर चला जाता है। दूसरे का तंत्र भी बहुत आवश्यक होता है। अनुशासन दूसरे के तंत्र से जुड़ा हुआ है। कभी स्वीकार मत करो कि मेरा ही तंत्र चले। एक सीमा तक तुम्हारा तंत्र चले, दूसरी सीमा तक दूसरे का भी तंत्र चले। जहां आवश्यक हो, वहां तुम्हारा तंत्र और जहां आवश्यक हो, वहां दूसरे का तंत्र।

विद्यार्थी अध्यापक के तंत्र को मानकर चलता है। शिष्य गुरु के तंत्र को मानकर चलता है। शिष्य के मन में भावना जाग जाए कि मैं गुरु बन जाऊं। हो सकती है भावना, पर इसे लेकर वह गुरु के आसन पर बैठ जाएगा तो अर्थ क्या होगा? शिष्य कभी ऐसे ही गुरु नहीं बन सकता। गुरुता प्राप्त किए बिना गुरु नहीं बन सकता। विद्यार्थी अध्यापक की कुर्सी पर बैठकर अध्यापक का काम नहीं कर सकता। पहले तंत्र को लेना होता है और फिर तंत्र को देना होता है। स्वतंत्रता वास्तव में परतंत्रता की एक निष्पत्ति है। यह परिणाम है कि जो व्यक्ति परतंत्र रहा है वही व्यक्ति वास्तव में स्वतंत्र हो सकता है।

शिष्य ही गुरु

मुझे एक बात याद आती है। हम लोग जब आचार्यवर के पास पढ़ते थे, आचार्यवर एक बात कहा करते थे कि देखो, अभी तुम मेरे अनुशासन में रहो। मैं जो कहूं वह करो। अपनी मनचाही मत करो। किसी से बातें मत करो, समय को व्यर्थ ही मत गंवाओ। अगर मेरी यह बात 5-7 वर्ष मान लोगे तो जीवन भर इतने स्वतंत्र हो जाओगे कि फिर चाहे जो करो। तुम्हें टोकनेवाला, रोकनेवाला कोई नहीं होगा और अभी मेरी बात नहीं मानोगे तो जीवन भर इतने परतंत्र रहोगे कि जीवन भर कोई न कोई तुम्हारे पर रहेगा। कोई न कोई कहता ही रहेगा कि यह मत करो, वह मत करो, तुमने ठीक नहीं किया, रोका-टोकी जीवन भर चलेगी। यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि जो व्यक्ति अच्छा शिष्य होता है वही अच्छा गुरु बन सकता है। जिसने शिष्य का जीवन नहीं जीया वह गुरु का जीवन कभी नहीं जी सकता।

परतंत्रता कोई बुरी बात नहीं है। सामाजिक जीवन का एक अंग है अनुशासन और सामाजिक जीवन का दूसरा अंग है परतंत्र रहना, दूसरे के तंत्र में रहना। आप उसे उस अर्थ में न लें कि हमारे राष्ट्र में किसी दूसरे का

शासन हो। परतंत्र का इतना ही अर्थ नहीं है। परतंत्र का अर्थ है जिसकी क्षमता विकसित नहीं है, जितनी क्षमता विकसित नहीं है, उस क्षमता को पाने के लिए दूसरे के तंत्र को स्वीकार करना।

क्या यह आज नहीं हो रहा है? ऐसा हो रहा है। सैकड़ों-सैकड़ों विद्यार्थी अध्ययन के लिए अमेरिका जाते हैं। जर्मनी में जाते हैं, बाहर जाते हैं। वहां के यहां आते हैं। विद्यार्थियों का आदान-प्रदान हो रहा है। इसलिए हो रहा है कि जो कला वहां विकसित है और यहां नहीं है, उसे सीखने के लिए विद्यार्थी वहां जाता है। इसका मतलब है कि परतंत्र में जा रहा है। जो बात वहां नहीं है और यहां है, उसे सीखने के लिए विद्यार्थी यहां आ रहा है। हर किसी आदमी को सीखने के लिए दूसरे के यहां जाना होता है क्योंकि हर बात हर आदमी में विकसित नहीं होती। हर बात हर राष्ट्र और देश में विकसित नहीं होती।

उपसंपदा

प्राचीनकाल में धर्म संप्रदायों में एक उपसंपदा चलती थी। जैन शासन में भी उपसंपदा का वर्णन आता है। एक संघ का साधु जब देखता है कि मेरे संघ में मैं जो पढ़ना चाहता हूं, उस विद्या को पढ़ाने वाला कोई नहीं है, तब वह गुरु के पास जाता और कहता, गुरुदेव! मैं यह पढ़ना चाहता हूं, अपने संघ में कोई पढ़ाने वाला नहीं है, आप मुझे स्वीकृति दें कि मैं इस संघ को छोड़कर दूसरे संघ में जाऊं, वहां पढ़कर फिर आपके पास आ जाऊं। गुरु उसे स्वीकृति देते। वह दूसरे संघ में चला जाता और वहां उपसंपदा को स्वीकार करता। उनका शिष्य बनकर रहता, अध्ययन करता और अध्ययन करने के बाद अपने संघ में लौट आता।

विशेषता को उपलब्ध करने के लिए ऐसा करना ही होता है।

समन्वय

सामाजिक जीवन की तीसरी बात है समन्वय। एक आदमी में विरोध नहीं होता, किंतु जहां दो आदमी होंगे, वहां विरोध होना जरूरी है। इसे कभी टाला नहीं जा सकता। विचार का भेद, चिंतन का भेद, विचार का विरोध, चिंतन का विरोध रोका नहीं जा सकता। यह अनिवार्य बात है, निश्चित व्याप्ति है। जहां मतभेद है, विरोध है, वहां जीवन चलेगा कैसे? पति कहता है उस मकान में रहना चाहता हूं। पत्नी कहती है इस मकान में रहना चाहती हूं, विरोध हो गया। संघर्ष, विरोध, विचार-भेद-यह सामाजिक जीवन की अनिवार्य शर्त है।

केवल विरोध से जीवन ऊबड़-खाबड़ बन जाएगा। इस स्थिति में समन्वय की बात आती है।

अनेकांत का बड़ा सूत्र है समन्वय। दो विरोधी बातों में तीसरा रास्ता खोजो समन्वय का, सामंजस्य हो जाएगा। कभी एक बात को गौण करो, कभी दूसरी बात को, समन्वय स्थापित हो जाएगा। समन्वय होगा, सहिष्णुता के आधार पर। जहां एक दूसरे को सहन नहीं करता, वहां समन्वय नहीं हो सकता। एक दूसरे को सहन करना होता है। पिता पुत्र को सहन करता है और कभी पुत्र पिता को सहन करता है तभी सामंजस्य होता है। पुत्र ने कहा–पिताजी! आज से मैं आपके साथ भोजन नहीं करूंगा। पिता बहुत समझदार था। उसने कहा–बेटा! अच्छी बात है। कोई बात नहीं, आज से मैं तुम्हारे साथ भोजन करूंगा। अब कहां जाए बेटा? इतना तो हो गया, पर बात वहां की वहां रही। कल तक पुत्र पिता के साथ भोजन करता था, अब पिता पुत्र के साथ भोजन करने लग गया। सामंजस्य हो गया। एक दूसरे को सहन करना पड़ता है।

आचार्यवर बहुत बार कहते हैं, मुझे भी कहा–देखो, आचार्य के लिए एक बात बहुत जरूरी होती है कि अवसर हो तो मौन रहना, अवसर हो तो कहना। यह जरूरी नहीं कि आचार्य कहे ही। कभी कहना श्रेयस्कर होता है और कभी न कहना (सहना) श्रेयस्कर होता है।

स्वयं सहते हैं तो दूसरे भी सहन करते हैं। स्वयं तो सहन करना जानता ही नहीं, पिता तो सहन करना जानता ही नहीं, मां तो सहन करना जानती ही नहीं, सब कुछ बहू से, बेटे से सहन करवाना चाहती है, ऐसा दुनिया में हुआ नहीं, होगा भी नहीं। सहन करना होता है। सहन करवाना होता है।

सामाजिकता का चौथा सूत्र है सहिष्णुता।

सह अस्तित्व

सामाजिक जीवन का पांचवां सूत्र है सह-अस्तित्व। एक साथ रहना। साथ में रहने की बात तब फलित होती है जब समन्वय, सहिष्णुता, परस्परावलंबन और परतंत्रता–इन भावनाओं का विकास होता है।

चिंतन की चर्चा हो रही है, हम किस दृष्टि से देखें? किस दृष्टि से सोचें? अपने बारे में कैसे सोचें? हमारे जीवन के दो पक्ष हैं। जीवन का एक पक्ष है वैयक्तिक। जीवन का दूसरा पक्ष है सामाजिक। अपने बारे में सोचते समय इन दोनों पहलुओं को सामने रखते हुए सोचें। एक पक्ष पर कभी न सोचें। केवल

वैयक्तिकता की दृष्टि से न सोचें। केवल सामाजिकता और सामुदायिकता की दृष्टि से न सोचें। दोनों पहलुओं को सामने रखकर सोचें और दोनों पहलुओं का विपर्यय भी न करें। आज का आदमी विपर्यय करना भी बहुत जानता है। जहां अपना स्वार्थ हुआ, आदमी वैयक्तिक बन जाता है। किसी ने कहा–अरे भई! यह बुराई मत करो। अप्रामाणिक बात मत करो। अप्रामाणिक व्यवहार मत करो।

वह कह उठता है 'मैं क्या करता हूं? सारा समाज ही कर रहा है। मैं अकेला कहां से बचूंगा?' वह बिलकुल सामाजिक बन गया। चिंतन सामाजिक दृष्टि से हो गया।

किसी ने कहा–अरे! इतना धन लेकर बैठे हो। लोग बाढ़ के कारण तकलीफ पा रहे हैं। तुम अकेले सुख भोग रहे हो।

वह कहता है, 'अपनी करनी, अपनी भरनी। हमने तो यह सिद्धांत सीखा है। मैं दूसरों की चिंता नहीं करता। मैं तो एक व्यक्ति हूं।' वहां वह व्यक्तिवादी बन जाता है। यह एक विपर्यय हो गया। जहां बुराई करने की बात है वहां तो समाज की शरण ले लेता है और जहां स्वार्थ की बात आए वहां कहता है अगला जाने, मैं क्या कर सकता हूं। मैंने पुण्य किया है तब सुख भोग रहा हूं। उसने पाप किया है तो उसका उत्तरदायी मैं कैसे बनूंगा? वहां वह एकांततः व्यक्तिवादी बन जाता है।

अपने बारे में जो हमारे चिंतन के ये मिथ्या कोण हैं, इन कोणों के कारण भी हम समस्या को उलझा देते हैं।

ध्यान करने वाले व्यक्ति के लिए सम्यक् चिंतन जरूरी है और सम्यक् चिंतन के लिए जहां व्यक्तिवादी दृष्टिकोण होना चाहिए, वहां व्यक्तिवादी, जहां सामाजिक दृष्टिकोण होना चाहिए, वहां सामूहिक और सामाजिक ये दोनों दृष्टिकोण स्पष्ट रहें तो समस्या को सुलझाने में बहुत बड़ा सहयोग मिल सकता है।

7. दूसरे के बारे में अपना दृष्टिकोण

एक व्यक्ति गुरु के पास आया और बोला–'गुरुदेव! दुःख से छूटने का उपाय बताओ।' बड़ा प्रश्न था। थोड़े शब्दों में बहुत बड़ा प्रश्न कि दुःखों की दुनिया में जीना और दुःख से छूटने का उपाय करना। छोटी बात नहीं थी, बहुत बड़ी बात थी।

गुरु ने कहा– एक काम करो, जो आदमी सबसे सुखी हो, उसका अंगरखा ले आओ, फिर दुःख से छूटने का गुर बताऊंगा। वह गया, एक घर में जाकर पूछा–'भाई! तुम तो सबसे सुखी हो।'

कोई न पूछे, तब तक सब ठीक है। तरंग न उठे, तब तक समुद्र शांत है। तूफान न आए, तब तक जल शांत है, बवंडर न उठे तब तक सब ठीक है, किंतु जब तूफान आता है, बवंडर आता है, तब तरंग ही तरंग हो जाता है। मूल स्वभाव का पता ही नहीं चलता। प्रश्न न हो तब तक ठीक है, पर जब प्रश्न पूछा जाता है, ठीक बेठीक हो जाता है।

उसने कहा–सुखी! मेरा पड़ोसी इतना बदमाश है, आए दिन मुझे सताता रहता है। भला, मैं कैसे सुखी हो सकता हूं, मैं तो अत्यंत दुःखी हूं।

वह दूसरे घर गया और बोला–भई! तुम तो बिल्कुल सुखी हो? कोई दुःख तो नहीं? घर का स्वामी बोला–'क्या बात पूछते हो? सुख की बात! ऐसी कर्कशा पत्नी मिली है कि दिन भर सिर खाती रहती है। मेरे जीवन में तो सुख की कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती।'

तीसरे के पास गया, चौथे के पास गया। किसी की पत्नी के पास गया तो वह पति को क्रूर बतलाती है। पति के पास गया तो वह पत्नी को क्रूर बतलाता है। पिता के पास गया तो वह पुत्र को उद्दंड बतलाता है। सैकड़ों-सैकड़ों घरों में घूमा, परिक्रमा करता चला गया, हजारों घरों के आस-पास चक्कर लगाता गया, सब अपने आपको दुःखी बतलाते हैं, कोई सुखी नहीं बतलाता।

बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा–कब तक घूमूंगा। गुरु के पास आकर बोला–'मैं तो घूमते-घूमते थक गया। आपने कहा था, सबसे सुखी हो उस व्यक्ति का अंगरखा लाना। सबसे सुखी की बात दूर, मुझे तो कोई सुखी ही नहीं मिला। किसका अंगरखा लाता।'

गुरु ने कहा–'क्यों दुःखी हैं? क्या दुःख है?'

उसने कहा–'किसी का पड़ोसी खराब, किसी का बेटा खराब, किसी का बाप खराब, किसी का कुछ खराब, किसी का और कुछ खराब। हर आदमी दूसरे आदमी के कारण दुःख भोग रहा है।'

गुरु ने कहा–सुख का गुर है दूसरे की ओर न झांकना, अपनी ओर झांकना। यह सुख का उपाय है, चले जाओ।

वह बोला–'इतनी-सी छोटी बात, आप पहले ही बता देते। क्यों फिर मुझसे व्यर्थ ही चक्कर लगवाया? क्यों मुझे घुमाया? क्यों परिक्रमा करवाई? बहुत छोटी-सी बात थी, आप पहले ही बता देते।'

गुरु ने कहा–सत्य दुष्पाच्य होता है। सत्य सीधा पचता नहीं। अगर मैं पहले ही यह बात कह देता तो तू मेरी बात मानता ही नहीं। जब तूने स्वयं अनुभव कर लिया, सबकी परिक्रमा कर ली, अब यह बात तेरी समझ में आ सकती है कि सब लोग दूसरों को देख रहे हैं और दूसरों को देखने के कारण सब दुःख का अनुभव कर रहे हैं। अब यह बात समझ में आएगी कि सत्य बहुत परिश्रम के बाद पचता है।

कहानी बहुत मार्मिक है और इस कहानी का फलित भी बहुत मार्मिक है कि दूसरे को देखने वाला कभी सुख का अनुभव नहीं करता। हर आदमी दुःख का अनुभव करता है। अपने आप नहीं करता, दूसरे के कारण दुःख का अनुभव करता है। शत-प्रतिशत दुःख का कारण है दूसरा। बीमारी आती है, वह भी तो दूसरी है, अपनी तो है नहीं। बीमारी के कारण दुःख का अनुभव करता है, शत्रुता के कारण दुःख का अनुभव करता है, अप्रियता के कारण दुःख का अनुभव करता है, पर के कारण दुःख का अनुभव करता है।

चिंतन के कोण

हमारे व्यक्तित्व के साथ एक 'स्व' जुड़ा हुआ है, दूसरा 'पर' जुड़ा हुआ है। व्यक्तित्व की एक सीमा में हम अपने बारे में चिंतन करते हैं और दूसरी सीमा

हमारी है कि हम 'पर' के बारे में चिंतन करते हैं। 'पर' शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं स्वतंत्र और भिन्न। 'पर' इसलिए कि वह स्वतंत्र है और उसका अस्तित्व स्वतंत्र है। एक है भेदानुभूति और दूसरी है स्वतंत्रानुभूति।

हमने स्वतंत्रता को स्वीकारा है और भेद को स्वीकारा है। हमारे चिंतन में कुछ अलग-अलग कोण होते हैं। चिंतन, विचार हमेशा सापेक्ष होता है। अपने आप में चिंतन का कोई अर्थ नहीं होता। चिंतन की उत्पत्ति और उसके विकास के लिए कोई आधार चाहिए, कोई दूसरा चाहिए। द्रव्य हो या क्षेत्र, काल हो या अवस्था, व्यक्ति हो या वस्तु, चिंतन के लिए कुछ न कुछ चाहिए। ईंधन के बिना आग प्रज्वलित नहीं होती। आग को जलाने के लिए ईंधन चाहिए, सामग्री चाहिए। चिंतन को प्रज्वलित होने के लिए भी ईंधन चाहिये, सामग्री चाहिये। चिंतन के आग का प्रज्वलन है 'पर'। यदि यह 'पर' शब्द नहीं होता तो फिर चिंतन की अपेक्षा ही नहीं होती।

हम अपने बारे में कैसे सोचें? हम दूसरे के बारे में सोचते हैं तो कैसे सोचें? जब हम सामाजिक जीवन जीते हैं, वहां केवल 'स्व' नहीं होता 'पर' भी होता है और 'पर' होता है इसलिए समाज बनता है। यदि केवल 'स्व' होता तो शुद्ध अध्यात्म होता, व्यवहार नहीं होता। हमारा सारा व्यवहार समाज के आधार पर चलता है, भेद के आधार पर चलता है। इस भेदानुभूति के क्षेत्र में हम कैसे सोचें? यह बहुत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है।

चिंतन के दो पहलू होते हैं विधेयात्मक और निषेधात्मक। हमारा एक दृष्टिकोण, एक चिंतन विधायक होता है, दूसरा निषेधात्मक होता है। अपने बारे में भी हमारे दोनों प्रकार के चिंतन होते हैं और दूसरे के बारे में भी दोनों प्रकार के चिंतन होते हैं, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि दूसरे के बारे में विधायक चिंतन कम होता है, निषेधात्मक चिंतन ज्यादा होता है। आदमी की आंख में पता नहीं क्या है, वह अपनी विशेषता ज्यादा देखेगी और दूसरे में कमी ही कमी देखेगी। किसी भी आदमी से पूछ लो, समझदार से समझदार आदमी से पूछ लो, दूसरे में कमी का ही उल्लेख करेगा। शायद ही कोई आदमी दूसरे के बारे में यह कहे कि नहीं, वह तो सर्वगुण-संपन्न है, भाग्य से ही यह शब्द निकलेगा। संभवतः नहीं निकलेगा और जो कम समझदार होता है वह दूसरों को समझदार मानता ही नहीं। वह तो सबसे ज्यादा अपने को ही समझदार मानता है और अपनी विशेषताओं को ही देखता है। वह दूसरे के बारे में बहुत अजीब धारणाएं रखता है।

दृष्टिकोण बदले

आज कोई सत्ता पर बैठा है, कोई अधिकार पर बैठा है। वह सारी जनता में कमियां देखेगा। उसकी आलोचना करेगा और जब अपना प्रश्न आता है तो मौन हो जाएगा। यह तो नहीं कहता कि मुझ में सारी विशेषता है, पर उसे अपनी कमी का अनुभव नहीं होता। दूसरे के बारे में यह जो निषेधात्मक दृष्टिकोण है कि हमेशा कमी और खामी का दर्शन हमें होता है। इस चिंतन के कारण, हम व्यक्ति को, जिसका जितना मूल्य होता है, उसे उतना मूल्य नहीं दे पाते।

सामाजिक जीवन में बड़ा प्रश्न है मूल्यों का। समाज चलता है मूल्यों के आधार पर, किंतु मूल्यांकन करना एक बहुत बड़ी समस्या है। हम सही मूल्य आंक नहीं पाते और इसलिए नहीं आंक पाते कि हमारा दृष्टिकोण विधायक नहीं होता। जिस समाज में अहिंसा प्रतिष्ठित नहीं होती, उस समाज में सही मूल्यांकन नहीं हो सकता।

मूल्यांकन की पहली शर्त है अहिंसा। मन में हिंसा का भाव है। हिंसा को आप स्थूल अर्थ में न लें। केवल मारने की बात ही हिंसा नहीं, मारने की बात तो बहुत स्थूल बात होती है। हिंसा की बात हमारी चेतना की समग्र शुद्धता की स्वीकृति से संबंधित है। चेतना में जितना राग और द्वेष अधिक होता है, उतना ही हमारा मूल्यांकन गलत होता है, पर पता नहीं, कैसे जुड़े हुए हैं ये दोनों व्यक्ति के साथ कि हमारे सामने राग और द्वेष के सिवाय तीसरा आयाम उद्घाटित ही नहीं होता। प्रियता का, अप्रियता का दृष्टिकोण बराबर बना रहता है। किसी भी आदमी को देखता हूं तो शुद्ध दृष्टि से देख सकूं, बड़ा कठिन काम है। आदमी को देखना ही संभव नहीं रहा। कोई आदमी कहता है कि मैं उसे देख रहा हूं। मैं कहता हूं, वास्तव में तुम उसे नहीं देख पा रहे हो।

आदमी को तुम देखना शुरू करते हो, उससे पहले ही उसके और तुम्हारे बीच अनंत दीवारें खड़ी हो जाती हैं। इतनी रुकावटें, इतनी बाधाएं, इतने विघ्न, संस्कारों की इतनी परतें आ जाती हैं कि बेचारा आदमी कहीं रह जाता है, उसका चेहरा कहीं रह जाता है। कभी शत्रुता का भाव, कभी मित्रता का भाव, किसी के प्रति स्नेह का भाव, किसी के प्रति करुणा का भाव और किसी के प्रति क्रूरता का भाव, कोई न कोई मनोभाव दर्शक और दृश्य के बीच दीवार बन कर आ जाता है। कोई आदमी किसी का शुद्ध चेहरा देख पाता हो, बहुत कम संभव है। संभव लगता नहीं कि एक आदमी दूसरे आदमी तक पहुंच सके। ठीक कहा है–

मामपश्यन्नयं लोको, न मे शत्रुर्न मे प्रियः।
मां प्रपश्यन्नयंलोको, न मे शत्रुर्न मे प्रियः॥

प्रश्न हुआ कि तुम्हारा शत्रु कौन है और तुम्हारा मित्र कौन है? दो ही तो दुनिया में हो सकते हैं या तो कोई शत्रु होगा या कोई मित्र होगा। ठीक प्रश्न था कि कितने शत्रु और कितने मित्र? कौन शत्रु और कौन मित्र? उत्तर मिला, दूसरा मुझे कोई जानता नहीं, देखता ही नहीं, फिर वह कैसे मेरा शत्रु हो सकता है और कैसे मेरा मित्र हो सकता है? शत्रु तब हो कि जब जाने। मित्र भी तब हो कि जब जाने। जब जानता ही नहीं तो वह कैसे शत्रु और कैसे मित्र हो सकता है? जो जानता है और देखता है वह किसी का शत्रु नहीं बनता और किसी का मित्र नहीं बनता। जो जानता है वह बनता नहीं और जो बनता है, वह जानता नहीं।

दुनिया प्रतिबिंब की

एक बहुत रहस्य भरी बात आचार्य ने कही, कोई किसी को जानता नहीं। कहते तो हैं मैं अपने परिवार वालों को जानता हूं, अपने पड़ोसी को जानता हूं, दिल्ली वालों को जानता हूं, आस-पास के लोगों को जानता हूं, पर कोई किसी को सचमुच जानता ही नहीं। हर आदमी के बीच में इतनी दीवारें चिनी हुई हैं, बड़ी-बड़ी दीवारें कि उनके पार झांकना संभव ही नहीं हो पा रहा है। केवल अपनी कल्पना का आदमी हमारे सामने होता है। एक कल्पना की इमेज और कल्पनाओं की मूर्ति हमारे सामने होती है। कल्पना के आधार पर हम काल्पनिक व्यक्ति को जानते हैं, हम मूल को नहीं जानते। परछाई को जानते हैं, मूल को नहीं जानते। यह सारी परछाइयों का दर्शन चल रहा है और प्रतिबिंबों के आधार पर हमारी सारी लड़ाइयां चल रही हैं। बिंब तक कोई पहुंचता ही नहीं। केवल प्रतिबिंब और प्रतिबिंब, सिर्फ परछाई और परछाई! होता यह है कि मूल चला जाता है और उसकी परछाई रह जाती है।

एक नगर में देखा, सड़क पार कर रहे हैं, सामने एक मजबूत दीवार है। दरवाजा है और ताला लगा हुआ है। ऐसा लगता है कि कितनी व्यवस्था है, भीतर कोई जा ही नहीं सकता। थोड़ा आगे गए, मुड़कर देखा, तो पीछे की सारी दीवार खंडहर है, टूटी हुई है, नीचे गिरी हुई है। मकान रहा ही नहीं, मकान ही गिर गया। पार्श्व की दीवारें गिर गईं। तीन तरफ की दीवारें गिर गई, मकान गिर गया, आगे की दीवारें खड़ी हैं, दरवाजा खड़ा है, ताला लगा है। मजबूत ताले को खोल नहीं सकते। बड़ी विचित्र बात है। आस-पास नहीं, पृष्ठभूमि नहीं।

जीवन का आधार नहीं, जीवन का पार्श्व नहीं। और आगे बहुत मजबूत ताला लगा हुआ है। यह स्थिति बन जाती है व्यक्ति की कि मूल बात चली जाती है, परछाई रह जाती है। बिंब समाप्त हो जाता है, प्रतिबिंब शेष बच जाता है।

इस प्रतिबिंब की दुनिया में बिंब को देखना बहुत कठिन समस्या है। सारी मित्रता, सारी शत्रुता बिंब के आधार पर नहीं हो रही है। जिसको मित्र मान रहे हैं उसका बिंब भी हमारे हाथ में नहीं आया। जिसको शत्रु मान रहे हैं उसका बिंब भी हमारे हाथ में नहीं आया है। हो सकता है कि जिसे मित्र माना जा रहा है, वह ज्यादा शत्रु हो और जिसे शत्रु माना जा रहा है वह ज्यादा मित्र हो। हमारे पास ऐसी शुद्ध दृष्टि नहीं, ऐसी आंख नहीं जो मित्र या शत्रु को देख सके।

मूढात्मा यत्र विश्वस्तः, ततो नान्यद् भयास्पदम्।
यतो भीतस्ततो नान्यद्, अभयस्थानमात्मनः॥

जहां विश्वास करते हैं, उससे बड़ा कोई खतरा नहीं और जिसे खतरा समझते हैं उससे बड़ा विश्वास का कोई स्थान नहीं है। यह विपर्यय 'पर' के कारण चल रहा है। हमने 'पर' के प्रति, दूसरे के प्रति ऐसा दृष्टिकोण बना लिया कि जहां 'पर' आया, वहां हमें खतरा दीखने लग जाता है और जहां 'स्व' आया, वहां हमें कल्याण दीखने लग जाता है। 'स्व' और 'पर' के बारे में यह धारणा क्यों बनी? कब और कैसे बनी? कारण यही हो सकता है कि दूरी के कारण व्यक्ति दूसरे व्यक्ति के प्रति ऐसा दृष्टिकोण बना लेता है। जहां अपनी बात आई वहां प्रियता और अप्रियता दोनों में से चुनाव हो जाता है। जब 'पर' की बात आई वहां भी चुनाव हो जाता है।

ध्यान है समाधान

ध्यान करने वाले व्यक्ति में चिंतन का परिष्कार होता है, चिंतन बदलता है। दृष्टिकोण बदलता है। उसमें 'पर' के प्रति एक स्वतंत्रता की अनुभूति जागती है। दूसरे व्यक्ति के स्वतंत्र अस्तित्व का अनुभव करना एक बहुत बड़ी फलश्रुति है। कोई आदमी किसी के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, सही अर्थ में स्वीकार नहीं करता।

पिता पुत्र को प्रिय मान लेता है पर उसके स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। वह स्वतंत्र होने की थोड़ी-सी भी बात करता है तो पिता तिलमिला उठता है। पति पत्नी के स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता। मालिक नौकर के स्वतंत्र अस्तित्व को कैसे स्वीकार कर सकता है? इसीलिए वह

उसकी हर चाह पर नियंत्रण लगाना चाहता है। यह नियंत्रणों का विकास इस आधार पर हुआ कि हमें दूसरे का स्वतंत्र अस्तित्व मान्य नहीं है। सिद्धांततः मान्य हो सकता है, पर वास्तव में मान्य नहीं है। जहां भी स्वतंत्रता की बात होती है, वहां बड़ी समस्या पैदा हो जाती है।

ध्यान की गहराई में गए बिना, चेतना की परतों का विश्लेषण किए बिना, उनका साक्षात्कार किए बिना दूसरे व्यक्ति का स्वतंत्र अस्तित्व है, यह बात जानते हुए भी नहीं जानी जाती, समझते हुए भी नहीं समझी जाती। हमारा चेतना का जगत एक बहुत बड़ा विचित्र जगत है, सूक्ष्म जगत है। हम कभी चेतना के जगत में विहार नहीं करते। हमेशा हमारी दृष्टि वस्तुनिष्ठ रहती है और हमारा सारा चिंतन भी वस्तुनिष्ठ रहता है।

चेतननिष्ठ चिंतन

एक पुत्र यदि वर्ष में दस-बीस लाख रुपये कमाकर ला देता है तो पिता को बहुत अच्छा लगता है। चाहे जैसे भी, येन-केन-प्रकारेण भी, वह कमाकर लाता है तो अच्छा लगता है। दूसरा पुत्र बहुत प्रामाणिक है, बहुत भला है, सच्चा है, ईमानदार है, दस-बीस लाख नहीं कमा पाता। अपना जीवन चला लेता है, थोड़ा बहुत ले आता है, बचा लेता है। वह आता है पिता के पास। पिता पूछता है, 'कितना कमाया वर्ष भर में?' वह कहता है आय-व्यय समान। विशेष बचा नहीं। पिता कहता है निकम्मे हो, जानते नहीं, काम कैसे चलेगा? कैसे शादियां होंगी? कैसे घर का काम चलेगा? प्रतिष्ठा कैसे बनी रहेगी? पिता की बौछार होती है और वह निकम्मा करार दे दिया जाता है। एक लड़का तो अच्छा हो गया और दूसरा लड़का बुरा हो गया। क्यों? हमारा चिंतन वस्तुनिष्ठ है, चेतननिष्ठ नहीं है। यह कभी नहीं सोचा जाता कि इसने कितनी ईमानदारी से काम किया है। कितनी सचाई का अनुशीलन किया है, सचाई के आधार पर काम किया है, कितना भला है। इसने कभी दूसरों को नहीं सताया, दूसरे को नहीं ठगा। चैतन्य का कोई मूल्यांकन नहीं होता, मूल्यांकन होता है वस्तु का।

दृष्टिकोण और चिंतन जब तक वस्तुनिष्ठ है तब तक हम चेतना के प्रति न्याय नहीं कर पाते। हम कल्पना करें कि हमारे दुःख कम हों, हम पूछें कि दुःख-मुक्ति का गुर क्या है? सुख कैसे बढ़े? हमारा चिंतन विधायक कैसे बने? दूसरे के प्रति और समाज में सृजनात्मक शक्तियां कैसे बढ़ें, यह कल्पना मात्र कल्पना होगी।

बड़ा जटिल प्रश्न है कि हम दूसरे के प्रति कभी न्याय नहीं करते। जब अपने प्रति भी न्याय करना नहीं जानते तो भला दूसरे के प्रति क्या न्याय करेंगे? जो आदमी अपने प्रति न्याय करना नहीं जानता, वह दूसरे के प्रति कभी न्याय नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति का चिंतन वस्तुनिष्ठ होता है, वह अपने प्रति कभी न्याय नहीं कर सकता। वस्तुनिष्ठ चिंतन वाला व्यक्ति परिग्रह हिंसा और असत्य में विश्वास करने वाला व्यक्ति कभी दूसरे के प्रति न्याय नहीं कर सकता। न्याय वही कर सकता है जिसकी दृष्टि में अहिंसा की प्रतिष्ठा है, सत्य की प्रतिष्ठा है और अपरिग्रह-असंचय की प्रतिष्ठा है। आज हजारों-हजारों आवाजें हमारे सामने आती हैं कि कोई दूसरे का मूल्य नहीं आंक रहा है। सदाचारी का कोई मूल्य नहीं आंक रहा है। भलाई का कोई मूल्य नहीं है। बुराई पनप रही है, भलाई नीचे जा रही है। सदाचार नीचे जा रहा है, दुराचार पनप रहा है। सब लोग परिताप व्यक्त कर रहे हैं। मानसिक व्यथा अनुभव करते हैं और व्यक्त करते हैं। पर लगता है परिताप और अभिव्यक्ति का कोई अर्थ नहीं है।

अहिंसा के प्रतिष्ठा तब तक नहीं हो सकती, जब तक वस्तुनिष्ठ चिंतन रहेगा। सत्य की प्रतिष्ठा तब तक नहीं हो सकती जब तक चिंतन वस्तुनिष्ठ होगा। अपरिग्रह की प्रतिष्ठा तब तक नहीं हो सकती, जब तक चिंतन वस्तुनिष्ठ है। जब तक अपरिग्रह, सत्य और अहिंसा की प्रतिष्ठा नहीं होगी तो 'पर' के प्रति, दूसरे के प्रति, हमारा चिंतन विधायक नहीं हो सकेगा।

मूल्यों की प्रतिष्ठा

विधायक चिंतन के लिए बहुत जरूरी है कि जीवन में, समाज में, अहिंसा और अपरिग्रह के मूल्यों का विकास हो और उसके लिए जरूरी है कि 'पर' के स्वतंत्र अस्तित्व का मूल्यांकन हम कर सकें, दूसरे की स्वतंत्रता का मूल्यांकन कर सकें। हम कितना लाभ उठाते हैं दूसरे के द्वारा?

एक आदमी दूसरे आदमी से कितना लाभान्वित होता है? आज विज्ञान की एक नई शाखा विकसित हुई है और उसके परिणाम, उसके निष्कर्ष बहुत अद्भुत हैं। जो पर्यावरण का सिद्धांत सामने आया है, उसके आधार पर देखें तो हमारा सारा दृष्टिकोण विधायक हो सकता है। प्रकृति का एक कण भी इधर से उधर होता है तो सारे जगत की व्यवस्था गड़बड़ा जाती है।

'चूहों को समाप्त कर दिया जाए' यह आंदोलन चल रहा है, पर चूहे समाप्त हो जाएंगे तो सैकड़ों समस्याएं पैदा हो जाएंगी। एक किसी जीव-जाति को समाप्त किया जाता है तो सैकड़ों समस्याएं खड़ी हो जाती हैं।

मक्खियां निकम्मी नहीं हैं। मनुष्य जाति के लिए वह बहुत उपयोगी हैं। मच्छर भी मनुष्य जाति का बड़ा उपकार करते हैं। ये डंक भी मारते हैं, पर मनुष्य जाति के लिए बड़े उपयोगी भी हैं। जितने छोटे जीव-जंतु नुकसान पहुंचाने वाले हैं, वे आदमी को भला भी करते हैं। चूहे बहुत हैं, लगता है अनाज खा जाते हैं, नुकसान करते हैं, किंतु चूहे मनुष्य का भला भी कितना करते हैं। चूहे समाप्त होते हैं तो बिल्लियां भी समाप्त होती हैं। चूहे समाप्त होते हैं तो बहुत सारे कीटाणु नष्ट करने वाली जातियां समाप्त होती हैं। इतना सारा जुड़ा हुआ है। प्रकृति का एक कण दूसरे कण से जुड़ा हुआ है। एक धागा कभी कोई काम नहीं कर सकता। हजारों-हजारों धागे जुड़ते हैं, कपड़ा बनता है। ओढ़ने के काम आता है। बोरा बनता है। वह वजन डालने के काम में आता है। न जाने कितना उपयोग होता है। एक धागा होता तो धागा ही रह जाता है। जब बहुत सारे धागे जुड़ जाते हैं तो बहुत उपयोगी बन जाते हैं।

हमारी सारी दुनिया एक जोड़ है। कोई तोड़ नहीं है। मात्र एक योग है। योग से ही सारा जीवन चलता है। जगत में, प्रकृति में जितनी जीव-जातियां और प्रजातियां हैं, जितने पदार्थ हैं, उन सबका एक जोड़ है। जोड़ है इसलिए सब कुछ चल रहा है। जहां भी जोड़ में थोड़ा-सा टूटा, खराबी हो जाती है, सब कुछ लड़खड़ा जाता है। एक के टूटने से प्रकृति की सारी व्यवस्था प्रभावित हो जाती है।

पर्यावरण-विज्ञान का अर्थ है कि जोड़ यथावत बना रहे। जो जैसे हैं, वैसे बने रहें। प्रकृति के कार्य में हस्तक्षेप मत करो, उसमें तोड़-फोड़ मत करो, नहीं तो बड़ी गड़बड़ियां पैदा हो जाएगी।

आज अणु-परीक्षणों के द्वारा तथा नाना प्रकार के अन्य परीक्षणों के द्वारा हमारी पृथ्वी पर जो एक आवरण बना हुआ है, वह क्षत-विक्षत हो रहा है। आदमी बड़ा चिंतित है कि जब तक यह पर्यावरण सुरक्षित है, मोटाई है, तब तक सूर्य की तेज किरणों से हमारा बचाव होता है और जिस दिन यह आवरण कमजोर हो जाएगा और सूर्य की किरणें सीधी आने लगेगी तो आदमी जी नहीं सकेगा, यह दुनिया जी नहीं सकेगी।

विधायक चिंतन

हम विधायक चिंतन का निर्माण करें, अपने चिंतन को विधायक बनाएं, दूसरे के चिंतन का मूल्यांकन करें। चिंतन को विधायक बनाने के लिए अपनी चेतना को काटना बहुत जरूरी है। हमारी चेतना बहुत जुड़ी हुई चेतना है। उस

पर जो जमा हुआ है, उसे काटना पड़ेगा, तराशना पड़ेगा। इतना होने पर ही वह समाज और 'पर' के संदर्भ में फिट हो सकेगी। दूसरे के प्रति हमारी चेतना में जो हिंसा का भाव है, असत्य का भाव है, परिग्रह का भाव है, दूसरों पर अधिकार करने का भाव है, उसे काटना होगा, तराशना होगा। यदि चेतना को नहीं तराशेगे तो दृष्टिकोण निषेधात्मक बना रहेगा।

दूसरे के प्रति हमारा विधायक चिंतन बने, इसके लिए जरूरी है कि हम चेतन की दृष्टि से देखें, उसका वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन न करें। चेतना का अनुभव किए बिना वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण और वस्तुनिष्ठ चेतना को बदल देना संभव नहीं होता।

एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे व्यक्ति में संयम आता है, सादगी आती है, सहिष्णुता आती है, पर तब आती है जब अपनी दृष्टि स्वनिष्ठ बन जाती है, चेतना स्वनिष्ठ बन जाती है।

सारी समस्या और निषेधात्मक दृष्टि का मूल आधार है हमारा पदार्थलक्षी दृष्टिकोण, पदार्थ के प्रति अतिरिक्त मूल्य की भावना। जिस दिन हम ध्यान की अतल गहराई में जाकर इस सचाई का अनुभव कर सकेंगे पदार्थ को उपयोगिता की दृष्टि से देख सकेंगे, अधिकार जमाने की दृष्टि बदल जाएगी, उस दिन आदमी आदमी होगा, दूसरा होने पर भी आदमी आदमी होगा, चेतना होगी और उसके प्रति हमारा दृष्टिकोण विधायक रहेगा। मैं सोचता हूं कि जीवन के प्रति उतरते-चढ़ते क्षणों में सामाजिक समस्याओं के उलटते-पलटते पृष्ठों में आज एक बहुत बड़ी समस्या है। हजारों-हजारों समस्याओं की दुहाई और समाधान एक दो का भी उपलब्ध नहीं। कैसा आश्चर्य! धर्म के लोग भी समस्या उपस्थित करते हैं और समस्याओं का ताना-बाना इतना बड़ा हो गया है कि कहीं सिमटता नजर नहीं आ रहा है। इसका एक ही कारण है कि हमारी दृष्टि में मूर्च्छा है। जब दृष्टि में मूर्च्छा है तो हमारे चरित्र में भी मूर्च्छा है। दो ही मूर्च्छाएं होती हैं दृष्टि की मूर्च्छा और चरित्र की मूर्च्छा।

ध्यान करने वाले व्यक्ति को इस सचाई को बहुत गहराई से समझना है कि पहले दृष्टि की मूर्च्छा टूटनी चाहिए, दृष्टिकोण का परिमार्जन होना चाहिए। उसका आधार है अनुभव और प्रयोग। सिद्धांत की बात अधूरी रह जाती है बिना प्रयोग के। प्रयोग और सिद्धांत इन दोनों का जोड़ होता है और इस जोड़ में से जो फलश्रुतियां निकलती हैं, वे बहुत मूल्यवान होती हैं।

8. प्रतिक्रिया से कैसे बचें? (1)

आज मेरा जन्म दिन है। यह अब बताने में संकोच नहीं है, क्योंकि आप पहले जान चुके हैं। मैं एक नए संकल्प के साथ प्रवेश कर रहा हूं और वह संकल्प है 'अहिंसा का और अधिक विकास।'

लोग जानना चाहते हैं मेरे जीवन के बारे में और मेरे विकास के बारे में। पूछते हैं कि आपने इतना अधिक कैसे लिखा? इतना विकास कैसे किया? मैं बताना चाहता हूं कि मुझे एक सूत्र मिला और वह सूत्र मेरे जीवन में सहज व्याप्त हो गया है। वह सूत्र है प्रतिक्रिया से मुक्त रहना।

हिंसा के रूप

हिंसा के दो रूप हैं–प्रतिक्रिया और प्रतिशोध। मारना भी हिंसा है, पर आदमी हमेशा किसी को मारने की मुद्रा में नहीं रहता, किसी को मारता भी नहीं। यदि वह रोज किसी को मारने लगे तो स्वयं पगला जाए। मारने की बात तो यदा-कदा जीवन में आती है। कोई आदमी अपराधी होता है, क्रूर होता है तो जीवन में किसी को मार डालता है। यह मारने वाली हिंसा हमारी दुनिया में कम चलती है। हिंसा के दो रूप ज्यादा चलते हैं एक है प्रतिक्रिया और दूसरा है प्रतिशोध। प्रतिशोध से भी प्रतिक्रिया वाली बात ज्यादा चलती है।

जीवन में प्रतिदिन पचासों बार प्रतिक्रिया करते हैं, पचासों बार हिंसा का जीवन जी लेते हैं। बहुत बार ऐसा होता है कि हमारा श्वास हिंसा का श्वास बन जाता है। हमारा उच्छ्वास हिंसा का उच्छ्वास बन जाता है। जीवन में प्रतिक्रिया के बहुत प्रसंग आते हैं। मैंने बचपन से अपना एक सूत्र बनाया कि यदि मुझे अपने जीवन में सफल होना है, कुछ काम करना है तो इस प्रतिक्रिया के चक्कर में नहीं फंसना है। जो आदमी प्रतिक्रिया के चक्कर में फंस जाता है, उसकी सारी सृजनात्मक शक्तियां समाप्त हो जाती हैं, केवल ध्वंस और ध्वंस ही उसके सामने बचता है। वह कोई बड़ा काम नहीं कर सकता, क्योंकि

आखिर शक्ति का एक स्रोत है। ऊर्जा का एक प्रवाह है। उसे इधर मोड़ दें, चाहे उधर मोड़ दें। किधर भी मोड़ दें। शक्ति तो आखिर है जितनी ही है। उसको किस दिशा में लगाना चाहते हैं, इसका चुनाव और निर्णय या निर्माण तो आपको ही करना है। शक्ति को ध्वंस में भी लगाया जा सकता है और शक्ति को सृजनात्मक कार्यों में भी लगाया जा सकता है। शक्ति को रचनात्मक बनाना है या शक्ति को ध्वंसात्मक बनाना है, यह हर व्यक्ति को चुनाव करना होता है।

मैंने चुनाव किया और मुझे प्रसन्नता है कि मैं प्रतिक्रिया से अधिक से अधिक बचा हूं। इसका मुझे संतोष है। मुझे याद नहीं कि किसी के प्रति शत्रुता का भाव किया हो। मुझे मालूम हो जाता कि अमुक आदमी मेरे बारे में अनिष्ट सोच रहा है, पर मैंने हमेशा यह सोचा कि वह सोच रहा है, उसकी शक्ति नष्ट हो रही है। एक आदमी को वमन हो रही है तो क्या जरूरी है कि दूसरा भी वमन करे? होता है तो बड़ी दुर्बलता है। एक आदमी वमन करता है तो दूसरा भी वमन करने लग जाता है। प्रतिक्रिया का चिंतन भी वही करता है जिसका मनोबल दृढ़ नहीं होता। जिसका शरीरबल और मनोबल दृढ़ है, वह ऐसा नहीं करता।

स्वतंत्र चिंतन

हिंसा एक विकट समस्या है। हमारे जीवन में हिंसा के बहुत प्रसंग आते हैं। प्रसंग आने पर हिंसा में न जाएं, प्रतिक्रिया के प्रसंग आने पर प्रतिक्रिया में न जाएं, अहिंसा और क्रिया का जीवन जी सकें तो हमारी सबसे बड़ी उपलब्धि है।

क्रियात्मक जीवन जीना अपने स्वतंत्र दायित्व का अनुभव करना है, स्वतंत्र कर्तृत्व का अनुभव करना है। व्यक्ति क्रियात्मक जीवन जीता है, वह कोई भी काम करता है तो कर्तृत्व के आधार पर करता है, दायित्व के आधार पर करता है, किंतु दूसरे के हाथ का खिलौना बनकर नहीं करता। प्रतिक्रिया करने वाला तो दूसरे के हाथ का खिलौना है। जो प्रतिक्रिया का जीवन जीता है, वह कठपुतली है, खिलौना है।

कहानी तो बच्चों की है, पर मार्मिक है। बाप और बेटा दोनों घोड़े पर चढ़कर जा रहे थे। लोग मिले, बोले–देखो! मरियल घोड़ा और उस पर बैठे हैं दो व्यक्ति। विचित्र आदमी है। तत्काल पिता के मन में प्रतिक्रिया हुई, वह नीचे उतर गया। अपना कोई चिंतन नहीं था। चढ़ा, तब चिंतन के साथ ही चढ़ना था। अब लोगों ने कहा, वह नीचे उतर गया। बाप-बेटा थोड़ा आगे गए। दूसरे

लोग मिले, बोले–देखो! कैसा जमाना आया है। लड़का जवान है, ऊपर बैठा हुआ जा रहा है। बाप बेचारा जूते घिसते-घिसते चल रहा है। काफी व्यंग कसा तो लड़का नीचे उतर गया और बाप ऊपर चढ़ गया। थोड़ा आगे चले। लोग मिले, बोले– देखो! बड़ी विचित्र बात है कि बाप तो ऊपर बैठा है और बेचारा छोकरा नीचे चल रहा है। यह सुनकर बाप भी उतर गया। दोनों उतर गए, दोनों पैदल चलने लगे घोड़े की लगाम थामें। थोड़ा आगे चले, आदमी मिले, बोले–देखो! कितने मूर्ख हैं। घोड़ा तो खाली चल रहा है, ये पैदल चल रहे हैं।

अब क्या करे? प्रतिक्रिया का जीवन जीने वाला कहां जाए? जाने का रास्ता नहीं बचता। सारे रास्ते बंद हो जाते हैं। इतना विचित्र चिंतन और विचित्र बातें आती हैं कि कहीं टिक नहीं पाता।

एक संन्यासी बना था नया-नया। उसी गांव का था। तालाब के पास डेरा लगाए बैठा था। एक दिन सो रहा था। सिरहाने ईंट रखी हुई थी। महिलाएं पानी लाने तलाब पर जा रही थीं। एक महिला बोली–देखो! संन्यासी बन गया तो क्या हुआ! अभी सिरहाने का मोह नहीं छूटा, और कुछ नहीं तो ईंट को ही सिरहाने दे रखा है। संन्यासी ने सुना और सोचा–ठीक नहीं किया मैंने। उसने ईंट को निकाल दिया बिना सिरहाने दिए ही सो गया। बहिनें पानी लेकर वापस आईं, देखा और फिर बोलीं– देखो! कितना कमजोर है यह संन्यासी! हमने कहा और ईंट निकाल दी। संन्यासी ने सुना और ईंट फिर लगा ली। वही बहिन दुबारा पानी लेने आई, देखा और बोली, अच्छे संन्यासी बने तुम! हमारे कहने से ईंट निकालोगे और हमारे कहने से ईंट लगाओगे तो फिर संन्यासी बनोगे ही नहीं। संन्यासी बनना है तो हम कहते रहेंगे, तुम्हें जो करना है वह करते रहो। हम कहते हैं उसकी प्रतिक्रिया से तुम चलोगे तो संन्यासी नहीं बन पाओगे।

इस दुनिया में जीना और प्रतिक्रिया के साथ जीना, यह सबसे बड़ी समस्या है। अहिंसा की सबसे बड़ी फलश्रुति है कि कौन क्या कहता है, इससे निरपेक्ष होकर अपने धर्म के आधार पर चलो, अपने धर्म के आधार पर करो। जब तक हमारी प्रतिक्रियात्मक वृत्ति की सफाई नहीं होती, धुलाई नहीं होती तो कौन अहिंसक बन सकता है? अहिंसा की बहुत बड़ी बात लोग करते हैं, पर केवल स्थूल बात पर ही अटक जाते हैं। बस इतना-सा कि पैर से चींटी मर जाती है तो लगता है कि हिंसा हो गई और भारी से भारी प्रतिक्रिया हो जाती है तो लगता ही नहीं कि हिंसा हुई है।

कारण अनुशासनहीनता का

आज की अनुशासनहीनता का कारण क्या है? सबसे बड़ा कारण है प्रतिक्रिया। दूसरे की बात सुनना, दूसरे की बात मानना–यह तथ्य हमारे जीवन से निकलता जा रहा है। लोग सोचते हैं, अपनी जो धारणा हो, उससे ही काम करना, दूसरा कौन कहने वाला है? सीख मानना, शिक्षा स्वीकार करना यह हमारे आदत में ही जैसे नहीं रहा। आज की नई पीढ़ी में असहिष्णुता, दूसरे की बात स्वीकार न करना, अनुशासन को न मानना–ये तथ्य जो पनप रहे हैं, यह भी हिंसा है। यह उग्र होती जा रही है। इसमें दोनों ही कारण बनते हैं कहने वाले कहना नहीं जानते और मानने वाले मानना नहीं जानते।

अनुशासन जीवन में बहुत आवश्यक होता है। सामाजिक जीवन हो और अनुशासन न हो तो वह सामाजिक जीवन मात्र हड्डियों का ढांचा रह जाता है। हमारा शरीर चल रहा है। यह हड्डियों का ढांचा ही तो है। एक अस्थिकंकाल है। हर मनुष्य का शरीर, हर प्राणी का शरीर एक अस्थिकंकाल है, पर यह चलता है। किस आधार पर चलता है? इसमें प्राण की शक्ति काम करती है। प्राण के द्वारा यह शरीर चल रहा है। यदि प्राण की शक्ति न हो तो यह ढांचा मात्र रह जाता है, चल नहीं सकता।

अनुशासन हमारे जीवन की प्राण-शक्ति है। प्राण है पर अहिंसा का विकास हुए बिना अनुशासन का विकास नहीं हो सकता। जितनी हिंसा, उतनी अनुशासनहीनता। जितनी अहिंसा, उतना अनुशासन। अहिंसा का एक रूप होता है क्रियात्मक जीवन, प्रतिक्रियाविरति, प्रतिक्रिया से मुक्ति।

पंचतंत्र की एक कहानी है बंदर और बया की। बया का घोसला एक पेड़ पर था और उसी पेड़ पर एक बंदर बैठा था। वर्षा का मौसम था। तेज वर्षा हो रही थी। बंदर कांप रहा था। बया अपने घोसले में बैठी थी। गहरी वर्षा होने लगी। बंदर की कंपकंपी को देखा तो बया बोली, 'अरे बंदर! तुम तो आदमी जैसे हो। तुम्हारे हाथ हैं, पैर हैं। तुम सब कुछ कर सकते हो। एक घर क्यों नहीं बना लेते?

इतना सुनते ही बंदर गुस्से से भर गया। वह झपटा और बया के घोसले को तोड़कर नीचे गिराते हुए बोला–असमर्थो गृहारम्भे, समर्थो गृह-भञ्जने-अरे! तू उपदेश देती है? कौन है तू उपदेश देने वाली? मेरे सब कुछ हैं, हाथ हैं, पैर हैं, मैं अपना घर बनाने में तो समर्थ नहीं हूं, पर दूसरे के घर तोड़ने में तो समर्थ हूं।'

यह एक प्रतिक्रिया का जीवन है। बया ने अच्छी बात कही थी, कोई बुरी बात नहीं कही थी। उसने कोई बुरा शब्द भी नहीं कहा था, पर आदमी (बंदर) का अहं इतना फुफकारता है, वह सोचता है कि मुझे कहने वाला कौन? हर आदमी अपने आपको सर्वोपरि माने बैठा है। माने या न माने, करे या न करे, पर भीतर में इतना प्रबल अहंकार है कि वह सोचता है, मुझे कौन कहने वाला? क्या मैं नहीं समझता? क्या मैं नहीं जानता? मैं मूर्ख हूं? यह ज्यादा समझदार है मुझे कहने वाला? इतना क्रूर और इतना डरावना यह अहं का नाग, हमारे भीतर बैठा है। वह जहरीला है। जब कभी कोई सामने आता है तो वह डंक मारने को तैयार रहता है।

प्रतिक्रिया का कारण है अहंकार

अहंकार हमारे भीतर है तब अहिंसा का विकास कैसे होगा? प्रतिक्रिया से मुक्त हम कैसे हो सकेंगे? मैं कोई साधु की बात नहीं कर रहा हूं। केवल साधु-संन्यासी के जीवन की बात नहीं कर रहा हूं। मैं सामाजिक जीवन के संदर्भ में कुछ चर्चा कर रहा हूं। सामाजिक जीवन में भी एक सीमा तक अहंकार को कम करना जरूरी होता है। जो संन्यासी बन गया, उसके लिए तो अहंकार को कम करना जरूरी है ही, किंतु संन्यासी तो नहीं बना, पर सामाजिक जीवन जी रहा है, उसके लिए भी आवश्यक है कि अहंकार को कम करता चले। कम करता चले।

महारानी विक्टोरिया गई। दरवाजा खटखटाया। भीतर था प्रिंस अलबर्ट। उसने पूछा, कौन है? उसने कहा–महारानी विक्टोरिया। दरवाजा खुला नहीं, फिर खटखटाया और फिर पूछा–कौन है? उसने फिर कहा–'आपकी प्रिय पत्नी विक्टोरिया।' तत्काल दरवाजा खुल गया। महारानी के लिए दरवाजा नहीं खुल सकता और प्रिय के लिए दरवाजा खुल सकता है। जब अहंकार बैठा है तो सामने वाला व्यक्ति भी तन जाता है। एक का अहंकार दूसरे में भी अहंकार पैदा कर देता है। एक की विनम्रता दूसरे को भी विनम्र बना देती है। प्रतिक्रिया का बहुत बड़ा कारण बनता है अहंकार। एक पक्ष का अहंकार भी प्रतिक्रिया का कारण बनता है और यदि अहंकार दोनों पक्षों में हो जाए तो फिर भयानक स्थिति बन जाती है।

प्रतिक्रिया का दूसरा हेतु बनता है गलती बताना। कोई आदमी किसी को बताए कि यह तुमने गलती की, यह तो बड़ी भयंकर बात है। न बताए तब तक

तो ठीक है, बताने पर सौ में निन्नावे व्यक्ति ऐसे होंगे कि एकदम आवेग में आ जाएंगे। बड़ी कठिन समस्या है, दूसरे की गलती बताना। दूसरे के दोष बताने का मतलब है कि शत्रुता मोल लेना। यह विचार गृहस्थों में ही नहीं, साधना करने वाले व्यक्तियों के मन में भी है। मैं कोई किसी की गलती बताऊं, इसका मतलब शत्रुता मोल ले लूं? क्योंकि गलती बताने पर उसे सम्यक् स्वीकार करे और यह कहे कि तुमने बहुत अच्छा काम किया, मुझे जताया, मुझे सावधान किया, बहुत अच्छा है, मैं और सावधान रहूंगा यह बात तो सुनने को मिलती नहीं और गलती बताते ही बताने वाले पर बरस पड़ता है कि कल का छोकरा और मुझे गलती बता रहा है? तुझे पता है, तूने जितना आटा खाया है उतना मैं नमक खा चुका हूं। मेरी क्या गलती बताएगा? मुझे क्या चेताएगा? इतनी भयंकर प्रतिक्रिया जागती है कि वह प्रतिक्रिया प्रतिशोध में बदल जाती है। प्रतिशोध भी भयंकर होता है। मैंने देखा है, अनुभव किया है, एक व्यक्ति ने किसी को बता दिया कि तुम यह गलती कर रहे हो। उसने गांठ बांध ली। अब वह प्रतिवाद में दिन में पचास बार कहता– यह तुम गलती कर रहे हो। उसने सोचा, किस भूत से वास्ता हो गया, पिंड छुड़ाना मुश्किल है। मैंने तो सहज भाव से बताई कि भाई! यह तुम्हारी गलती है। इसके मन में तो प्रतिशोध की भावना जाग गई। अब यह मेरे पीछे पड़ गया है? उठूं तो गलती कर रहे हो, बैठूं तो गलती कर रहे हो, चलूं तो गलती कर रहे हो, हर बात-बात में कह रहा है कि गलती-गलती। ऐसा लगता है मानो गलती बताना, इसका एक मंत्र बन गया है। यह एक प्रतिक्रिया का प्रसंग है। इस प्रकार की प्रतिक्रिया जागती है। मैंने अनुभव किया है कि अहिंसा का विकास हुए बिना इस प्रतिक्रिया से आदमी बच नहीं सकता।

आचार्य भिक्षु का जीवन मैं अहिंसा का जीवन मानता हूं। दो व्यक्ति हिंदुस्तान में इन दो शताब्दियों में मेरे सामने आते हैं आचार्य भिक्षु और महात्मा गांधी। दोनों के जीवन में कुछ बातों में बड़ी समानता है। आचार्य भिक्षु ने अहिंसा का बड़ा प्रयोग किया। महात्मा गांधी ने भी किया।

आदर्श है भिक्षु

प्रतिक्रिया मुक्ति कैसे हो सकती है, इसका जीवंत उदाहरण हैं आचार्य भिक्षु।

एक भाई आकर बोला, महाराज! अमुक व्यक्ति आप में यह-यह दोष

निकाल रहा है। वह कहता है–भिक्षु में यह दोष है, यह अवगुण है। अनेक दोष निकाल रहा है। आचार्य भिक्षु प्रसन्न मुद्रा में बोले, क्या बुरा हुआ? साधु इसीलिए बना हूं कि दोषों को बाहर फेकूं। मैं साधना कर रहा हूं, तपस्या कर रहा हूं, कुछ दोष मैं बाहर निकाल रहा हूं। वह भाई मेरा बड़ा सहयोगी है, कुछ दोष मेरे वह निकाल रहा है, मेरा सहयोग कर रहा है, तुम बुरा क्यों मानते हो? बात समाप्त हो गई।

यह है हमारा क्रिया का जीवन। आचार्य भिक्षु में प्रतिक्रिया या हिंसा की कोई भावना नहीं जागी। अन्यथा किसी को यह कहकर देखो कि अमुक व्यक्ति तुम्हारे में वह दोष निकाल रहा है, यह दोष निकाल रहा है। किसी राजनीति के व्यक्ति को कह दो, दूसरा तुम्हें बुरा बता रहा है, दोषी बता रहा है, उसमें भयंकर प्रतिक्रिया जाग उठेगी। प्रतिशोध की भावना भी प्रबल हो जाएगी।

कोई चुनाव लड़ रहा था। किसी ने यह कह दिया कि अमुक व्यक्ति तुम्हें गालियां दे रहा है। उसने कहा कोई बात नहीं, चुनाव लड़ लूं, मंत्री बन जाऊं, फिर देखता हूं गालियां देने का क्या अर्थ होता है।

हर आदमी की यह प्रतिक्रिया होती है कि कोई गाली दे और गाली को सहन कर ले तो आदमी बना ही क्या? कोरी मिट्टी है। एक तो गाली दे रहा है और उसे सहन कर ले, जो दोष बता रहा है उसे सहन कर ले, क्या आदमी बनो? बहुत कम लोग होते हैं जो इस प्रकार के प्रसंग उपस्थित होने पर अपना संतुलन बनाए रख सकें और बुराई को अच्छाई में बदल सकें।

अपकार नहीं, उपकार

आचार्य भिक्षु की ही एक दूसरी घटना प्रस्तुत करना चाहता हूं। पाली में चातुर्मास करना था। वहां गए। रहने के लिए स्थान की खोज करने लगे। बाजार में देखा कि एक दुकान है। पुरानी-सी दुकान। आचार्य भिक्षु ने मालिक से स्वीकृति मांगी कि 'हमें चातुर्मास में रहने के लिए तुम्हारी दुकान चाहिए।' उसने स्वीकृति दे दी। वे ठहर गए। दूसरे लोगों को पता चला। दुनिया में सब प्रकार के लोग होते हैं। आचार्य भिक्षु का विरोध करने वाले तो उस समय बहुत बड़ी संख्या में थे। पता चला कि भिक्षु को रहने के लिए स्थान मिल गया। कुछ लोग उस दुकान के मालिक के पास गए और बोले, किसको स्थान दिया है? निकाल दो। भला नहीं होगा। उसे बहुत भड़काया। वह भ्रम में आ गया। उसने भिक्षु से आकर कहा–'आप यहां पर नहीं रह सकते।' उन्होंने कहा–ठीक है।

अगर मालिक अस्वीकृति दे तो ठहरने का प्रश्न ही नहीं होता। आचार्य भिक्षु ने तत्काल वहां से प्रस्थान कर दिया। वे किसी दूसरे स्थान पर चले गए, वहां ठहर गए। चौमासे का समय, वर्षा ऋतु का समय, अच्छी वर्षा हुई। कोई ऐसा योग मिला कि तूफान के साथ गहरी वर्षा के कारण दुकान ढह गई। आचार्य भिक्षु को पता चला कि दुकान तो ढह गई है। आचार्य भिक्षु ने कहा–देखो! कितने उपकारी थे वे लोग! उन्होंने कितना बड़ा उपकार किया! अगर वे उपकार न करते तो पता नहीं हम दुकान में होते, दुकान ढहती, हमारा क्या होता? उन्होंने हमारे प्राणों को बचा लिया। वे कितने बड़े उपकारी हैं?

क्या ये प्रतिक्रिया के स्वर हो सकते हैं? जिस व्यक्ति में हिंसा की थोड़ी भावना है, जिस व्यक्ति में प्रतिक्रिया की थोड़ी भावना है वह व्यक्ति इस प्रकार सोचेगा कि उन्होंने हमें निकाल दिया। हम इस तिरस्कार का बदला लेंगे, प्रतिशोध लेकर रहेंगे। यदि कोई बदला न ले सके तो बुरा-भला तो कह ही देता है। प्रतिक्रिया पैदा करती है हिंसा, तनाव, असंतुलन, रक्त-संचार में अवरोध और कभी-कभी वह अवरोध, उस बिंदु पर भी पहुंच जाता है, जहां हेमरेज की स्थिति भी आ जाती है। ब्रेन हेमरेज जो होता है, उसके पीछे तनाव होता है और तनाव के पीछे हिंसा होती है, प्रतिक्रिया का भाव होता है, प्रतिशोध की आग होती है।

हिंसा से वेग

अहिंसा का सिद्धांत केवल धर्म का ही सिद्धांत नहीं है। वह अच्छा जीवन जीने का सिद्धांत है, स्वस्थ जीवन जीने का सिद्धांत है। हम बीमारियों के बारे में बहुत सोचते हैं। औषधियां बढ़ रही हैं और रोग भी बढ़ रहे हैं। अनुसंधान होना चाहिए, बीमारियां केवल कीटाणुओं के कारण ही नहीं बढ़ रही हैं, वे हमारी मानसिक हिंसा के कारण भी बढ़ रही हैं।

हमने देखा है कि प्रेक्षा-ध्यान शिविर में अभ्यास करने वाले लोग दवाइयों की आदत से मुक्त हो जाते हैं। उनकी भयंकर बीमारियां मिट जाती हैं। प्रश्न हो सकता है कि ये बीमारियां कैसे मिट जाती हैं? आपको ज्ञात होना चाहिए कि सारी बीमारियां शरीर की बीमारियां नहीं हैं, वे साइकोसोमेटिक-मनोकायिक बीमारियां हैं। मन से पैदा होने वाली, हिंसा से पैदा होने वाली बीमारियां हैं। ध्यान के द्वारा यह हिंसा का मूल, हिंसा का दबाव कम होता है, प्रतिक्रिया-विरति होती है, तब बेचारी बीमारियां टिकेंगी कैसे? उनके टिके रहने का

आधार ही समाप्त हो जाता है। तर्कशास्त्र का एक नियम है, कारणाभावे कार्याभावः-कारण का अभाव होता है तो कार्य का अभाव होता है। कारण के बिना कार्य कहां से रहेगा? इस कारण की खोज नहीं करते। आज की अनेक समस्याओं में हम बाहरी-बाहरी बातों की खोज करते हैं। मूल कारण की खोज नहीं करते। यदि इस सचाई को मानें कि मानसिक हिंसा के कारण बीमारियां बहुत बढ़ रही हैं तो शायद दवाइयों के चक्कर में बहुत फंसने की जरूरत नहीं रहती और स्वास्थ्य के लिए बहुत चिंता करने की आवश्यकता भी नहीं रहती। स्थिति यह है कि शिविर में ऐसे बहुत सारे लोग आते हैं, जो डॉक्टरों के चक्कर से थक जाते हैं और दवाइयों के चक्कर से परेशान हो जाते हैं। दवाइयों से लाभ कैसे होगा क्योंकि रोग पैदा करने वाली शक्ति तो दूसरी है। दवा लेते हैं कीटाणुओं की। डॉक्टर के पास है ही क्या? बेचारा डॉक्टर क्या करता है? वह तो यही करेगा कि इस बीमारी के जर्म्स हैं, जर्म्स को खतम कर दें। ज्यादा से ज्यादा एंटीबायोटिक देगा। बस, यही उसकी सीमा है। क्या करेगी एंटीबायोटिक? कीटाणुओं को नष्ट करेगी। पर साथ-साथ जीवनी-शक्ति को भी नष्ट करेगी। उसका काम तो नष्ट करना है। एंटीबायोटिक में यह विवेक नहीं है कि केवल कीटाणुओं को मारे और आपके जीवन को संरक्षण देने वाले तत्त्वों को समाप्त न करे। इसका काम तो समाप्त करना है। यह जीवनी शक्ति को भी समाप्त करेगी और कीटाणुओं को भी समाप्त करेगी।

प्रेक्षाध्यान है समाधान

कोई भी एंटीबायोटिक लेने वाला परेशानियों से बचा हो, ऐसा लगता नहीं। उसे साथ में विटामिन की गोलियां लेनी पड़ती हैं, ताकि जो क्षति हो, उसकी पूर्ति होती रहे। डॉक्टर हमेशा सुझाएगा कि एंटीबायोटिक ले रहे हो तो साथ में 'बिकोसूल' लेना है। बी काम्प्लेक्स लेना है, कब तक चलेगा यह? कीटाणुओं को मारने के लिए डॉक्टर दवा देता है, रोगी लेता चला जाता है और बीमारी का कारण कोई तीसरा है, उसका पता ही नहीं चलता। बीमारी मिटे कैसे? यह बीमारी कीटाणु की बीमारी नहीं। ये बहुत सारी बीमारियां हिंसा की भावना से उत्पन्न बीमारियां हैं। जब मन से हिंसा निकल जाती है, तत्काल ऐसा लगता है कि स्वस्थ हो गया हूं।

हमने देखा कि ध्यान करने से सुगर की बीमारी ठीक होती है। अल्सर की बीमारी, रक्तचाप की बीमारी ठीक होती है। प्रश्न होता है? बीमारी क्यों

मिट गई? दवा तो नहीं ली। ध्यान किया और एक्जिमा ठीक हो गया। ऐसा क्यों हुआ? ये बहुत सारी बीमारियां मानसिक बीमारियां हैं। ये हिंसा से पैदा होने वाली बीमारियां है। हमने इस ओर कभी ध्यान नहीं दिया। हिंसा को बहुत स्थूल अर्थ में पकड़ा। कहते हैं कि जैन लोग अहिंसा परमोधर्मः मानते हैं। मुझे तो नहीं लगता कि परम धर्म मानते हैं। परम धर्म मानते तो उसका परिणाम यह आता कि जैनों में कम से कम बीमारियां मिलती। आज तो लगता ही नहीं कि जैन लोग कम बीमार हैं। धार्मिक लोग कम बीमार हैं, ऐसा लगता नहीं। इसका अर्थ यही होता है कि उन्होंने अहिंसा को सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया, एक प्रयोग के रूप में स्वीकार नहीं किया। प्रेक्षा-ध्यान धर्म का प्रायोगिक रूप है। हम सिद्धांत की चर्चा करते-करते, सिद्धांत का विवाद करते-करते इतने पुराने हो गए हैं कि बेचारा सिद्धांत भी हमसे घबराने लगा है। वह भी चाहता है कि इनसे छुट्टी पा लूं। एक है अहिंसा का सिद्धांत। पहला इधर खींचता है और दूसरा उधर। इस चर्चा और खींचातानी से अहिंसा स्वयं परेशान हो गई और वह चाहती है कि इन अहिंसा के पंडे-पुजारियों से मेरी मुक्ति हो जाने पर ही मेरा कल्याण होगा।

हम एक नए दृष्टिकोण का निर्माण करें। सिद्धांत की चिंता में बहुत न उलझें। बहुत गहरे में न जाएं। सिद्धांत की पुष्टि प्रयोग के द्वारा करें। प्रयोग का मूल्यांकन करें। यह सोचें कि प्रयोग होगा तो जीवन में अहिंसा उतरेगी।

मैं जानता हूं कि सौ बार अहिंसा से सिद्धांत की चर्चा करना और एक घंटा अहिंसा की साधना के लिए प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग करना, दोनों की तुलना की जाए तो प्रयोग-साधना सौ बार की चर्चा से कहीं ज्यादा मूल्यवान है। एक घंटा प्रयोग करने वाला व्यक्ति चेतना के उस स्तर पर पहुंचता है, जहां अहिंसा का दर्शन होता है, साक्षात्कार होता है। वहां सही मूल्यांकन होता है। चित्त की निर्मलता से प्रियता और अप्रियता के संवेदन से मुक्ति पा लेने पर जिस प्रकार की चेतना का निर्माण होता है, उसका हमें पता चलता है। सिद्धांत की चर्चा करते-करते पूरे बारह वर्ष भी बिता दें, तो भी राग-द्वेष के घटने की बात शायद नहीं आएगी। वह बढ़ेगा ही बढ़ेगा।

मुझे एक घटना याद है आचार्य श्री के जीवन की। हरियाणा की घटना है। भिवानी का एक भाई आया और बोला–आचार्य जी! आपसे शास्त्रार्थ करना चाहता हूं। आचार्यश्री ने कहा–'भाई! किसलिए?' वह बोला–'बस, करना

चाहता हूं।' 'अरे क्यों? क्या करोगे? उद्देश्य क्या है तुम्हारा?' आखिर बोल पड़ा वह, 'मैं आपको पराजित करना चाहता हूं।' आचार्यश्री ने कहा–'इतना छोटा-सा उद्देश्य और इतना बड़ा समारंभ? निकालनी तो है चूहिया और पहाड़ खोदोगे, क्या होगा भला? आखिर चूहिया ही निकालनी है तो पहाड़ खोदने का क्या लाभ है? मुझे ही हराना है तो लो, मैं कहता हूं कि तुम जीते और मैं हारा। बाजार में जाकर बता देना। लोगों को बता दो कि आचार्य तुलसी हार गए और मैं जीत गया। बस! तुम्हारी बात तो पूरी हो गई।'

अब बेचारा वह क्या बोले? बात समाप्त हो गई। हमने देखा कि दूसरी बार जब आचार्यश्री भिवानी में पधारे तो वही व्यक्ति सबसे बड़ा भक्त और स्वागत समिति का अध्यक्ष बना हुआ था और सभा का संचालन कर रहा था।

जब हम प्रतिक्रिया से मुक्त होते हैं, हमारे मन में प्रतिक्रिया नहीं होती, हमारे मन में हिंसा नहीं होती तो दूसरे व्यक्ति, सामने वाले व्यक्ति हिंसा में जा नहीं सकते, जाते-जाते रुक जाते हैं, जाना चाहते हैं तो भी उनके पैर ठिठक जाते हैं।

मेरे मन में हिंसा है और सौ बार अहिंसा के सिद्धांत की चर्चा करूं, अहिंसा की बात समझाना चाहूं तो सारी बकवास होगी, सारा व्यर्थ का प्रलाप होगा, नतीजा कुछ भी नहीं होगा।

प्रेक्षाध्यान और अहिंसा

अहिंसा के सिद्धांत को विकसित करने का एक उपाय है प्रेक्षाध्यान। यह प्रायोगिक जीवन है। आजकल धर्म प्रयोग-शून्य बन गया है। रूढ़िवादी और मृत धर्म में हमारा विश्वास नहीं है। हमारा जीवंत धर्म में विश्वास है। हम जीवित धर्म चाहते हैं। वह धर्म जो हमारे वर्तमान की समस्या को समाधान दे सके। हम उस धर्म में विश्वास नहीं करते, जो परलोक सुधारने वाला धर्म है कि धर्म करो, तुम्हारा परलोक सुधर जाएगा। धर्म करो, नरक नहीं मिलेगा। धर्म करो स्वर्ग मिलेगा, मोक्ष मिलेगा। अरे! कब स्वर्ग मिलेगा। कब मोक्ष मिलेगा। तुम्हारा वर्तमान का जीवन तो सुधर ही नहीं रहा है और स्वर्ग और मोक्ष की बातें कर रहो हो? जिस व्यक्ति के वर्तमान के क्षण में मोक्ष नहीं होता, मरने पर कभी स्वर्ग मिलने वाला नहीं, कभी मोक्ष मिलने वाला नहीं। स्वर्ग है तो हमारा वर्तमान का क्षण है। मोक्ष है तो हमारा वर्तमान का क्षण है। जिसने वर्तमान के क्षण का मूल्यांकन नहीं किया, वह स्वर्ग और मोक्ष के चक्कर में फंसता गया,

फंसता गया और स्वर्ग तथा मोक्ष उससे दूर चलते गए, चलते गए। बेचारा कभी उन्हें छू नहीं पाएगा, समानांतर रेखा की भांति जो साथ-साथ चलती है, पर कभी मिलती नहीं।

धर्म का उद्देश्य होता है वर्तमान जीवन का सुधार, वर्तमान जीवन का परिवर्तन। बड़ी विचित्र बात हो गई। धार्मिक परिवारों में बहिनें, भाई धर्म करते हैं, धर्म-स्थानों में जाते हैं, उपासना करते हैं, पूजा करते हैं, पर लड़ाइयां भी बहुत करते हैं। जो अधार्मिक व्यक्ति करता है, वे सारे के सारे काम धार्मिक करते हैं, किसी भी काम से बच नहीं पाते। उनके हाथ में बड़ी अच्छी बात आ गई कि मोक्ष की साधना भी चल रही है, ध्यान की साधना भी चल रही है, लड़ाई और कलह की साधना भी साथ-साथ चल रही है। सब कुछ साथ चल रहे हैं। अगर ऐसे ही स्वर्ग और मोक्ष की बात जीवन में आ जाए तो किसी को बदलने की जरूरत ही नहीं है।

यह एक बहुत लंबी चर्चा है। मन होता है कि पूरे शिविर में कभी अहिंसा की चर्चा करूं। अहिंसा एक महान शक्ति है। अहिंसा एक महान ज्योति है, किंतु उस शक्ति पर एक आवरण आ गया। ज्योति पर इतनी गहरी राख आ गई कि वह तिरोहित हो गई। उसकी तेजस्विता कभी प्राप्त होती नहीं।

असीम शक्ति है अहिंसा

जो व्यक्ति अहिंसा का साक्षात्कार कर लेता है, उसमें असीम शक्ति जाग जाती है, मरने की शक्ति जाग जाती है। मरने की शक्ति दुनिया में सबसे बड़ी शक्ति होती है। दुनिया की जितनी भौतिक शक्तियां हैं, उनके पास अंतिम साधन है किसी को मार देना। इससे आगे तो उनके पास कुछ भी नहीं है। आगे क्या करेंगे? इससे बड़ी कोई शक्ति नहीं और जिस व्यक्ति में मरने की शक्ति आ गई, वह सारी भौतिक शक्तियों से अपराजेय बन गया। उसे कोई डरा नहीं सकता, कोई ध्वस्त नहीं कर सकता। कोई उसे संत्रस्त नहीं कर सकता। वह अपराजेय बन गया।

यह शक्ति का विकास अहिंसा के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। हिन्दुस्तान ने कभी इस शक्ति का अनुभव किया था, इसे समझा था, किंतु पता नहीं, मध्यकाल में क्या हुआ कि हमारी एक धारणा बन गई और इतिहास के लेखकों ने शायद कुछ गलत बात भी लिख डाली कि अहिंसा ने हमारे देश को दुर्बल बना दिया, कमजोर बना दिया। बड़ा आश्चर्य होता है। जहां भय, वहां अहिंसा

नहीं और जहां अहिंसा, वहां भय नहीं। अहिंसा और भय–दोनों एक साथ नहीं रह सकते। अग्नि और पानी में विरोध प्रतीत होता है। पर ऐसा हो सकता है कि अग्नि और पानी एक साथ रह सकते हैं, ठंडे और गर्म–दोनों एक साथ हो सकते हैं, पर अहिंसा और भय–दोनों कभी एक साथ नहीं हो सकते। इतना शक्तिशाली अस्त्र था अहिंसा कि अगर हजार आदमी मरने को तैयार हों तो एक लाख सेना की ताकत नहीं कि मरने वालों को मार सके। सेना तब मारती है, जब सामने वाला भी मारने की मुद्रा में होता है। अगर मारने की मुद्रा में न हो, आक्रमण की स्थिति में न हो तो सेना भी निरस्त हो जाती है। उसकी मुद्रा भी बदल जाती है, किंतु हमने अहिंसा को बिल्कुल निर्मूल्य और निस्तेज बना दिया है। मैं मारने की और हिंसा की बात को भी छोड़ देता हूं, हमारे सामने जो सबसे भयंकर स्थिति है, वह है मानसिक हिंसा और अहिंसा की।

जागरण अहिंसक चेतना का

प्रेक्षा-ध्यान के संदर्भ में मैं मानसिक अहिंसा पर ही अधिक चर्चा करना पसंद करूंगा, क्योंकि प्रेक्षा-ध्यान अहिंसा का एक प्रयोग है। हिंसा की वृत्तियां बदले, क्रूरता बदले, करुणा की चेतना जागे। हमारी निर्दयता ने आज अनेक समस्याएं पैदा की हैं। जितना भ्रष्टाचार है, जितनी बुराइयां हैं, जितनी अप्रामाणिकता है, ये सब क्रूरता के आधार पर पनप रहे हैं। यानी आदमी क्रूर न हो तो ऐसा हो नहीं सकता।

श्रीमद् राजचन्द्र महात्मा गांधी के गुरु स्थानीय थे। बहुत बड़े साधक थे। जवाहरात का व्यापार करते थे। एक बार कोई सौदा किया हुआ था। भाव तेज हो गए। सौदा करने वाले को उसमें पचास हजार रुपयों का घाटा लग रहा था। उस जमाने की बात है। आज तो पचास हजार कुछ भी नहीं है। उस जमाने में, आज से सत्तर वर्ष पहले, पचास हजार का कितना मूल्य था? बेचारा घबरा गया। श्रीमद् राजचन्द्र को पता चला। उसको बुलाया। वह बड़ा घबराया हुआ था। श्रीमद् ने कहा–बोलो! क्या बात है। उसके मन में तो वही बात थी। बोला–आप चिंता न करें, मैं आपका पूरा चुका दूंगा। श्रीमद् ने कहा–चुकाने की कोई बात ही नहीं। तुम्हारी स्थिति क्या है? बताओ। क्या कर रहे हो? क्या चल रहा है? उसने कहा कि मैं जानता हूं कि आपका रुपया मेरे ऊपर है, मेरे पर कर्ज है, मैं जब होंगे, तब पूरा चुका दूंगा। आप अभी जल्दबाजी न करें। श्रीमद् ने कहा–अरे! मैं तो यह बात ही नहीं कर रहा हूं। क्या रुक्का लाए

हो अपना, जिसमें अनुबंध लिखा हुआ है। उसने कहा 'रुक्का मेरे पास है, पर आप क्यों जल्दी करते हैं? वह रुक्का मैं नहीं देना चाहता। जब मेरे पास होगा, पूरा चुकाऊंगा।' श्रीमद् ने कहा–'मुझे दिखाओ तो सही।' बहुत कहा। उसने सोचा–ये मुझे फंसाना चाहते हैं। यह करेंगे, वह करेंगे, न जाने कितने विकल्प आए होंगे। उसने रुक्का श्रीमद् को दे दिया। श्रीमद् ने रुक्का लिया हाथ में और कहा–श्रीमद् दूध पी सकता है, किसी का खून नहीं पी सकता। यह कहते-कहते उन्होंने रुक्का फाड़ दिया। वह देखता रह गया।

यह है अंतःकरण की करुणा। धार्मिक व्यक्ति का पहला लक्षण होता है करुणा। जिसमें करुणा नहीं जागती, क्रूरता जिसकी समाप्त नहीं होती और वह धार्मिक भी होता है, ऐसे व्यक्ति के लिए धार्मिक शब्द का प्रयोग करना विडंबना मात्र है।

प्रेक्षा-ध्यान का प्रयोग अंतःकरण की कोमलता और करुणा की चेतना को जगाने का प्रयोग है। प्रयोग के द्वारा हमारी चेतना बदले, चेतना का रूपांतरण हो और हम हर प्राणी के साथ तादात्म्य अनुभव कर सकें-यही हमारा ध्येय है।

9. प्रतिक्रिया से कैसे बचें? (2)

क्रिया और प्रतिक्रिया—यह स्वाभाविक है। पैर में कांटा चुभा और हाथ तत्काल कांटा निकालने के लिए पहुंच गया। कांटा चुभना क्रिया है, प्रतिक्रिया है तत्काल कांटा निकालना। कांटा चुभा, संवेदी तत्त्वों के द्वारा सूचना पहुंची मस्तिष्क तक। तत्त्वों को निर्देश मिला, मांसपेशियां सक्रिय हुईं और हाथ कांटा निकालने के लिए वहां पहुंच गया। यह है क्रिया और प्रतिक्रिया का सिद्धांत।

क्रिया होगी, वहां प्रतिक्रिया निश्चित होगी। हम प्रतिक्रिया से बच भी नहीं सकते, किंतु वे प्रतिक्रियाएं, जो हमारे हितों का संरक्षण नहीं करतीं, अहित की ओर ले जाती हैं, हमारे लक्ष्य की पूर्ति में विघ्न और बाधा उपस्थित करती हैं, हमारी आदतों को विकृत बनाती हैं, उनसे बचना हमारे लिए बहुत जरूरी है। यदि प्रतिक्रिया को स्वाभाविक मानकर बैठ जाएं तो बड़ी कठिनाई पैदा हो जाएगी। लोग मान बैठे हैं, बहुत सारे लोग यही तो मानते हैं कि गाली दे तो गुस्सा आना स्वाभाविक बात है। गुस्सा आए, वह स्वाभाविक है, न आए तो अच्छा आदमी नहीं समझा जाता। यही समझा जाता है कि यह तो दब्बू है, भीरू है, डरपोक है, कमजोर है। अन्यथा ऐसा प्रसंग आए और चुप रह जाए? कैसा आदमी हुआ? उसे अच्छा नहीं समझा जाता।

हर प्रतिक्रिया को स्वाभाविक मान बैठे—यह भी खतरनाक बात है। हमें विवेक करना होगा कि जो प्रतिक्रियाएं जीवनयात्रा में स्वाभाविक हैं, उनके लिए हमें चिंतन करने की आवश्यकता नहीं, बदलने की आवश्यकता नहीं, किंतु वे प्रतिक्रियाएं जो स्वाभाविक नहीं हैं, केवल मान्यतावश, धारणावश या मूर्च्छावश फलित हो रही हैं, उनसे बचना हमारे लिए आवश्यक है। कैसे बचें? बड़ा टेढ़ा प्रश्न है, क्योंकि वे आदतें बन गई हैं और मस्तिष्क में ऐसी संरचना हो गई है कि अमुक स्थिति होने पर, अमुक स्थिति अनायास हो जाती है, न चाहने पर भी हो जाती है।

पुष्ट आलंबन

मैंने एक प्रश्न उपस्थित किया था कि प्रकाश के लिए उतना प्रयत्न होता है, अंधकार के लिए कोई प्रयत्न नहीं होता, पर प्रकाश तो चला जाता है और अंधकार स्वाभाविक जैसा बन जाता है। क्षमा के लिए इतना प्रयत्न होता है, किंतु समय आने पर क्षमा की बात विस्मृत हो जाती है और क्रोध सहज ही उभर आता है। यह स्थितियां स्वतः उभरती हैं। इनसे कैसे बचा जाए? इनसे बचने के लिए पुष्ट आलंबन की आवश्यकता है। जैन-आचार्यों ने एक शब्द का चुनाव किया। पुष्ट आलंबन। आलंबन और पुष्ट आलंबन–ये दो होते हैं यानी सामान्यतः कोई काम नहीं करना है मुनि को, किंतु पुष्ट आलंबन हो तो वह काम किया भी जा सकता। सहारा चाहिए। सहारा भी मामूली नहीं, गली (बहाना) निकालने वाला नहीं। आलंबन भी पुष्ट चाहिए। यह गली (बहाना) निकालने की बात तो बहुत कमजोरी की बात होती है।

तेरापंथ की घटना है। आचार्य ऋषिराय ने युवाचार्य जीत को आदेश दिया कि बीदासर से बीकानेर चले जाओ। भयंकर मौसम, भयंकर गर्मी और रेतीला रास्ता। भयंकर टीले। सड़कें नहीं थीं। सत्तर माइल जाना। आषाढ़ का महीना। कड़ी गर्मी। रास्ते में पानी का नाम नहीं। धूप की समस्या और उन टीलों में से चलना। पूरा रेगिस्तान। आदेश हो गया। ऋषिराय बैठे थे मेवाड़ में और आदेश हो गया युवाचार्य जीत को, बीदासर से बीकानेर चले जाओ। साधुओं ने सोचा–बड़ी समस्या है। श्रावकों ने सोचा–बहुत कड़ी बात है। न जाने क्या हो जाए? सचमुच बात भी ऐसी थी। ऐसी बात थी कि प्राणांत तक की स्थिति हो जाए। ऐसी स्थिति भी रास्ते में आ गई, विहार करने के बाद। जयाचार्य ने स्वयं लिखा है, पहले ही दिन प्रणांत हो जाए, ऐसी स्थिति का सामना करना पड़ा। लोगों ने मिलकर कहा–'महाराज! अपना अनुशासन है, आचार्य के आदेश को अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता, किंतु आप कोई गली निकाल लें जिससे आदेश का पालन भी हो जाए और विहार भी न करना पड़े।' गली (बहाना) निकाल लें युवाचार्य जीत ने सुना। तत्काल बोले 'गली (बहाना) निकाले कोई गंवार। क्या मैं नौकर हूं? गली या तो कोई नौकर निकाले या गंवार निकाले। मैं तो आदेश का पालन करूंगा।'

गली निकालने वाली बात, मूर्खता की बात होती है। समझदार आदमी कभी गली नहीं निकालता। वह अपने लक्ष्य के साथ चलता है और लक्ष्य की पूर्ति के लिए चलता है। आलंबन गली निकालने के लिए नहीं होना

चाहिए, इसलिए एक शब्द का विशेषण जोड़ा कि आलंबन पुष्ट होना चाहिए। कमजोर आलंबन नहीं। इतना पुष्ट आलंबन कि सचमुच ऐसी स्थिति थी, परिस्थितिवश यह काम अनिवार्य हो गया, इसलिए यह करना पड़ा। आलंबन पुष्ट होना चाहिए। कमजोर आलंबन से इन वृत्तियों को बदला नहीं जा सकता। पुष्ट आलंबन हो तो प्रतिक्रियाओं से बचा जा सकता है और उनके प्रवाह को मोड़ा जा सकता है।

पुष्ट आलंबन अभ्यास के द्वारा बनता है। आलंबन दोनों हो सकते हैं। एक सिद्धांत भी आलंबन बन सकता है। एक प्रयोग भी आलंबन बन सकता है। दोनों प्रकार के आलंबन हमारे सामने उपयोगी बनते हैं।

धर्म है आलंबन

प्राचीन आचार्यों ने मुनि चर्या के प्रसंग में कुछ आलंबनों की सूचनाएं दी हैं। उन्होंने कहा—अमुक स्थिति आ जाए तो अमुक आलंबन का सहारा लो।

एक स्थिति आई। आहार नहीं मिल रहा है, उपयुक्त आहार नहीं मिल रहा है। भूख को कैसे सहा जाए। इसका आलंबन सूत्र है धम्मोत्ति किच्चा भूख को सहना मेरा धर्म है। सामने यह आलंबन रखे, 'यह मेरा धर्म है।' अभक्ष्य नहीं खाना मेरा धर्म है। अभक्ष्य मिले और उपयुक्त एषणीय आहार न मिले तो भूखे रहना मेरा धर्म है। इस धर्म के आलंबन के सहारे उस कठिनाई को पार किया जा सकता है। यह एक बहुत बड़ा आलंबन बनता है।

किसी ने कठोर बात कही, कड़वे शब्द कहे, रूखे कहे, गालियां दीं। स्वाभाविक है क्रोध आना, स्वाभाविक है उत्तेजना और आवेश में आ जाना, किंतु जब पुष्ट आलंबन होता है तो आदमी बच सकता है। एक बहुत महत्त्वपूर्ण आलंबन था कि कोई कुछ कहे, सीख दे, कड़ी बात कहे, कठोर वचन कहे, उस समय तत्त्व की गवेषणा करे, खोज करे

आक्रुष्टेन मतिमता, तत्त्वान्वेषणे मतिः कार्या।
यदि सत्यं कः कोपः यद्यसत्यं किन्नु कोपेन?॥

किसी के कुछ कहने पर व्यक्ति सोचे—सचमुच मैंने ऐसा किया है और यह जो कह रहा है क्या इसमें कोई सचाई है? यदि सचाई है तो फिर क्रोध क्यों करना चाहिए? यह सोचना चाहिए, यह सही कह रहा है। मैंने यह प्रमाद किया। मुझसे यह गलती हुई है, भूल हुई है, यह बेचारा बिल्कुल ठीक कह रहा है। मुझे सचाई को स्वीकार करना है, ऋजुभाव से स्वीकार करना है। उसे

कहना है कि तुम जो कह रहे हो, वह बिल्कुल ठीक है। मुझसे ऐसा हो गया। यदि वह बात सत्य नहीं है, केवल भ्रमवश, संदेहवश या कल्पनावश ऐसी बात कह रहा है तो फिर यह सोचो कि वह जो कह रहा है वह मुझ पर लागू ही नहीं होती तो फिर मैं क्यों क्रोध करूं। यह बात मुझ पर आ ही नहीं रही है, किसी पड़ोसी पर जाती है तो मैं लड़ाई को अपने सिर पर क्यों मोल लूं?' बहुत सारी बातें होती हैं, बहुत बकवास होती है, बहुत गालियां चलती हैं, एक यह भी है, हो रही है, मुझ पर कोई असर नहीं , मेरा इससे कोई संबंध नहीं है, फिर मुझे क्यों आवेश में आना चाहिए। यह बहुत पुष्ट आलंबन दिया है दोनों ओर से कि यदि सच है तो क्रोध करना व्यर्थ है, क्रोध मत करो। यदि झूठी बात है तो तुम पर लागू ही नहीं होती तो तुम सोचो मुझे कह ही नहीं रहा है, किसी पड़ोसी से कह रहा है। मेरे लिए कुछ है ही नहीं। मेरा इससे कोई संबंध है ही नहीं। तुम अपने आपको बचा लो। यह एक बहुत पुष्ट आलंबन है और इस आलंबन का प्रयोग किया जाए, अभ्यास किया जाए तो ऐसे प्रसंग में जो एक उत्तेजना का और आवेश का प्रसंग है, आदमी अपने आपको बहुत संतुलित रख सकता है। अपने संतुलन को खोने का उसके सामने कोई प्रसंग नहीं आता।

समता का आलंबन

दूसरा प्रसंग है कोई आदमी किसी की निंदा करता है तो यह स्वाभाविक है कि मन नाराज हो। प्रशंसा होती है तो मन राजी होता है, निंदा होती है तो मन नाराज होता है। यह एक प्रतिक्रिया है। राजी होना भी प्रतिक्रिया है और नाराज होना भी प्रतिक्रिया है और यह मनुष्य का स्वभाव जैसा बन गया है। ऐसा स्वभाव बन गया है कि कहीं भी प्रशंसा की बात आती है, मन उत्फुल्ल हो जाता है। थोड़ी-सी निंदा की बात आती है, मन बिल्कुल मुरझा जाता है। ऐसा मुरझाता है जैसे कभी यह फूल खिला ही न हो। यह तो स्वाभाविक बात हो गई। अब इस स्थिति से कैसे बचा जा सकता है? इस प्रतिक्रिया से बचने का एक सुंदर आलंबन है

नन्नस्स वयणा चोरो, नन्नस्स वयणा मुणी।
अप्पा अप्पं वियाणाति।

किसी के कहने पर कोई चोर नहीं बनता और किसी के कहने से कोई साधु नहीं बनता। आत्मा आपको जानती है कि मैं चोर हूं या साहूकार हूं। यह एक पुष्ट आलंबन है। यदि यह आलंबन हृदयंगम हो जाए कि दूसरे कहने से कोई चोर नहीं होता और दूसरे के कहने से कोई साहूकार नहीं होता, दूसरे के

कहने से कोई अच्छा नहीं होता और दूसरे के कहने से कोई बुरा नहीं होता, तो प्रतिक्रिया से मुक्त हुआ जा सकता है।

आत्मविश्वास है आलंबन

अपना आत्मविश्वास प्रबल हो, अपने प्रति अपना विश्वास, अपनी क्षमता के प्रति अपना विश्वास, अपने पुरुषार्थ और कर्तृत्व के प्रति अपना विश्वास हो तो दूसरे के कहने से कुछ भी नहीं होता। दूसरे लोग शायद नए आदमी को उठने देना ही नहीं चाहते होंगे। वर्तमान पीढ़ी हमेशा दूसरी पीढ़ी को आगे आने में बाधा डालती है, फिर चाहे वह पिता हो, चाहे माता। यह एक स्वभाव है। आज की पीढ़ी आने वाली पीढ़ी को कभी अच्छा स्वीकार नहीं करती। यही कहेंगे कि आज सब खराब है। यह आज की बात नहीं है, यह शाश्वत सत्य है, एक चिरंतन बात है। हमेशा पहली पीढ़ी ने अगली पीढ़ी को कमजोर बतलाया है।

पुरानी और नई पीढ़ी का संघर्ष बहुत पुराना है। पुराने व्यक्ति और पुरानी कृति को मान्यता प्राप्त होती है। नए व्यक्ति और नई कृति को मान्यता प्राप्त करनी होती है। मनुष्य स्वभाव से इतना उदार नहीं है कि वह सहज ही किसी को मान्यता दे दे। नई पीढ़ी में मान्यता प्राप्त करने की छटपटाहट होती है और पुरानी पीढ़ी को अपना अहं होता है, अपना मानदंड होता है, इसलिए वह नई पीढ़ी को नए मानदंडों के आधार पर मान्यता देने में सकुंचाती है। यह संघर्ष साहित्य, आयुर्वेद और धर्म सभी क्षेत्रों में रहा है। 'पुराना होने मात्र से सब कुछ अच्छा नहीं होता' महाकवि कालिदास का यह स्वर दो पीढ़ियों के संघर्ष से उत्पन्न स्वर है। उनके काव्य और नाटक के प्रति पुराने विद्वानों ने उपेक्षापूर्ण व्यवहार किया, तब उन्हें यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ा 'पुराना होने मात्र से कोई काव्य प्रकृष्ट नहीं होता और नया होने मात्र से कोई काव्य निकृष्ट नहीं होता। साधुचेता पुरुष परीक्षा के बाद ही किसी काव्य को प्रकृष्ट या निकृष्ट बतलाते हैं और जो मूढ़ होता है, वह बिना सोचे-समझे पुराणता का गीत गाता रहता है।'

आचार्य वाग्भट्ट ने अष्टांगहृदय का निर्माण किया। आयुर्वेद के धुरंधर आचार्यों ने उसे मान्य नहीं किया। वाग्भट्ट को भी पुरानी पीढ़ी के तिरस्कार का पात्र बनना पड़ा। उसी मनःस्थिति में उन्होंने यह लिखा 'वायु की शांति के लिए तेल, पित्त की शांति के लिए घी और श्लेष्म की शांति के लिए मधु पथ्य है। यह बात चाहे ब्रह्मा कहे या ब्रह्मा के पुत्र, इसमें वक्ता का क्या अंतर आयेगा? वक्ता के कारण द्रव्य की शक्ति में कोई अंतर नहीं आता, इसलिए आप मात्सर्य को छोड़कर मध्यस्थ दृष्टि का आलंबन लें।

प्राचीनता और नवीनता के प्रश्न पर महाकवि कालिदास और वाग्भट्ट का चिंतन बहुत महत्त्वपूर्ण है, किंतु इस विषय में आचार्य सिद्धसेन की लेखनी ने जो चमत्कार दिखाया है, वह प्राचीन भारतीय साहित्य में दुर्लभ है। उनका चिंतन है कि कोई व्यक्ति नया नहीं है और कोई पुराना नहीं हे। जिसे नया पुराना मानते हैं, एक दिन वह भी नया था और जिसे हम नया मानते हैं, वह भी एक दिन पुराना हो जाएगा।

आज जो जीवित है, वह मरने के बाद नई पीढ़ी के लिए पुरानों की सूची में आ जाता है। पुराणता अवस्थित नहीं है, इसलिए पुरातन व्यक्ति की कही हुई बात पर भी बिना परीक्षा किए कौन विश्वास करेगा?

प्रत्येक परंपरा में, चाहे वह आयुर्वेद की परंपरा हो, चाहे संस्कृत काव्य की, दर्शन की या धर्म की परंपरा हो, पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी को सदा कमजोर मानती रही है। यह हमारी मनोवृत्ति है। ऐसा होता है। उस स्थिति में, यदि दूसरों के मानने के आधार पर और दूसरों के कहने के आधार पर हम चलें, तो हमारे मन में या तो हीनता का विकास होगा, हीन भावना की ग्रंथि बनेगी या हमारी कर्तृत्व की शक्ति क्षीण हो जाएगी।

अतः यह निर्णय करना होगा **अप्पा अप्पं विजाणति** अपने आपका भरोसा करना। अपने आपका निर्णय करना कि मुझे क्या करना है और मेरा क्या कर्त्तव्य है। इस निर्णय के आधार पर यह सारी स्थिति बन सकती है। यह एक पुष्ट आलंबन है, किसी के कहने पर मत चलो। कोई बहुत अच्छा कह दे तो अपने आपको बड़ा मत मानो। कोई निंदा करे, उससे अपने आपको हीन मत मानो। बड़ा धोखा होता है, बड़ी विडंबना होती है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं जो छोटे से आदमी की इतनी प्रशंसा कर देते हैं कि उस प्रशंसा के आधार पर चले तो वह ऐसा लड़खड़ाएगा कि गड्ढे में गिरेगा और कभी उठ ही नहीं सकेगा। कुछ था तो नहीं, प्रशंसा बहुत कर दी। ऐसे ललचाने वाले, प्रलोभन देने वाले बहुत लोग होते हैं, बहुत झूठी बात कह देते हैं। उसमें प्रशंसा करने योग्य अपना कुछ है नहीं, पर प्रशंसा के सहारे फूल गया। कोई बड़ा काम करने चला जाए तो धोखा खाकर ही आना पड़ता है कभी-कभी ऐसा भी होता है कि बहुत शक्तिशाली आदमी होता है, किंतु हीनता की बात बार-बार सामने आती है फलतः उसकी शक्ति क्षीण होने लग जाती है। इसका कारण है कि वह उस बात के आधार पर अपना मूल्यांकन करने लग जाता है। अपनी शक्ति का परीक्षण तो स्वयं को होना चाहिए कि मैं यह काम

कर सकता हूं या नहीं। अपनी शक्ति और अपने पुरुषार्थ पर स्वयं को विश्वास होना चाहिए।

प्रज्ञा का आलंबन

परिस्थिति और प्रसंग ऐसा होता है कि उत्तेजना आ जाती है। एक व्यक्ति क्रोध कर रहा है, आवेश में आ रहा है, उस समय उत्तेजना आना स्वाभाविक है। एक आलंबन दिया गया कि उस समय व्यक्ति यह सोचे—यह अज्ञानी है। अज्ञान के कारण क्रोध कर रहा है। जो बात शांति के साथ सुलझाई जा सकता है, जिस समस्या का समाधान शांत भाव से उपलब्ध किया जा सकता है, उस स्थिति के लिए यह क्रोध कर रहा है। यह अज्ञानी है तो क्या मुझे भी अज्ञानी बनना चाहिए? मैं भी अज्ञानी बनूं? अगर यह क्रोध कर रहा है तो क्या मैं भी क्रोध के प्रति क्रोध करूंगा? यह बचकानापन कर रहा है तो मैं भी बचकानापन करूंगा? मैं यह बचकानापन न करूं, बाल न बनूं, अज्ञानी न बनूं—यह पुष्ट आलंबन है।

यह बहुत बड़ा आलंबन है, जो विवेक को स्फुरणा देता है। वह यह विवेक देता है कि समस्या को उत्तेजना से नहीं सुलझाया जा सकता, समस्या का समाधान संतुलित भाव से उपलब्ध किया जा सकता है। यह हमारी प्रज्ञा का आलंबन है। यह बात बुद्धि की बात नहीं है। मैंने जितनी अभी चर्चा की है, वह सारी चर्चा बुद्धि की चर्चा नहीं है। यानी आप बुद्धि के आधार पर चलेंगे तो स्वाभाविक होगा क्रोध के प्रति क्रोध, गाली के प्रति गाली, निंदा के प्रति निंदा। बुद्धि की भाषा में कहा जा सकता है कि ऐसा करना चाहिए। बुद्धि की भाषा में वह बुद्धिमान आदमी नहीं होगा जो ठग के साथ ठगाई नहीं करता, वह मूर्ख होगा। एक व्यक्ति तो ठग रहा है, दूसरा नहीं ठग रहा है, एक तो गाली दे रहा है, दूसरा शांत बैठा है, एक तो क्रोध में आकर ऊपर हावी हो रहा है और दूसरा पीछे खिसक रहा है, यह बुद्धिमानी की बात नहीं है। बुद्धिमान आदमी वही होगा कि जो ईंट का जवाब पत्थर से दे, किंतु मैं जो आपसे कह रहा हूं उसकी यदि बुद्धि के स्तर पर समीक्षा करेंगे तो आपको ऐसा लगेगा कि हमें कोई गलत बात बताई जा रही है, कमजोर बनाया जा रहा है और सामाजिक स्तर पर जीने की कठिनाई पैदा की जा रही है। मैं जो बात कह रहा हूं वह है प्रज्ञा की बात। प्रज्ञा और बुद्धि का स्तर एक नहीं होता। प्रज्ञा अंतर्दृष्टि है। उसका मानदंड भी भिन्न होता है। कसौटियां भी भिन्न होती हैं। उसे बौद्धिक मानदंडों से कसा नहीं जा सकता, परखा नहीं जा सकता। उसकी तुला भी अलग होती है। उसे बुद्धि की तुला के पलड़े में नहीं रखा जा सकता।

प्रज्ञा हमारा अंतर्दर्शन है। वह भीतर की ओर झांकता है, बाहर की ओर नहीं देखता। प्रज्ञा दर्शन-केन्द्र की साधना है। जैसे-जैसे दर्शन-केन्द्र जागता है, सक्रिय होता है, प्रज्ञा जागती है, अंतर्दृष्टि जागती है, चिंतन, निर्णय, निष्कर्ष और धारणाएं बदलती हैं, सारी दुनिया बदल जाती है।

मूल्यवान है मनोबल

दो सगे भाई थे साथ-साथ रहते थे। अलग होने की नौबत आ गई। बंटवारा किया। सभी चीजें बराबर-बराबर बांट दी गईं। दो अंगूठियां बच गईं। एक थी हीरे की अंगूठी और दूसरी थी चांदी की अंगूठी। बड़ा भेद था दोनों में। कहां हीरे की अंगूठी और कहां चांदी की अंगूठी। बड़ा अंतर था। बंटवारा कैसे किया जाए? अंगुठियों को तोड़ा तो नहीं जा सकता। छोटे भाई ने कहा–यह हीरे की अंगूठी मैं रखूंगा। बड़े भाई ने कहा–मैं रखूंगा। काफी विवाद चला। आखिर बड़े भाई ने सोचा–यह अंगूठी चांदी की तो है, पर है महत्त्वपूर्ण। छोटा भाई हठ कर रहा है हीरे की अंगूठी के लिए तो उसे वह दे देनी चाहिए। बड़ा भाई बोला–लो, इसे तुम ले लो। यह चांदी की मेरे पास रहने दो। हीरे की अंगूठी कीमती थी, पर चांदी की उससे भी कीमती थी। वह प्रज्ञा की अंगूठी थी। उसमें लिखा हुआ था 'ये भी बीत जाएंगे।' अंगूठी ले ली। पांती हो गई। छोटा भाई प्रमाद में फंस गया। वह धन का पूरा उपभोग करने लगा। पूरा वैभव का प्रदर्शन करने लगा। वैभव हो और प्रदर्शन न हो–यह तो असंभव होता है। ऐसा भद्दा प्रदर्शन भी कभी-कभी होता है कि दूसरे में प्रतिक्रिया जगा देता है, हिंसा उभार देता है, पर प्रदर्शन किए बिना रहा नहीं जाता। दिखाना ही पड़ता है। इतना हो गया चाहे मकान बनाकर दिखाए, चाहे आभूषण पहन कर दिखाए, चाहे दहेज देकर दिखाए, पर प्रदर्शन तो करना ही पड़ेगा, जिससे दूसरे को भान हो सके कि इसके पास इतना वैभव है। यह वैभव की प्रकृति है। वह छोटा भाई वैभव का प्रदर्शन करने लगा।

बड़े भाई में स्थिति आई, धन सारा चला गया। अंगूठी अंगुली में पहनी हुई थी। बड़ी समस्या आ गई, कष्ट का समय आ गया पर रोज वह अपनी अंगूठी का प्रयोग कर लेता। सुबह ही उस पर लिखा हुआ पढ़ लेता कि 'ये भी बीत जाएंगे' ये दिन शाश्वत नहीं हैं, बदलने वाले हैं। आज जो समस्या है यह भी सदा रहने वाली नहीं है, यह भी चली जाएगी। एक आलंबन था प्रज्ञा का, एक सहारा था। उस आलंबन से उसने कठिनाई के दिन बिता दिए। उसका मनोबल डिगा नहीं, आत्म-विश्वास बना रहा। कष्ट के दिन बीत गए, स्थिति आई, फिर से वह शक्तिशाली बन गया। संपन्न बन गया, सारी समस्याएं सुलझ गईं।

छोटा भाई प्रदर्शन करता चला, करता चला, आखिर धन का कोई स्रोत तो था नहीं, समाप्त हो गया। वह गरीब हो गया। बड़ी समस्या पैदा हो गई। आलंबन कोई था नहीं। वह गरीबी में इतना उलझा कि फिर कभी उठ ही नहीं पाया। कभी नहीं उठ पाया।

गरीबी दोनों में आई, एक गरीबी से उठ गया, इसलिए उठा कि उसका मनोबल क्षीण नहीं हुआ। दूसरा गरीबी में उलझ गया, इसलिए उलझ गया कि उसके पास मनोबल को बनाए रखने का कोई साधन नहीं था।

आदमी उठता है, गिरता है, गिरता है और उठता है। उठने, गिरने में कोई बड़ी बात नहीं है। यह तो एक स्वाभाविक प्रक्रिया है। उदय होना और अस्त होना, कोई बड़ी बात नहीं है, किंतु उठने और गिरने में बड़ी बात है मनोबल। जिसका मनोबल टूट जाता है, वह गिर कर उठ नहीं पाता और उठता है तो फिर गिर जाता है। जिसका मनोबल बराबर बना रहता है, वह गिर जाए तो भी कोई बात नहीं और उठा हुआ होता है तो भी कोई समस्या की बात नहीं। मूल बात है मनोबल की सुरक्षा। यह मनोबल रह सकता है प्रज्ञा के पुष्ट आलंबन के द्वारा। प्रज्ञा का आलंबन पुष्ट होता है तो मनोबल कभी क्षीण नहीं होता, साहस कभी क्षीण नहीं होता। जिसके साथ प्रज्ञा की अंगूठी थी, वह समस्या से उबर गया और जिसके पास हीरे की थी वह समस्या में उलझ गया। हमारे लिए हीरा बहुत कीमती नहीं होता। मनोबल हीरे से भी ज्यादा कीमती होता है। मनोबल के सहारे असंख्य हीरे उपलब्ध हो सकते हैं, किन्तु हीरे के सहारे कभी मनोबल उपलब्ध नहीं हो सकता। कभी धन के आधार पर किसी ने मनोबल पाया हो, ऐसा प्रतीत नहीं।

एक कहानी बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक सेनापति बड़ा उदास बैठा था। बहुत उदास, चिंतातुर। पत्नी आई, पूछा—आज आप इतने उदास क्यों हैं? यह स्थिति क्यों? वह बोला 'क्या करूं। बहुत बुरा समाचार है। मेरी सेना हारती जा रही है।' उसने कहा, मुझे भी एक बुरा समाचार मिला है, इससे भी ज्यादा बुरा। वह देखता रह गया। ऐसा क्या बुरा समाचार मिला है? बड़ी जिज्ञासा के साथ पूछा कि तुम्हें क्या बुरा समाचार मिला है? उसने कहा—क्या बताऊं, आपके समाचार से भी हजार गुना बुरा समाचार है कि मेरे पति का साहस टूट गया। यह उससे भी बुरा समाचार है।

तत्काल वह खड़ा हो गया। एक शब्द ने करारी चोट की। निराश बैठा था, उदास बैठा था, खड़ा हुआ, युद्ध में गया और इतनी वीरता के साथ लड़ा कि हारती-हारती सेना फिर जीतने लगी।

सबसे बुरी बात होती है मनोबल का टूट जाना, मनोबल का क्षीण हो जाना, इसके क्षीण होने पर सारी बुराइयां आ जाती हैं। और यदि मनोबल होता है तो बुरे दिन भी अच्छे दिन की भांति बीत जाते हैं।

ध्यान से मनोबल का विकास

प्रज्ञा का सबसे बड़ा काम है मनोबल का विकास करना। यह ध्यान की प्रक्रिया केवल आंख मूंदकर बैठने की प्रक्रिया नहीं है। यह आराम करने की प्रक्रिया नहीं है। यह शक्ति के विकास की प्रक्रिया है। बल के संवर्धन की प्रक्रिया है। जिस ध्यान के प्रयोग से मनोबल नहीं बढ़ता, शरीर का बल नहीं बढ़ता तो समझ लेना चाहिए, ध्यान के नाम पर कुछ और ही किया जा रहा है। जिस भोजन से शक्ति नहीं बढ़ी तो समझना चाहिए कि भोजन नहीं कुछ और ही खाया जा रहा है। टोनिक का सेवन करते हैं, शक्तिशाली दवा का प्रयोग करते हैं, पर शक्ति नहीं बढ़ रही है तो समझ लेना चाहिए कि टोनिक के नाम पर कुछ और ही लिया जा रहा है।

ध्यान का सबसे बड़ा उपयोग होता है शक्ति का संवर्धन। तीन बातें होनी चाहिए–चेतना का विकास, आनंद का विकास और शक्ति का विकास। ये तीन विकास हो रहे हैं तो समझना चाहिए कि ध्यान चल रहा है और ये तीनों बातें नहीं हो रही हैं तो समझना चाहिए, ध्यान के नाम पर नींद का प्रयोग चल रहा है। कुछ और ही चल रहा है।

साधना प्रतिक्रिया विरति की

अहिंसा की चर्चा हो रही है, प्रतिक्रिया-विरति की चर्चा हो रही है। क्या कमजोर आदमी प्रतिक्रिया-विरति का पाठ पढ़ सकेगा? क्या कमजोर आदमी प्रतिक्रिया से बच सकेगा? जो जितना कमजोर होता है, उतना ही जल्दी प्रतिक्रिया दिखला देता है। कमजोर आदमी प्रतिक्रिया-विरति का अभ्यास नहीं कर सकता। प्रतिक्रिया से मुक्त होना बहुत बड़ी साधना है।

प्रतिक्रिया के संस्कार पीढ़ियों से चले आ रहे हैं। वे रक्तगत हो गए हैं। उस रक्त-परंपरा को बदल देना कोई छोटी बात नहीं, बहुत बड़ी बात है। आप जो प्रतिक्रिया कर रहे हैं, उसमें आपका ही दोष नहीं है, वह तो रक्तगत दोष है जो आपको मिला है, अपने पिता से, अपनी माता से। वह वंशगत संस्कार है।

एक बहुत तेज तर्रार बच्चा था। उसकी मां ने मुझे कहा–बच्चा बड़ा शैतान है, गुस्सैल है। मैंने पूछ लिया, गुस्सा तो तुम्हें भी आता होगा? वह बोली–हां,

मुझे भी आता है। मैंने कहा–तुझे आता है तो तेरे बच्चे को क्यों नहीं आएगा? तूने सिखाया है। सिखाया ही नहीं, तूने रक्त दिया है। यह तो रक्तगत संस्कार है। या तो मां की खराबी है या पिता की खराबी है, जिन्होंने अपने संस्कार दिए हैं। संस्कार ही नहीं, अपने अवयव दिए हैं। डॉक्टर भी पूछता है, क्या यह बीमारी आपके परिवार में किसी को है? यह वंशानुक्रम की बात हर क्षेत्र में पूछी जाती है।

हम लोग भी किसी को दीक्षित करते हैं तो यह देखते हैं कि इसके पीछे वंश-परंपरा कैसी है। अपने वंश से क्या-क्या विशेषताएं या खामियां लाये हैं। विवाह करने वाला भी वंशानुक्रम को देखता है। प्रतिक्रिया करना केवल आपका ही दोष नहीं है, यह अनुदान है माता-पिता का। इस बात को बदल देना, रक्तगत संस्कार को बदल देना, इतनी जटिल आदत को बदल देना, सरल बात नहीं है। यह तभी बदला जा सकता है, जब कोई सामने पुष्ट आलंबन हो। ऐसा मजबूत सहारा मिल जाए तो आदमी बदल सकता है। यदि सहारा न मिले तो उसके बिना कभी बहुत बड़े भवन को खड़ा नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार प्रतिक्रिया से बचने के लिए बड़े आलंबनों की जरूरत है। मैंने कुछ आलंबनों की चर्चा की है। सैद्धांतिक आलंबनों की चर्चा की है, शाब्दिक आलंबनों की चर्चा की है, प्रायोगिक आलंबनों की चर्चा करने की आवश्यकता नहीं लगती। आप स्वयं कर रहे हैं। सामने क्रोध का प्रसंग आया, दीर्घश्वास का प्रयोग शुरू कर दिया। आपको ज्यादा दिमाग पर तनाव देने की आवश्यकता नहीं होती। आप अपना श्वास देखना शुरू कर दीजिए, अपने आप स्थिति टल जाएगी। वह तो क्रोध कर रहा है, आपने अपने नथुनों के भीतर चित्त केन्द्रित किया, आते-जाते श्वास को देखना शुरू किया-श्वास भीतर आ रहा है, जा रहा है तो उसका क्रोध निकम्मा-बेकार ही चला गया। क्रोध सार्थक तब होता, जब आप में क्रोध जाग जाता। एक आदमी क्रोध करे और दूसरे को क्रोध न जागे तो उसे विफलता का इतना अहसास होता है और सोचता है कि मेरा तो सारा प्रयत्न फालतू चला गया। बहुत सारे लोग दूसरे आदमी को उत्तेजना में लाना चाहते हैं और सामने वाला उत्तेजना में नहीं आता है तो मन में इतनी खीज आती है, सोचते हैं, क्या आदमी है, कोरा मिट्टी का लोंदा है। दीर्घश्वास का प्रयोग, चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा का प्रयोग-एक पुष्ट आलंबन है। सामने क्रोध का प्रसंग आया, दर्शनकेन्द्र पर ध्यान किया या विशुद्धिकेन्द्र पर ध्यान केन्द्रित कर दिया तो क्रोध करना चाहेंगे तो भी नहीं कर पाएंगे। क्रोध का प्रसंग आया, श्वास का संयम कर लिया। एक मिनट के लिए, आधा मिनट के लिए श्वास को बंद कर लिया तो क्रोध क्या होता है, आपको पता

ही नहीं चलेगा। ये सारे प्रयोग के आलंबन हैं हमारे सामने। हम सैद्धांतिक और प्रायोगिक–दोनों आलंबनों के सहारे इन प्रतिक्रियाओं से बच सकते हैं और अपने संतुलन को कायम रख सकते हैं।

कैसे सोचें, चिंतन कैसे करें, इस विषय पर अहिंसात्मक दृष्टि से चर्चा की। यह मानसिक अहिंसा का विश्लेषण हमारे जीवन के लिए बहुत उपयोगी है। हमने हिंसा और अहिंसा को इतना सीमित दायरा दे दिया कि जीव को मारना हिंसा और न मारना अहिंसा। बस, हिंसा भी समाप्त। इतनी छोटी धारणा बन गई, इतनी संकुचित सीमा बन गई कि विकास के लिए कोई अवकाश ही नहीं रहा।

सामाजिक जीवन में, सामुदायिक जीवन में जितना अहिंसा का विकास होता है, समाज उतना ही उन्नत और विकासशील होता है और आज तक समाज ने जितनी प्रगति की है, इसी के आधार पर की है।

यदि एक-एक पहलू पर विचार करना शुरू करें तो पता चलेगा कि आज अहिंसा का विकास नहीं होता तो दो आदमियों का साथ रहना कभी नहीं हो सकता। एक आदमी दूसरे आदमी को खाने दौड़ता तो न समाज बनता, न परिवार बनता। अहिंसा ने इतना विश्वास दिलाया कि कोई किसी को नहीं खाएगा, सब साथ में रह सकेंगे। समाज के निर्माण से लेकर आज की प्रगति तक हिंसा कम रही है और अहिंसा ज्यादा रही है। इसलिए अहिंसा इतनी विकसित हुई है। यह सारी बात मानसिक अहिंसा के स्तर पर ही समझी जा सकती है। ध्यान करने वाले व्यक्ति को इस सारी चर्चा में जाना बहुत आवश्यक है। इस चर्चा में गए बिना वह ध्यान का मूल्यांकन ही नहीं कर पाएगा। ध्यान के द्वारा हमारी मैत्री की भावना विकसित होती है, ध्यान के द्वारा हमारी प्रतिक्रिया-विरति की भावना विकसित होती है।

प्रेक्षा-ध्यान की उपसंपदा के पांच सूत्र हैं–भावक्रिया, प्रतिक्रिया-विरति, मैत्री मिताहार, मौन या मिती भाषण करेंगे। ये पांचों प्रयोग अहिंसा के प्रयोग हैं। अहिंसा के प्रयोग किए बिना कोई मितभाषी, मिताहार या संयम करने वाला नहीं हो सकता। जिसके जीवन में अहिंसा का प्रयोग नहीं होता, वह मैत्री का प्रयोग नहीं कर सकता। अहिंसा का विकास हुए बिना प्रतिक्रिया से विरति नहीं हो सकती और जिसके जीवन में अहिंसा का विकास नहीं है वह वर्तमान में नहीं रह सकता। वह प्रिय और अप्रिय संवेदन से मुक्त क्षण में नहीं जी सकता। यह ध्यान की सारी की सारी साधना अहिंसा की साधना है। इसलिए ध्यान के संदर्भ में अपने आचार और व्यवहार की समीक्षा करना और अपना आत्मालोचन करना, बहुत महत्त्वपूर्ण बात है।

हृदय परिवर्तन :
प्रक्रिया और आधार

10. परिस्थितिवाद और हृदय-परिवर्तन

हम ज्ञात और अज्ञात इन दोनों के मध्य में जीते हैं। एक है ज्ञात मन और दूसरा है अज्ञात मन। हम कुछ जानते हैं और बहुत नहीं जानते।

एक राजा था। बीमार हो गया। वैद्य बुलाए, चिकित्सा कराई। ठीक नहीं हुआ। एक वैद्य आया। उसने निदान किया। निदान सही हुआ। दवा दी। राजा स्वस्थ हो गया। एक पथ्य था–आम नहीं खाना है। वैद्य ने कहा–'राजन्! वर्तमान में ही नहीं, भविष्य में भी कभी आपको आम नहीं खाना है। जिस दिन आम खा लिया बीमारी फिर प्रकट हो जायेगी। यदि स्वस्थ रहना है, बीमारी से बचना है तो आम से भी बचना होगा।' निर्देश देकर वैद्य चला गया। राजा बहुत स्वस्थ था। एक दिन अपने मंत्रियों, सहयोगियों और कर्मचारियों के साथ राजा उद्यान-यात्रा के लिए निकला। उद्यान में गया। आम का मौसम था। सारे वृक्ष आम से लदे हुए थे। वे पके हुए आम। अच्छा रंग और बहुत मीठी-मीठी सुगंध। राजा का मन ललचाया। एक मन बोला–आमों के नीचे जाऊं। दूसरा मन बोला–नहीं, नहीं जाना चाहिए। एक ओर से आकर्षण आ रहा है तो दूसरी ओर से कुछ निरोध आ रहा है। राजा हट कर चला। थोड़ी देर में फिर मन ललचाया, सोचा कि आमों के नीचे जाऊं, आम की छाया में जाकर बैठूं। दूसरा मन बोला–नहीं जाना चाहिए।

केवल राजा का मन ही ऐसा नहीं हुआ, हर आदमी का मन ऐसा होता है। कौन व्यक्ति है जिसके मन में ये दो प्रकार की धाराएं न आती हों? एक मन कहता है खाऊं। दूसरा मन कहता है 'नहीं खाऊं।' खाना है, नहीं खाना है। एक मन कहता है 'मुझे बहुत अच्छा रहना है, किसी से लड़ाई झगड़ा नहीं करना है। शांति का जीवन बिताना है।' दूसरा मन कहता है 'सामने वाला लड़ता है तो मुझे क्यों नहीं लड़ना चाहिए? सामने वाला गाली देता है तो मुझे गाली क्यों नहीं देनी चाहिए? यह कहां का तर्क और न्याय कि सामने वाला व्यक्ति तो जो चाहे करता

चला जाये और मैं मौन रहूं? क्या मैं मोम का बना हुआ हूं? क्या मैं मिट्टी का बना हुआ हूं? मिट्टी का तो नहीं हूं, मोम का तो नहीं हूं। सामने वाला मेरे साथ छेड़छाड़ न करे तो मैं भी कुछ नहीं करूंगा और वह करता है तो मैं क्यों नहीं करूं?'

कितने मन हैं व्यक्ति के

इस प्रकार के विरोधी विचार आदमी के मन में पैदा होते रहते हैं। एक मन कहता है कि यह काम करूं और दूसरा मन कहता कि वह काम करूं। एक मन कहता है यह करूं, तो दूसरा मन कहता है यह न करूं। कितने मन हैं? शायद हर आदमी के मन में ऐसा प्रश्न उठता होगा और हर व्यक्ति यह सोचता होगा कि कितने मन हैं, पता नहीं लगता। अनेक मन हैं आदमी के। अहिंसा के मार्ग में चलने वाले व्यक्ति के मन में कभी-कभी विचार आ जाता है सामान्यतः हिंसा का जीवन जीने वाले के मन में भी कई बार विचार आ जाता है। हिंसा करने का और हिंसा न करने का। ब्रह्मचर्य के मार्ग पर चलने वाला अब्रह्मचर्य की बात सोच लेता है और अब्रह्मचर्य की दिशा में चलने वाला ब्रह्मचर्य की बात सोच लेता है। कितने विरोधी भाव हमारे मन में पैदा होते रहते हैं? सहज ही प्रश्न होता है, आदमी के मन कितने हैं?

भगवान महावीर ने कहा–**अणेगचित्ते खलु अयं पुरिसे–**यह पुरुष अनेक चित्तों वाला है। मन तो एक ही है। मन बेचारा क्या अनेक होगा? वह तो हमारा वाहन है, यंत्र है, काम करने का एक साधन है। वह अनेक कैसे होगा? हमारे चित्त अनेक होते हैं। हमारे चित्त के वृत्तियां अनेक होती हैं। चित्त में नाना प्रकार की वृत्तियां जागती हैं, नाना प्रकार की चित्त जागते हैं और मन अनेक बन जाते हैं। मन अपने आप में एक होता है। चित्त की वृत्तियों के कारण और चित्तों के कारण मन भी अनेक जैसा प्रतिभासित होने लग जाता है। अनेक हैं हमारे चित्त। फ्रायड ने ठीक कहा था कि मनुष्य का मन एक हिमखंड जैसा होता है। हिमखंड का बहुत सारा भाग समुद्र में छिपा होता है। केवल थोड़ा-सा ऊपर का सिरा दिखाई देता है। जितना दिखाई देता है हिमखंड, उतना ही नहीं है। बहुत बड़ा है। दिखने वाला छोटा और न दिखने वाला बहुत बड़ा। ज्ञात छोटा और अज्ञात बड़ा।

मन है महासागर

जुंग ने मन की तुलना एक महासागर से की है। मन एक महासागर है। उसमें ज्ञात मन केवल एक द्वीप जैसा है। अज्ञात मन महासागर जैसा और ज्ञात

मन महासागर में होने वाले द्वीप जैसा, एक छोटे टापू जैसा है। हम लोग अपने सारे व्यवहारों की, आचरणों की व्याख्या ज्ञात मन के माध्यम से करना चाहते हैं। यह कभी संभव नहीं होगा। केवल ज्ञात मन के द्वारा जो व्याख्या की जाएगी, वह अधूरी होगी, मिथ्या होगी। जब ज्ञात और अज्ञात–दोनों मनों की समष्टि करेंगे तो संपूर्ण व्याख्या होगी। अज्ञात मन के लिए फ्रायड ने डेफ्थ साइकोलोजी की व्याख्या की। डेफ्थ साइकोलोजी में केवल ज्ञात मन की व्याख्या नहीं होती, अज्ञात मन की भी व्याख्या होती है। प्रत्येक व्यवहार के लिए अज्ञात मन की व्याख्या होती है कि मनुष्य का व्यवहार अज्ञात मन से संचालित हो रहा है, ज्ञात मन के द्वारा यह ऐसा व्यवहार नहीं हो रहा है। आज के मनोविज्ञान ने जो अवचेतन मन की व्याख्या की, वह व्याख्या भारतीय दर्शनों के कर्मवाद के आधार पर की, सूक्ष्म चेतना और चित्त के आधार पर की। मनोविज्ञान में मन और चित्त दोनों में भेद नहीं किया गया, किंतु जैन दर्शन में बहुत स्पष्ट भेद किया गया है कि मन भिन्न है और चित्त भिन्न है। मन अचेतन है और चित्त चेतन है। मन ऊपर का हिस्सा है, जो चित्त का स्पर्श पाकर चेतना जैसा प्रतीत होता है। चित्त हमारी भीतर की सारी चेतना का प्रतिनिधित्व करता है। अज्ञात मन, अवचेतन मन को चित्त कहा जा सकता है और ज्ञात मन को मन कहा जा सकता है।

राजा के मन में यह विरोध चल रहा था। एक मन कहता था कि आम की ओर जाऊं, दूसरा मन कहता था कि न जाऊं। यह एक बड़ा जटिल व्यवहार होता है, जहां दो विचारधाराएं व्यक्ति के मन में पैदा होती हैं। ये बहुत सताती हैं। एक मन एक बात कहता है, दूसरा मन दूसरी बात कहता है और तीसरा मन तीसरी बात कहता है। इस व्यवहार की व्याख्या केवल ज्ञात मन के आधार पर नहीं की जा सकती। राजा के अन्तःकरण में अविरति थी, आकांक्षा थी। आकांक्षा की प्रेरणा हो रही थी कि अच्छा देखूं, अच्छा सूंघूं और अच्छा खाऊं। यह प्रेरणा बहुत गहरे से आ रही थी। जो ज्ञात मन था वह निर्णय दे रहा था कि वैद्य ने मना किया है, आम नहीं खाना है तो फिर मुझे क्यों आम के पास जाना चाहिए। देर तक संघर्ष चला, आखिर अज्ञात मन विजयी हुआ।

राजा के पैर आम के पेड़ों की ओर बढ़ चले। मंत्री ने कहा–महाराज! आप कहां जा रहे हैं? आपको वहां नहीं जाना है। अच्छा नहीं है, वहां जाना। जिस गांव न जाना हो, उस गांव का रास्ता नहीं पूछना चाहिए, उस दिशा में हमारे कदम नहीं बढ़ने चाहिए। इधर चलें। बहुत सुंदर वृक्ष हैं, इनकी ठंडी छाया में बैठेंगे।'

राजा बोला–'मंत्री! तुम भी अतिवाद कर रहे हो। बहुत लोग अतिवादी प्रवृत्ति में चले जाते हैं। यह अतिवाद नहीं होना चाहिए। मैं कहां जा रहा हूं? क्या वैद्य ने यह भी मना किया है कि आम के पेड़ के नीचे भी नहीं जाना? यह तो मनाही नहीं, फिर मुझे क्यों रोक रहे हो? मेरे कदम आगे बढ़ रहे हैं, तुम मुझे पीछे क्यों बुला रहे हो?'

मंत्री का काम तो परामर्श देना था। राजा नहीं माना। आखिर स्वामी तो राजा था। मंत्री बेचारा क्या कर सकता था? राजा गया और सघन आम्रवृक्ष के नीचे बैठ कर बोला–मंत्रीवर! कैसा अच्छा लगता है? तुम तो मुझे मना कर रहे थे। देखो, कितनी गहरी छाया है। दूसरे पेड़ों की इतनी गहरी छाया नहीं होती। आम बड़ा गहरा होता है। पत्ते बड़े होते हैं। क्या ये छोटे-छोटे नीम के पत्ते बेचारे इतनी गहरी छाया कर पाएंगे? देखो, कितनी गहरी छाया है। बड़ा अच्छा लगा। बड़ी प्रशंसा की। फिर बोला–मंत्री! देखो, फल कितने अच्छे लग रहे हैं। कितने पके हुए हैं? कैसा रंग है? आंखों को तृप्त करने वाला है यह।

मंत्री बोला–'महाराज! क्यों व्याख्या करते हैं? आपको मतलब ही नहीं है इससे। क्यों ध्यान देते हैं? यह ध्यान जाना अच्छा नहीं है।'

राजा फिर बोला–'तुम तो बहुत अतिवादी हो गए। जो ज्यादा सयाने लोग होते हैं, बड़े खतरनाक होते हैं। बांध देते हैं, जकड़ देते हैं। कहीं भी स्वतंत्रता के लिए अवकाश नहीं रहने देते। आम मुझे नहीं खाना है। क्या मुझे इतनी स्वतंत्रता भी नहीं है कि आम की व्याख्या करूं? अच्छे को अच्छा बताऊं? क्या इतना परतंत्र हो गया मैं?'

राजा के भीतर में तरंग उठ रही है कि देखो, क्या हो गया? आज जी भर कर आम खा लेता है, पर ये सारे के सारे मनाही कर रहे हैं। पता नहीं, क्या हो गया है इन्हें। मेरे भीतर से भी एक आवाज आ रही है कि आम नहीं खाना है। यह और संकट पैदा हो गया। बहुत सारे लोग कहते हैं, अंतर की आवाज है, भीतर की आवाज है, आत्मा की आवाज है। कहां आत्मा की आवाज है। यह हमारे भीतर में डाली हुई आवाज है, जो बाहर फूट पड़ती है। राजा बड़े द्वंद्व का अनुभव कर रहा है। योग ऐसा बना। राजा बैठा है पालथी मारे। एक आम टूटा और सीधा राजा की गोद में आकर पड़ा। राजा ने उठाया, उठा कर देखने लगा। मंत्री ने हाथ पकड़ा–'महाराज! आप क्या कर रहे हैं?'

राजा बोला–'अरे, खा थोड़े ही रहा हूं? मैंने तो इसे बुलाया नहीं था।

अकस्मात् यह डाल से टूटा और मेरी गोद में आ गिरा। मैंने इसे नहीं तोड़ा है। मैंने कुछ भी नहीं किया। तुम साक्षी हो। मैं उठा नहीं। मैंने आम तुड़वाया नहीं, पर अपने आप टूट कर मेरी गोद में पड़ा है। तुम्हारी गोद में तो नहीं गिरा। तुम्हारी गोद में गिर जाना चाहिए था इसे। तुम्हारे मन में आम की भावना है, तुम्हारी गोद में नहीं गिरा। मुझे नहीं खाना है, मेरी गोद में गिरा। तुम इस नियम को नहीं जानते–जो आदमी चाहता है उससे हर वस्तु दूर भागती है, जो नहीं चाहता उसके पास वह स्वयं आ जाती है। यह तो दुनिया का नियम है। मैंने तो इस सार्वभौम नियम का पालन किया है। मैंने चाहा नहीं, पर यह आम अपने-आप टूटकर मेरी गोद में आ गिरा। नहीं खाऊं, पर इसे देख भी नहीं सकता? सूंघ भी नहीं सकता? कितना मोहक! कितना आकर्षक! इसे देखूं भी नहीं? इतनी भीनी-भीनी गंध आ रही है, क्या इसे सूंघू भी नहीं? यह कैसे हो सकता है?' राजा सूंघ रहा है। इधर-उधर कर रहा है और भीतर में तो एक आग उठ रही है। लपटें उठ रही हैं। पता नहीं, कैसे रोक रहा है? अगर मंत्री का नियंत्रण सामने नहीं होता, अगर दूसरे लोगों का नियंत्रण नहीं होता तो वह आम कभी का उदरस्थ हो जाता, कभी का पेट में चला जाता, पर अब तक थोड़ा बहुत नियंत्रण काम कर रहा है।

नियंत्रण की उपयोगिता

नियंत्रण भी बहुत काम करता है। बाहरी नियंत्रण भी बिल्कुल बेकार नहीं होता। बाहर का अनुशासन भी बिल्कुल व्यर्थ नहीं होता। काम करता है। आदमी संकोच के कारण बुराई से बच जाता है।

जब भीतर की आग बहुत प्रबल होती है, तब बाहर का नियंत्रण भी बेकार होने लग जाता है। कितनी देर तक तो राजा ऐसे, वैसे उलटता-पलटता रहा, फिर मुंह के पास ले जाने लगा। मंत्री ने हाथ पकड़ा–'महाराज! क्या कर रहे हैं? अनर्थ कर रहे हैं। वैद्य की मनाही है। इस बार यदि आपने आम खा लिया तो फिर कोई उपचार नहीं है, फिर मृत्यु के सिवाय कोई रास्ता नहीं है। आप क्या कर रहे हैं? मौत की ओर जा रहे हैं?' एक ओर राजा मौत की ओर प्रस्थान कर रहा है, दूसरी ओर मंत्री निषेध कर रहा है, तीसरी ओर भीतर से वर्जना आ रही है कि मुझे यह काम नहीं करना चाहिए। इन विभिन्न प्रकार के विरोधी मनों के बीच राजा बैठा हुआ है। कहानी लंबी है। आगे बढ़ती है। हमें कहानी में नहीं उलझना है।

यह सचाई है कि मन की ये विरोधी धारणाएं, विरोधी प्रवृत्तियां सामने आती हैं और व्यक्ति उलझन में फंस जाता है। किस मन की बात मानूं? पहले मन की बात मानूं, दूसरे मन की बात मानूं या तीसरे मन की बात मानूं? जैसे एक आदमी भाषण देता है। तीन भाषण देता है। पहले तो कुछ समझ कर आता है कि मुझे क्या बोलना है। वह होता है पहले का भाषण, तैयारी का भाषण। दूसरा है बोलते समय का भाषण और तीसरा है यह बात कहता तो और अच्छा रहता। यह बात छूट गई। यह बात मुझे कहनी चाहिए थी। बाद का भाषण है तीसरा। एक पहले का भाषण, दूसरा मध्य का भाषण और तीसरा बाद का भाषण।

विविध चित्त

वैसे ही हमारा चिंतन भी तीन प्रकार का होता है। तीन नहीं और ज्यादा होता है। मन न जाने कितने प्रकार का होता है। शायद प्रातःकाल एक प्रकार का मन, मध्याह्न काल में दूसरे प्रकार का मन और सायंकाल में तीसरे प्रकार का मन। रात के पहले प्रहर में चौथे प्रकार का मन। सोते-सोते पांचवें प्रकार का मन और जागते-जागते छठे प्रकार का मन। यह तो बहुत स्थूल विभाग मैंने कर दिया। छह प्रकार का नहीं, एक घंटा में इतना चक्का घूम जाता है कि सौ प्रकार का मन बदल जाता है। कभी-कभी सुबह मन होता है कि आज उपवास करूं तो बहुत अच्छा है। मन होता है उपवास करने का, जैसे ही ग्यारह बजते हैं, रसोई की गंध आने लगती है और कोई न्यौता आ जाता है, कोई निमंत्रण दे देता है कि चलो, भोजन करें तो वितर्क उठता है उपवास करना तो था पर आज नहीं, कल ही देखेंगे। बस, थाली के सामने आकर बैठ जाता है। मन इतना जल्दी बदल जाता है।

यह जो मानसिक अनेकाग्रता, मानसिक परिवर्तनशीलता, मानसिक चंचलता और विविधता का प्रश्न है, वह हमारे लिए एक मोड़ है। यहां से हम अज्ञात की खोज में प्रस्थान कर सकते हैं। यहां एक प्रश्न होता है और उस प्रश्न का समाधान अज्ञात में होता है। यदि सब कुछ ज्ञात मन ही करता तो इतने प्रकार नहीं होते। ज्ञात के सिवाय भी कोई दूसरी दुनिया है और वह है अज्ञात की दुनिया। अज्ञात की दुनिया में जाकर खोजने पर हमारे व्यवहार की व्याख्या हो सकती है। आज के मनोविज्ञान ने इस अज्ञात की खोज कर इसके आधार पर व्यवहार की व्याख्या की है। एक प्रकार से उसने आत्मा की दिशा में प्रस्थान कर दिया, स्थूल जगत से सूक्ष्म जगत की दिशा में प्रस्थान कर दिया। यदि

मनोविज्ञान की वह व्याख्या नहीं होती, यह 'डेफ्त साईकोलोजी' का 'कन्सेप्ट' हमारे सामने नहीं होता तो शायद हम केवल ज्ञात दुनिया की बात करते, किंतु इस अवचेतन मन की मीमांसा ने आदमी को बहुत गहरे में उतार दिया।

एक अवधारणा बनी कि आदमी वैसा ही होता है, जैसी परिस्थिति होती है। आदमी अपने आपमें कुछ नहीं होता, जैसी परिस्थिति, वैसा आदमी। यदि परिस्थिति को काट दें तो आदमी की व्याख्या नहीं की जा सकती। परिस्थिति के माध्यम से मनुष्य की व्याख्या होती है। परिस्थितिवाद हावी हो जाता, यदि अवचेतन मन की अवधारणा हमारे सामने नहीं होती। अवचेतन मन की अवधारणा हमारे सामने है तो परिस्थितिवाद अतिपरिस्थितिवाद नहीं बन पाता। सबकुछ परिस्थिति के कारण होता है, यह हमारी धारणा टूट जाती है।

परिस्थिति से प्रशिक्षण

आदमी परिस्थिति से सीखता है। आदमी का विकास परिस्थिति के आधार पर होता है। सम्राट अकबर ने एक महल बनाया। उसका नाम रखा 'शीश महल'। उसे जंगल में बनाया। अकबर को एक परीक्षण करना था। वहां पांच-दस औरतों को रखा जो गर्भवती थीं। उन्हें कड़ा निर्देश दिया गया कि एक भी माता बोलेगी नहीं। परस्पर बातचीत नहीं करेंगी। कड़ा निर्देश कोई आदमी बोल नहीं सकता। बच्चे पैदा हो गए, कोई बोला नहीं। कोई बातचीत नहीं करता। बच्चे बढ़ते गए, बढ़ते गए। एक महीने के हुए, एक बरस के हो गए। दो बरस के हुए, तीन बरस के हो गए और पांच बरस के हो गए, पर यह क्या ? कुछ भी नहीं। केवल ऊं ऊं.......। बस, संकेत के सिवाय कोई भाषा नहीं। कोरा संकेत, और कुछ नहीं। संकेत के सिवाय कुछ जानते भी नहीं। पचास बरस के भी हो जाएं और ऐसे वातावरण में रहें कि जहां शब्द सुनने को न मिले तो कोई बच्चा बोल नहीं सकेगा, कोई जवान बोल नहीं सकेगा और बूढ़ा हो जाने पर भी बोल नहीं सकेगा।

ऐसी घटनाएं घटित होती हैं कि बच्चों को भेड़िया या दूसरे जानवर उठाकर ले जाते हैं। उन्हें पालते हैं। वे बच्चे भेड़ियों की तरह चारों पैरों से चलने लगते हैं। दोनों हाथों को अपना पैर बना लेते हैं। दौड़ते हैं। वैसे ही खाते हैं और वही भाषा बोलते हैं, जो भेड़ियों की भाषा होती है। जिस जानवर के पास पलते हैं, उसकी जो भाषा होती है, उस भाषा में बोलते हैं।

कोई भी मनुष्य सामाजिक वातावरण के बिना, सामाजिक परिवेश के

बिना बोलना नहीं सीख सकता, भाषा नहीं सीख सकता। भाषा नहीं सीख सकता, इसका अर्थ है चिंतन करना भी नहीं सीख सकता। चिंतन करना नहीं सीख सकता, इसका अर्थ है व्यवहार का परिष्कार करना भी नहीं सीख सकता और व्यवहार का परिष्कार करना नहीं सीख सकता, इसका अर्थ होता है हृदय-परिवर्तन करना भी नहीं सीख सकता, आचरण को बदलना भी नहीं सीख सकता। व्यक्ति का बदलना, व्यवहार का बदलना, हृदय का बदलना, आचरण का बदलना ये सारी बातें दो आधारों पर होती हैं एक है चिंतन। दूसरा है भाषा। यदि भाषा का विकास किया होता तो आज गाय आदमी से पीछे नहीं रहती। शेर आदमी से पीछे नहीं होता। बैल, भैंस और सांड इतने शक्तिशाली हैं कि आदमी उनके सामने कुछ भी नहीं है, पर बेचारों को भाषा नहीं मिली, चिंतन नहीं मिला। ऐसे के ऐसे रह गए। आदमी वातावरण से सीखता है, भाषा को सीखता है।

जो सामाजिक वातावरण में जीता है, माताओं को बोलते देखता है, जो अपने आस-पास में बातचीत को देखता है, बोलने का प्रयत्न करता है। बोल नहीं सकता, फिर भी छोटा बच्चा बोलने के लिए बड़ा कसमसाता है। सारी शक्ति लगाकर बोलना चाहता है, पर जब तक स्वरयंत्र पूरा विकसित नहीं हो जाता, पूरा काम करने नहीं लग जाता, तब तक बोल नहीं पाता, फिर थोड़ा बड़ा होता है, एक-एक शब्द को पकड़ना शुरू करता है और पकड़ते-पकड़ते पूरा बोलने लग जाता है। भाषा को पूरा सीख लेता है। परिस्थिति के कारण, सामाजिक वातावरण के कारण व्यक्ति भाषा को पकड़ता है, शब्दों को पकड़ता है और भाषावान बन जाता है, सभाषक बन जाता है। व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं अभाषक और सभाषक। अभाषक जानता है, पर बोल नहीं पाता। सभाषक संवेदन करता है, जानता है और बोल भी लेता है।

एक जानवर को कोई चोट मारेगा, वह चिल्ला देगा, चिंचिया देगा, कुछ शब्द करेगा पर कुछ भी कह नहीं सकेगा। एक बिल्कुल छोटा प्राणी है चींटी। उसे आप चाहे कितना ही कष्ट पहुंचायें, वह बोल नहीं सकेगी। हो सकता है, वह इधर-उधर सरक कर टालने का प्रयत्न करे और एक छोटा प्राणी-वनस्पति का जीव है, न तो बोल सकेगा न इधर-उधर जा सकेगा। अपनी संवेदना को प्रकट अवश्य करेगा, किंतु उसको पकड़ने के लिए हमारे पास कोई दृष्टि नहीं है। एक बच्चे को अगर चांटा मारें तो वह रोयेगा, चिल्लायेगा, प्रतिरोध भी

करेगा और कह भी देगा कि ऐसा मत करो, ऐसा क्यों करते हो? मुझे क्यों मारते हो? क्यों पीटते हो? वह सब कुछ कह देगा, क्योंकि उसके पास स्पष्ट भाषा है। भाषा है इसलिए वह सोचता है, चिंतन भी करता है। वातावरण से जो पहला सूत्र मिलता है वह है स्पष्ट भाषा। सामाजिक वातावरण के बिना भाषा नहीं आ सकती। वातावरण के माध्यम से ही हमारी भाषा का विकास होता है।

संवेदना है स्वाभाविक

परिस्थितिवाद व्यर्थ नहीं है। परिस्थितिवाद के बिना हमारे विकास की व्याख्या नहीं की जा सकती। मनुष्य की आज तक की सभ्यता, ज्ञान, शिक्षा इन सारी व्याख्या के पीछे परिस्थितिवाद बहुत बड़ा काम कर रहा है। दो बातें हैं। एक हमारा संवेदन और एक हमारा सीखना। प्राणी में दो बातें हैं। ज्ञान और संवेदन। संवेदन स्वाभाविक है। वह सीखा नहीं जाता। किसी व्यक्ति को चांटा मारा, बच्चे को चांटा मारा, किसने सिखाया था कि दर्द होगा? चांटा मारा और दर्द हो गया। किसने सिखाया? किसी ने नहीं सिखाया। नाड़ी-संस्थान की ऐसी व्यवस्था है कि कोई बाहर से प्रहार हुआ और दर्द की अनुभूति होने लग जायेगी, संवेदना होने लग जायेगी। यह संवेदना हमारी स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसे सीखना जरूरी नहीं होता। जैसे बच्चे को सिखाया जाता है एक, दो, तीन, चार। गणना सिखाई जाती है, अंक सिखाये जाते हैं। क्या चीनी मीठी होती है, यह सिखाया जाता है? सिखाने की जरूरत नहीं। जीभ पर चीनी आयेगी, मिठास का अनुभव होने लग जायेगा। संवेदना सिखाई नहीं जाती। बाहरी ज्ञान सिखाया जाता है। हमारी इन्द्रियों की संवेदना, दर्द की अनुभूति, सुख की अनुभूति, दुःख की अनुभूति–ये सारी बातें सिखाई नहीं जातीं, ये सहज होती हैं। ज्ञान सिखाया जाता है, सब पढ़ाया जाता है। दर्शन-शास्त्र पढ़ाया जाता है। सारी विद्याएं पढ़ाई जाती हैं, सिखाई जाती हैं। यदि विद्याओं को पढ़ाने की व्यवस्था न हो, स्वयं ग्रहण की बात हो तो विद्या की सारी शाखाएं समाप्त हो जाएं। ये सारे विद्यालय और महाविद्यालय चलते हैं ज्ञान को सिखाने के लिए, किंतु संवेदन को सिखाने के लिए कोई भी उपाय और उपक्रम नहीं चल रहा है।

हमारे जीवन में दो चेतना के प्रकार काम कर रहे हैं एक है संवेदन की चेतना और दूसरी है ज्ञान की चेतना, सीखने की चेतना, स्मृति की चेतना, कल्पना की चेतना, ग्रहण करने की चेतना। ये दो बिल्कुल अलग-अलग काम कर रही हैं। परिस्थति का प्रभाव सीखने पर ज्यादा होता है। जितनी सीखने

की बातें हैं, वे परिस्थिति से प्रभावित होती हैं। संवेदन का क्षेत्र उससे परे रह जाता है। वह उससे प्रभावित नहीं होता। आदमी भाषा सीखता है, चिंतन करना सीखता है। यह भी सिखाया जाता है कि कैसे सोचना चाहिए। ये पूरे कोर्स चलते हैं कि व्यवस्था कैसे करें? प्रबंध कौन करे? कैसे पढ़ायें? कैसे सोचें? यह सारा का सारा विकास परिस्थिति-सापेक्ष होता है। परिस्थिति होती है, आदमी उसी प्रकार का ज्ञान अर्जित कर लेता है। वर्तमान परिस्थिति में ज्ञान की अनेक नई शाखाएं चल पड़ीं। आज आदमी बहुत प्रकार की बातें सीखता है। शायद मध्ययुग में इतनी शाखाएं नहीं थीं। आदमी बहुत जल्दी विद्वान बन जाता। बहुत जल्दी अपने आपको पंडित मान लेता। संस्कृत भाषा पढ़ जाता, संस्कृत का विद्वान हो जाता। लिखना भी नहीं जानता। कुछ निर्माण करना भी नहीं जानता। सृजनात्मक साहित्य की विधि को भी नहीं जानता, पर भाषा सीखी और विद्वान बन गया। पुराने जमाने में तो ऐसा होता था कि थोड़ा पढ़ा-लिखा आदमी भी बहुत बड़ा बन जाता था।

खतरनाक है अधूरा ज्ञान

एक आदमी था गांव में। थोड़ा बहुत पढ़ गया। पत्र पढ़ने लगा। गांव के लोग आते हैं कि भई, पत्र आया है, पढ़ दो। पढ़ना भी नहीं जानते थे लोग। अब वह गांव में अकेला रहा। चाहे तार आए, चाहे पत्र आए, एकाकी पढ़ने वाला। बड़ा अहंकार होने का प्रसंग है। चाहे कितना ही कम पढ़ा-लिखा हो, किंतु यह अनुभव हो कि मैं अकेला ही जानता हूं, दूसरा नहीं जानता है तो अहंकार को फलित होने के लिए अच्छा मौसम बन जाता है। अहंकार के लिए अच्छी उर्वरा हो जाती है। बड़ा अहंकार आ गया। एक दिन एक आदमी पत्र लेकर आया, बोला-पत्र पढ़ दो। पढ़े क्या? पढ़ा हुआ तो था नहीं विशेष, थोड़ा बहुत काम निकाल लेता था। पत्र आ गया साहित्यिक भाषा में। उलट-पलट कर देखा। समझ में तो नहीं आया। जो भी ऊटपटांग बातें थीं, वे सारी कह दीं। यह लिखा है, वह लिखा है। उसे क्या पता? उसने कहा–'ठीक है। यह तो पढ़ना जानता है, ठीक पढ़ा है।'

चौथे–पांचवें दिन उसका भाई पहुंचा। स्टेशन पर किसी को न देखकर बड़ा रुष्ट हो गया। उसने मन ही मन सोचा–मैंने पत्र लिखा था कि दस कोस की दूरी पर गाड़ी पहुंच जानी चाहिए। कोई साधन नहीं है आने का। मेरे भाई ने मेरी बात पर ध्यान नहीं दिया। बैलगाड़ी नहीं भेजी। किसका भाई? जाऊंगा

और अलग हो जाऊंगा। दो चूल्हे जलेंगे। साथ नहीं रह सकता। मेरी इतनी बात भी नहीं मानी उसने। ध्यान नहीं दिया और भी कुछ बातें थीं। बड़ा गरमा गया। घर पहुंचा तो मुंह लाल, आंखें तनी हुई। आंख में लाल डोरे पड़ रहे थे। भाई ने देखा, अरे यह क्या? भाई सदा आता है तो बड़ा खुशहाल होता है, प्रेममग्न होता है, आज तो गुस्से से लाल हो रहा है। भाई ने प्रणाम किया, तब भी सामने नहीं देखा। भाई बोला–'भाई!' क्या हो गया? बड़े भाई ने कहा–'तुमने मेरी बात पर कब ध्यान दिया?' छोटा भाई बोला 'मैंने आपकी बात कभी टाली ही नहीं।' बड़े भाई ने कहा–'मैंने लिखा था कि बैलगाड़ी भेजनी है दस कोस की दूरी पर। तूने भेजी नहीं। क्या इतना निकम्मा हो गया? इतना काम भी मेरा नहीं कर सका?' छोटा भाई बोला–'कब लिखा था आपने?' लाओ पत्र। भाई थोड़ा पढ़ा-लिखा था, बोला–देखो मैंने यह क्या लिखा है। छोटा भाई बोला–'मैं तो उस महाशय के पास गया था। अपने गांव में तो एक ही पढ़ने वाला है। उसने तो कुछ बताया ही नहीं। मैं क्या करता?' दोनों गए उसके पास। पूछा–'तूने यह पत्र पढ़ा था?' उसने कहा–'हां मैंने पढ़ा था।' फिर पूछा–तूने बताया नहीं कि बैलगाड़ी भेजनी है। वह मौन रहा। क्या बताता, जानता ही नहीं था पढ़ना।

ऐसी घटनाएं होती हैं। थोड़ा पढ़ा-लिखा आदमी भी अनपढ़ लोगों में अपने आपको बहुत बड़ा मानने लग जाता है, किंतु आज स्थितियां बहुत बदल गई हैं। सीखने का विकास हो गया। नाना दिशाओं में आदमी ने इतना विकास किया है कि जिसकी तुलना शायद बहुत लंबे अतीत से नहीं की जा सकती। मैं मानता हूं, परिस्थिति के कारण आदमी ने सीखने में बहुत विकास किया है। आदमी ने भाषा के अध्ययन से लेकर चिंतन की विविध शाखाओं का विस्तार से अध्ययन किया और वह सीखने की दृष्टि से बहुत गतिशील बन गया है।

ये दोनों कोण मेरे सामने हैं। एक है परिस्थिति का कोण, दूसरा है आंतरिक चेतना का कोण। एक है ज्ञात मन का कोण और दूसरा है अज्ञात मन का कोण। हमारे सारे व्यवहार की व्याख्या के लिए हमें दोनों दृष्टियों का उपयोग करना होगा। ज्ञात मन का भी उपयोग करना है और अज्ञात मन का भी उपयोग करना है। इन दोनों का उपयोग करके ही हृदय-परिवर्तन के सूत्र को पकड़ सकते हैं।

11. परिवेश का प्रभाव और हृदय-परिवर्तन

मैंने बिजली के प्रकाश को देखा है, पर बिजली को कभी नहीं देखा। किसी ने भी बिजली को नहीं देखा। जो वैज्ञानिक बिजली की परिभाषा कर रहा है, उसने भी बिजली को नहीं देखा। मैंने देखा–करंट है, विद्युत का प्रवाह है, स्विच ऑन किया, पर प्रकाश नहीं हुआ, क्योंकि बल्ब नहीं था। मैंने यह भी देखा, बल्ब है, स्वीच ऑन किया, फिर भी प्रकाश नहीं हुआ, क्योंकि विद्युत का प्रवाह नहीं था। प्रकाश की निष्पत्ति के लिए दोनों चाहिए, करंट भी चाहिए और बल्ब भी चाहिए। अकेले से प्रकाश नहीं होता।

व्यक्तित्व की व्याख्या भी दो संदर्भों में की जा सकती है चेतना और परिस्थिति। यदि परिस्थिति है और चेतना नहीं है या चेतना है और परिस्थिति नहीं है तो व्यक्ति की व्याख्या नहीं की जा सकती। दोनों आवश्यक हैं। चेतना भी आवश्यक है और परिस्थिति भी आवश्यक है। परिस्थिति के बिना व्यक्तित्व को समझा नहीं जा सकता।

चेतना सूक्ष्म है। उसे कभी नहीं देखा। न मैंने देखा है और न आपने देखा है। चेतना की व्याख्या हम करते हैं, प्राचीन आचार्यों ने की है, पर देखा किसी ने नहीं।

परिस्थिति स्थूल है। उसको देखा है, मैंने भी देखा है और आपने भी देखा है। चेतना सूक्ष्म है, उसे नहीं पकड़ा जा सकता। परिस्थिति स्थूल है, उसे पकड़ा जा सकता है, पर दोनों के योग के बिना व्यक्तित्व की व्याख्या नहीं हो सकती।

परिवेश का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिकों ने तीन निष्कर्ष प्रस्तुत किए–

1. बच्चा जब गर्भ में आता है, तब से ही उस पर प्रभाव पड़ना प्रारंभ हो जाता है।
2. वह जन्म लेता है और जैसे-जैसे उसकी अवस्था बढ़ती है, वैसे-वैसे प्रभाव गहरा होता चला जाता है।

3. एक ही समय में जन्म लेने वाले दो बालक भिन्न-भिन्न वातावरण में पलते हैं तो उनके व्यवहार में भी भिन्नता आ जाती है।

संगति का असर

राजा सैर करने निकला। जंगल पहुंच गया। कुछ आगे बढ़ा। चोरों की पल्ली आ गई। राजा चोरपल्ली के आगे से गुजरने लगा। एक घर के सामने एक पिंजरा टंगा हुआ था। उस पिंजरे में एक तोता था। जैसे ही तोते ने राजा को देखा, वह बोल पड़ा 'राही जा रहा है। जल्दी आओ, लूटो-लूटो। जा रहा है, जा रहा है।' राजा ने तोते को बोलते देखा। उसकी बात सुनी। अचंभे में पड़ गया। गति को तेज कर आगे निकल गया। अकेला था, भय भी लगा। आगे चला गया।

बहुत दूर जाने पर उसे एक दूसरा आश्रम मिला। आश्रम में अनेक कुटीर थे। एक कुटीर के द्वार पर पिंजरा था और उसमें भी एक तोता था। तोते ने जैसे ही राजा को देखा, बोल उठा–'स्वागतम्, स्वागतम्, सुस्वागतम्। आओ, बैठो, स्वागत स्वीकार करो।' राजा ने सुना। अचंभा शतगुणित हो गया।

राजा पिंजरे के पास जाकर तोते से बोला–'भाई! तुम आदमी की भाषा बोलते हो। मुझे एक रहस्य समझाओ। कुछ समय पहले मैं एक बस्ती से गुजर रहा था। वहां एक पिंजरे में तोता था। उसने मुझे देखते ही कहा–आओ, लूटो, लूटो, पथिक जा रहा है। यहां आने पर तुमने कहा–स्वागतम, स्वागतम, सुस्वागतम। इतना अंतर क्यों? तुम दोनों एक ही जाति के पक्षी हो। दोनों मनुष्य की भाषा में बोलते हो, फिर दोनों की वाणी में यह भेद क्यों?'

तोता बोला–'महाराज! क्षमा करें। हम दोनों एक जाति के ही नहीं, एक ही वंश के हैं, हम दोनों सगे भाई हैं। दोनों के माता-पिता एक हैं। मैं बड़ा हूं, वह छोटा है, पर है मेरा सगा भाई।'

राजा का आश्चर्य शतगुणित हो गया। उसने पूछा–फिर दोनों की भाषा में, भावना में इतना अंतर क्यों?

वह बोला–राजन्! भावना के अंतर का रहस्य यह है–

मलिम्लुचानां स वचः शृणोति,
अहं तु राजन्! मुनिपुंगवानाम्।
प्रत्यक्षमेतत् प्रतिभाति सत्यं,
संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति॥

राजन्! मेरा वह छोटा भाई तोता मांसाहारी चोरों और डकैतों के संपर्क में रहता है, उनके वातावरण में पलता है, इसलिए वह लूटखसोट की बातें सीखता है, करता है। मैं सदा ऋषि-मुनियों के संसर्ग में रहता हूं, इसलिए अच्छाइयां सीखता हूं। आपने यह प्रत्यक्ष देख ही लिया कि संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति-गुण और दोष संसर्ग के कारण आते हैं। जैसा संसर्ग, वैसी ही फल-प्राप्ति। बुरे संसर्ग से दोष पनपते हैं और भले संसर्ग से गुणों में वृद्धि होती है।

गुण और दोष–ये दोनों संसर्ग के कारण आते हैं, वातावरण के कारण आते हैं। वातावरण के प्रभाव से आदमी बुरा होता है। एक ऐसा स्वच्छ और पवित्र वातावरण होता है कि उसमें पलने वाला बच्चा अच्छा हो जाता है और एक वातावरण ऐसा होता है, जिसमें पलने वाला अच्छा बालक भी बुरा बन जाता है, बिगड़ जाता है।

बच्चे संस्कारी बने

वातावरण का प्रभाव बहुत गहरा होता है। जो माता-पिता समझदार और चिंतनशील होते हैं, वे अपने बच्चों को प्रारंभ से ही अच्छे वातावरण में रखते हैं, जिससे कि बच्चे में अच्छाइयां जागे, गुण जागे और बुराइयां दूर हों। जो माता-पिता अपने संतान की उपेक्षा करते हैं, उनके प्रति ध्यान नहीं देते, उनको अच्छा वातावरण उपलब्ध नहीं करा पाते, वे बच्चे बिगड़ जाते हैं। हम देखते हैं कि छोटे-छोटे बच्चे ऐसी भद्दी गालियां देने लग जाते हैं, जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। एक बच्चा बहुत भद्दी गाली दे रहा था। किसी ने उसके पिता से पूछा। पिता ने कहा–क्या करूं? यह सदा नौकरों के साथ रहता है, उनके संपर्क में रहता है। वे जो गालियां देते हैं, उन्हें यह बच्चा पकड़ लेता है और वैसे ही बोलने लग जाता है। इसी प्रकार अनेक बुराइयां बच्चों में आ जाती हैं।

बच्चा अनुकरणप्रिय होता है। प्रारंभ में वह अनुकरण से ही सब कुछ सीखता है। वह सारी बुद्धि जब नकल से लेता है तो अबुद्धि कैसे छोड़ेगा? उसे भी लेगा, क्योंकि उसका विवेक अभी इतना विकसित नहीं हो पाया है कि बुद्धि और अबुद्धि में अंतर कर सके।

एक ही वंश-परंपरा में उत्पन्न दो शिशु भिन्न-भिन्न वातावरण के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार के बन जाते हैं। उनमें इतनी भिन्नता हो जाती है कि उनके व्यवहारों को देखने पर यह अनुभव नहीं होता कि ये दोनों सगे भाई हैं।

राजा ने कब कल्पना की थी कि दोनों तोते सगे भाई हैं, क्योंकि एक तोता 'लूटो, लूटो' की रट लगा रहा है और दूसरा तोता 'स्वागतम, स्वागतम' की रट लगा रहा है। दोनों की भाषागत भावना में आकाश-पाताल का अंतर है।

इस अंतर का कारण है वातावरण। वातावरण के कारण दोनों के मार्ग दो हो गए। एक चोरी के मार्ग पर चला गया और एक भक्ति के मार्ग पर चला गया।

परिवेश के ये तीनों निष्कर्ष परिवेश के अध्ययन से प्राप्त हुए हैं।

परिवेश का प्रभाव

प्रत्येक व्यक्ति के सामने तीन प्रकार के परिवेश या परिस्थितियां होती हैं–1. बाहरी परिवेश। 2. आंतरिक परिवेश। 3. अंतर्तम परिवेश।

पूरे व्यक्तित्व की व्याख्या करने के लिए हमें तीनों परिवेशों का अध्ययन करना होगा। इन तीनों के बिना आदमी के व्यक्तित्व, आचरण और व्यवहार की व्याख्या नहीं की जा सकती। सामाजिक, भौतिक और भौगोलिक वातावरण बाहरी परिवेश है। जिस प्रकार की सामाजिक, भौतिक और भौगोलिक परिस्थिति होती है, व्यक्तित्व वैसा ही बनता चला जाता है।

आंतरिक परिवेश या वातावरण वह है, जो शरीर के भीतर में काम कर रहा है। भीतर और बाहर, बाहर और भीतर के बीच में एक सीमा करता है, हमारा शरीर। इस शरीर की त्वचा से जो बाहर का संवेदन अनुभव होता है, जो बाहर का वस्तु-जगत है, वह है बाहरी वातावरण और जो इस त्वचा के भीतर, त्वचा के संवेदन से लेकर संपूर्ण शरीर के भीतर होने वाला संवेदन है, वह है आंतरिक परिवेश या आंतरिक वातावरण।

जो इस स्थूल शरीर की सीमा से परे, सूक्ष्म और सूक्ष्मतम शरीर का वातावरण है, वह है अंतर्तम का वातावरण।

जो आत्मवादी है, आत्मा और सूक्ष्म जगत में आस्था रखता है, वह तीनों परिवेशों के संदर्भ में व्यक्तित्व की व्याख्या करेगा। जो नितांत भौतिकवादी है, सूक्ष्म जगत में विश्वास नहीं करता, उसे भी कम-से-कम बाहरी परिवेश और आंतरिक परिवेश, बाहरी वातावरण और शरीर के भीतर का वातावरण–इन दो परिवेशों में व्यक्तित्व की व्याख्या करनी पड़ेगी।

सूक्ष्म जगत

अध्यात्म का सिद्धांत है–स्थूल से सूक्ष्म में प्रवेश, स्थूल से सूक्ष्म की ओर प्रस्थान। श्वास स्थूल है, सरलता से पकड़ा जा सकता है। प्राण सूक्ष्म है,

पकड़ा नहीं जा सकता। हम दूध और दही को देख सकते हैं, पर उसमें जो घी है, उसको प्रत्यक्ष नहीं देख सकते। घी उसमें है, यह हम जानते हैं। हम यह भी जानते हैं कि घी कहीं अलग से नहीं आ रहा है। वह दूध और दही से ही निष्पन्न होता है। दूध में घी है, पर उसे पकड़ा नहीं जा सकता। दही में घी है, पर उसे पकड़ा नहीं जा सकता। दूध और दही से घी को निकालने के लिए भिन्न प्रवृत्ति का, प्रक्रिया का प्रयोग करना होता है। इसी प्रकार श्वास के कण-कण में प्रवहमान प्राणधारा को पकड़ना भी प्रयोग-सापेक्ष है। श्वास बाहर आता है, भीतर जाता है, क्यों? वह अपने आप न भीतर जाता है और न अपने आप बाहर आता है। श्वास भीतर जाता है प्राणधारा के साथ, बाहर आता है प्राणधारा के साथ। श्वासनली विद्यमान है, बाहर वायु भी है, पर प्राण चला गया तो क्या श्वास भीतर जाएगा? क्या श्वास बाहर आएगा? नहीं। वह जहां है वहीं रह जाएगा। भीतर का भीतर और बाहर का बाहर। जहां प्राण समाप्त, वहां श्वास भी समाप्त। प्राणधारा के कारण ही सारे शरीर में प्रकंपन होते हैं, स्पंदन होते हैं। जितने भी वाईब्रेशन्स या मुवमेंट्स होते हैं, वे सारे प्राणधारा के कारण होते हैं।

पहले अभ्यास में श्वास को पकड़ा जाता है और फिर प्राण को पकड़ने का अभ्यास चलता है। श्वास को पकड़ने के लिए जितनी एकाग्रता चाहिए उससे बीस गुनी एकाग्रता चाहिए प्राण को पकड़ने के लिए। अत्यंत सूक्ष्म है प्राण की धारा। श्वास, शरीर और इन्द्रियों के भीतर काम करने वाली, जो सूक्ष्म धारा है, वह है प्राणधारा। श्वास का एक प्राण है, इन्द्रिय का एक प्राण है और शरीर का एक प्राण है। भाषा का एक प्राण है। चिंतन का एक प्राण है। इन भिन्न-भिन्न प्राणों के भिन्न-भिन्न कार्य हैं। प्राणधारा एक ही है, पर कार्यभेद से उसका नामभेद कर दिया जाता है। जब प्राणधारा इन्द्रियों के साथ जुड़ती है तब वह 'इन्द्रिय प्राण' कहलाता है। प्राण की एक धारा श्वास के साथ जुड़ती है और वह 'श्वास प्राण' बन जाता है। प्राण की एक धारा भाषा के साथ जुड़ती है और वह 'भाषा प्राण' बन जाता है। प्राण की एक धारा मन के साथ जुड़ती है और वह 'मनःप्राण' बन जाता है, 'मनोबल' बन जाता है। सारा बल, सारी सक्रियता और सारी शक्ति प्राणधारा के कारण आती है।

व्यवहार और आंतरिक परिस्थिति

इस शरीर के भीतर आंतरिक के वातावरण में दो मुख्य तत्त्व कार्य निष्पादित करते हैं विद्युत और रसायन। मनुष्य के व्यवहार और आचरण की व्याख्या करने के लिए प्राण-विद्युत और रसायनों को जानना आवश्यक है।

प्रत्येक कोशिका विद्युत पैदा करती है। शरीर की प्रत्येक कोशिका के आस-पास अपना बिजलीघर है। मस्तिष्क में बिजली पैदा होती है। बिजली के बिना मस्तिष्क काम नहीं कर सकता। बिजली के बिना शरीर का कोई अवयव, छोटा हो या बड़ा, काम नहीं कर सकता। सारे शरीर में प्राण-विद्युत (वायो इलेक्ट्रीसिटी) और रसायन काम करते हैं। मनुष्य की अंतःस्रावी ग्रंथियों से स्राव होता है और वह रक्त के साथ मिलकर व्यक्ति को प्रभावित करता है। मनुष्य की संवेगात्मक अवस्थाएं, मानसिक विकास के बिंदु व्यवहार की सारी प्रणालियां, सारे व्यवहार और आचार–इन रसायनों के द्वारा प्रभावित होते हैं। व्यवहार और आचार को देखकर जाना जा सकता है कि अभी वर्तमान में व्यक्ति किस रसायन से प्रभावित हो रहा है? कौन-सा रसायन उसे इस प्रकार के आचार व्यवहार के लिए प्रेरित कर रहा है?

जब आदमी में क्रोध जागता है, अहंकार और वासना जागती है, तब जान लिया जाता है कि अभी इस स्थिति में व्यक्ति की एड्रीनल ग्लेंड ज्यादा सक्रिय हो रही है। गोनाड्स और थायराइड ग्लेंड अधिक काम कर रही है। सारा व्यवहार इनसे प्रभावित होता है। व्यक्ति का आचरण बोलता है कि आदमी अभी किन-किन ग्रंथियों से प्रभावित हो रहा है। इन रसायनों को जाने बिना व्यक्तित्व की यथार्थ व्याख्या नहीं हो सकती। व्यक्तित्व के पूरे विकास पर अंतःस्रावी ग्रन्थियों के रसायनों का बहुत प्रभाव होता है। जब हम इस तथ्य से अज्ञात रहते हैं, तब अनेक विरोधी बातें कर जाते हैं। कभी बाहरी परिस्थिति पर सारा दोषारोपण कर देते हैं और कभी किसी व्यक्ति-विशेष को उस घटना का उत्तरदायी बना देते हैं। कभी कुछ और कभी कुछ।

एक आदमी जा रहा था। पास में एक बैल था। उस पर 'गोणी' रखी हुई थी। आदमी ने अपना सारा भार गोणी के एक ओर भर दिया। गोणी बैल की पीठ पर टिक नहीं पा रही थी, क्योंकि उसका संतुलन बिगड़ गया था। गोणी के दो पल्लों में समान भार डालने से ही संतुलन बना रह सकता है। भार को एक ही पल्ले में डाल देने के कारण न बैल चल पा रहा था और न ही भार टिक रहा था। आदमी ने भार को एक ही पल्ले में रखा और दूसरे पल्ले में हाथ डालकर शक्ति लगाई, जिससे भार और शक्ति में संतुलन हो जाए। कुछ दूर चला। हांफने लगा। सामने से एक पथिक आ रहा था। उसने कहा–'अरे मूर्ख! यह क्या कर रहे हो? तुम्हारा शरीर पसीने से लथपथ हो रहा है। तुम भी कष्ट पा रहे हो और बैल भी कष्ट पा रहा है। तुम वज्रमूर्ख हो।'

उसने कहा–क्या करूं? संतुलन कैसे बनाऊं?

पथिक बोला–आधा भार निकाल कर दूसरे पल्ले में डाल दो, संतुलन बन जाएगा।

उसने वैसा ही किया। संतुलन बना। शक्ति का अतिरिक्त व्यय रुक गया और उसका मार्ग भी सुख से कट गया।

बहुत बार आदमी सारा भार एक पल्ले में डाल देता है, और संतुलन बनाए रखने के लिए जी-तोड़ प्रयत्न करता है, शक्ति का अपव्यय करता है।

संतुलन है आवश्यक

आदमी सारा भार परिस्थिति पर डाल कर मुक्त हो जाना चाहता है। दूसरे सारे निमित्त गौण हो जाते हैं, खाली रह जाते हैं। वह तब अपनी बात को सिद्ध करने के लिए अनेक तर्क-वितर्क देता है, मस्तिष्क की शक्ति लगाता है, फिर भी संतुलन स्थापित नहीं कर पाता। कितना अच्छा हो कि आदमी दोनों पल्लों को संभाले, दोनों के संतुलन के लिए अपेक्षित भार डाले। वह एकांततः ऐसा न माने कि जैसे बाहर की परिस्थिति होती है, आदमी वैसा ही बन जाता है। यह एकांगी धारणा है। समग्र या यथार्थ अवधारणा यह होनी चाहिए कि बाहरी परिस्थिति भी व्यक्ति को प्रभावित करती है और अंतर की परिस्थिति भी आदमी को प्रभावित करती है। इन दोनों के साथ-साथ अंतरतम की परिस्थिति का प्रभाव भी व्यक्ति पर पड़ता है।

जब अंतःस्रावी ग्रंथियों के स्राव रक्त के साथ मिलते हैं, तब व्यवहार प्रभावित होता है और आदमी विचित्र प्रकार के व्यवहार करने लग जाता है। हम समझ नहीं पाते। बड़ी कठिनाई होती है। कभी-कभी बच्चे के अतिरिक्त व्यवहार को देख माता-पिता भी उलझ जाते हैं। गुरु भी शिष्य के व्यवहार से उलझ जाते हैं और हितैषी भी कठिनाई में पड़ जाते हैं। एक घर का सारा वातावरण स्वच्छ और सुलझा हुआ है। कोई कठिनाई नहीं है, फिर भी माता-पिता को भान होता है कि लड़का बिगड़ता जा रहा है। ऐसा क्यों होता है। प्रश्न उभर आता है। इस प्रश्न का समाधान आंतरिक परिस्थिति में खोजा जा सकता है। यह सही है कि बाहरी परिस्थिति अनुकूल है और उस परिस्थिति में लड़के का वह बिगाड़ संभव नहीं है। इस स्थिति में आंतरिक परिस्थिति पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। यह देखना होगा कि बीमारी पहले स्टेज में है, दूसरे में है या तीसरे में पहुंच चुकी है। यदि पहले स्टेज की बीमारी है तो उसकी चिकित्सा यह होनी चाहिए कि बाहरी वातावरण को बदला जाए जिससे कि

बच्चा अच्छा बन सके। जब यह ज्ञात हो जाये कि बीमारी पहले स्टेज की नहीं है सब अनुकूलताएं हैं और बीमारी दूसरे स्टेज में पैर रख चुकी है तो भीतरी परिस्थिति पर ध्यान केन्द्रित करना होगा।

मनोविज्ञान में 'टेम्पर टेन्ट्रा' नाम की बच्चों की बीमारी है। वह दो-तीन वर्ष के बच्चों में होती है। इस बीमारी के कारण बच्चे असाधारण व्यवहार करने लग जाता है। उसका सारा व्यवहार अस्वाभाविक होता है। वह बहुत गुस्सा करने लगता है, रोता है, चिल्लाता है, मारने दौड़ता है, वस्तुओं को इधर-उधर फेंक देता है, मचलता है और भी अनेक चेष्टाएं करने लग जाता है। ये सारी चेष्टाएं वह यों ही नहीं करता। यह एक बीमारी है, जो बच्चों में ही होती है। यदि इस बीमारी को न समझा जाए तो बच्चा बिगड़ जाता है। इस स्थिति में बच्चा बाहरी साधनों से स्वस्थ नहीं होता। यदि माता-पिता समझदार होते हैं तो वे बच्चों को पीटेंगे नहीं, गालियां नहीं बकेंगे।

बदलें स्वयं

कुछेक माताएं दिनभर बच्चों को गालियां देती रहती हैं, बुरा भला कहती रहती हैं, मारती रहती हैं। यह बच्चों को बिगाड़ने की मशीन है, जो बराबर चल रही है। इस प्रक्रिया से बच्चे बिगड़ते हैं, सुधरते नहीं। वे बच्चे इतने बिगड़ जाते हैं कि बड़े होकर माता-पिता को भी चेतावनी दे देते हैं।

यह अनर्थ अज्ञान के कारण होता है। आदमी नहीं जानता कि बच्चों की आदतों को कैसा बदला जाए? आदमी को चाहिए कि वह स्वयं की आदतों को भी बदले। ध्यान के द्वारा यह संभव है। ध्यान के द्वारा आदमी मानसिक दशा का निर्माण कर सकता है कि किस परिस्थिति में कैसा व्यवहार करना चाहिए, संतुलन कैसे बनाए रखा जा सकता है। यदि माता-पिता संतुलन बनाये रखते हैं तो बच्चों को जटिल परिस्थिति में से उबार कर उन्हें सुधार सकते हैं। जब बच्चा 'टेम्पर टेन्ट्रा' की बीमारी से ग्रस्त होता है और माता-पिता उसे दुत्कारते हैं, मारते-पीटते हैं तो वह बीमारी बढ़ती है, मिटती नहीं। यदि उस बीमारी की अवस्था में माता-पिता बच्चे को स्नेह देते हैं, सांत्वना देते हैं, प्रेम और प्रसन्नता दिखाते हैं तो धीरे-धीरे वह बीमारी मिटनी शुरू हो जाती है और बच्चा सामान्य व्यवहार करने लग जाता है। यदि उस स्थिति में माता-पिता भी वैसी ही प्रतिक्रिया करने लग जाएं जैसी प्रतिक्रिया बच्चा कर रहा है, जैसे-बच्चा वस्तुएं फेंकता है तो माता-पिता गुस्से में आकर बच्चे को ही फेंकने लग जाएं तो निश्चित ही वह बच्चा बड़ा होने पर माता-पिता को फेंकने की तैयारी करेगा।

हम आंतरिक परिस्थिति पर भी ध्यान केन्द्रित करें। हम यह सोचें कि बाहरी परिस्थितियों की अनुकूलता होने पर आदमी बुरा क्यों हो रहा है? इस स्थिति में हमें नए दृष्टिकोण से सोचना होगा। वहां एक प्रकाश-रेखा की जरूरत होगी, केवल अंधेरे में हाथ-पैर मारने से काम नहीं चलेगा। वहां प्रतिक्रियात्मक दृष्टिकोण से सोचना भयंकर हानिकारक हो जाएगा। आदमी की सामान्यतः धारणा प्रतिक्रियात्मक होती है, इसलिए समाधान हस्तगत नहीं होता।

प्रेक्षाध्यान की उपसंपदा स्वीकार करते समय साधक एक संकल्प स्वीकार करता है। वह कहता है 'मैं प्रतिक्रिया से बचूंगा। जो कुछ करूंगा, वह क्रिया ही करूंगा, प्रतिक्रिया नहीं करूंगा।' बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधना है प्रतिक्रिया-विरति।

प्रतिस्रोतगामी बनें

सामने कोई प्रतिक्रिया आई और यदि आदमी भी वैसा ही बन जाए, प्रतिक्रिया करने लग जाए तो यह 'जैसे का तैसा' का सिद्धांत आदमी को बनाने का सिद्धांत नहीं, बिगाड़ने का सिद्धांत सिद्ध होता है। यह व्यक्तित्व निर्माण का सिद्धांत नहीं, व्यक्तित्व को असमय में ही मार डालने का सिद्धांत होगा। हम अनुस्रोत में नहीं, प्रतिस्रोत में चलें। प्रतिक्रिया के प्रति प्रतिक्रिया न करें, क्रिया करें।

भगवान महावीर ने दसवेआलियं की चूलिका में कहा है–

अणुसोयपट्ठिए बहुजणम्मि, पडिसोयलद्धलक्खेणं।
पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउकामेणं॥

समूचा जगत अनुस्रोतगामी है। सारे लोग अनुस्रोत में चलते हैं। साधक वह होता है जो प्रतिस्रोत में चले, प्रवाह के प्रतिकूल चले। जो व्यक्ति कुछ होना चाहता है, उसे प्रतिस्रोतगामी होना ही पड़ेगा।

हम प्रवाह के प्रतिकूल चलना सीखें। भाई, बेटा, मित्र या पड़ोसी जिस प्रकार का व्यवहार करता है, उसी प्रकार का व्यवहार कर हम उस खाई को और अधिक लंबा-चौड़ा कर सकते हैं, विरोध को उग्र कर सकते हैं। इससे कभी समाधान नहीं होगा। इसका समाधान पाना हो तो प्रतिक्रिया-विरति की साधना करनी होगी। प्रतिक्रिया से मुक्त होकर, क्रिया का सहारा लेना ही प्रतिस्रोत में बहना है। यही समाधान का एकमात्र मार्गहै।

एक आदमी मोमबत्ती ढूंढ़ रहा था। नौकर आया। उसने पूछा–'मालिक! क्या कर रहे हैं?' वह बोला–'मोमबत्ती ढूंढ़ रहा हूं।' नौकर बोला–'मालिक!

अंधेरा है, कैसे दीखेगी। बिजली जला लें तो मोमबत्ती ढूंढ़ने में सरलता होगी।' मालिक बोला–'मूर्ख हो तुम। यदि बिजली होती तो मोमबत्ती ढूंढता ही क्यों? बिजली नहीं है, इसीलिए तो मोमबत्ती ढूंढ़ रहा हूं।' आदमी बिजली जलाने के भ्रम में उलझ जाता है और मोमबत्ती को खोजने की बात को छोड़ देता है। यह सच है कि जब बिजली है तो मोमबत्ती क्यों ढूंढ़ी जाए? मूल बात है प्रकाश की खोज। आदमी की यह प्रकृति है उसे अंधेरा प्रिय लगता है। वह बाहर प्रकाश चाहता है, पर अंतरंग में उसका अनुराग अंधेरे से है। वह चाहता है क्षमा, पर क्रोध उसे अच्छा लगता है। जितना विश्वास हिंसा में है, उतना अहिंसा में नहीं।

विभक्त व्यक्तित्व

आदमी अहिंसा की बात को आगे रखता है, क्षमा और प्रकाश के सिद्धांतों को सामने रखता है, पर आचरण करता है हिंसा का, क्रोध का और अंधकार का। वह उसका 'विभक्त-व्यक्तित्व' (डुएल-पर्सनेलिटी) है। सिद्धांत एक प्रकार का होता है और अंतरंग में दूसरे प्रकार की आकांक्षा होती है। क्रोध के प्रति हमारी जितनी आस्था है, यदि वह क्षमा के प्रति होती तो हम क्षमावान अधिक होते, क्रोधी कम। हिंसा के प्रति हमारी जितनी आस्था है, यदि वह अहिंसा के प्रति होती तो हम अहिंसक अधिक होते, हिंसक कम। हम अहिंसक कम हैं, हिंसक अधिक। क्षमावान कम हैं, क्रोधी अधिक। इससे निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि हमारी आस्था हिंसा में अधिक है अहिंसा में कम, हमारी आस्था क्रोध में अधिक है क्षमा में कम।

हम प्रकाश की बात करते हैं, प्रकाश की खोज नहीं करते। प्रकाश की खोज करने वाले व्यक्ति को भीतर में डुबकियां लगानी पड़ेंगी। जो व्यक्ति केवल बाहर ही बाहर झांकता रहता है, वस्तु-जगत को ही देखता रहता है, वस्तु-जगत की ही प्रेक्षा करता रहता है वह कभी प्रकाश को उपलब्ध नहीं हो सकता। यदि वस्तु-जगत की प्रेक्षा से प्रकाश उपलब्ध हो जाता तो फिर श्वास-प्रेक्षा या शरीर-प्रेक्षा करने की जरूरत नहीं होती। वस्तु-जगत की प्रेक्षा में आनंद है, सुखानुभूति है, आकर्षण है। कभी कुछ और कभी कुछ आदमी देखते-देखते तृप्त ही नहीं होता। जितना आकर्षण है उसमें, उतना संभवतः ध्यान साधना में नहीं है फिर भी आज का आदमी ध्यान के प्रति आकृष्ट है। इसका फलित यह है कि आदमी वस्तु-जगत को देखते-देखते मन में इतना ऊब गया है, इतना तनाव-ग्रस्त हो गया है कि बाहर से हटकर भीतर में झांकना चाहता है। बाहरी प्रेक्षा करते-करते आदमी में इतनी जटिलता आ गई है, इतनी मानसिक बेचैनी हो गई

कि वह बाहर से हटकर भीतर झांकना चाहता है और इसीलिए वह ध्यान शिविरों में आता है। यहां उसे श्वास-प्रेक्षा, शरीर-प्रेक्षा, अंतर्यात्राओं की प्रक्रियाओं से भीतर झांकने के लिए प्रेरित किया जाता है। जैसे-जैसे वह भीतर जाएगा, उसे वह दीखना प्रारंभ होगा जो बाहर की दुनिया में उपलब्ध नहीं था। भीतर में रंग दिखाई देंगे, ऐसे रंग जो बाहरी दुनिया में कभी नहीं देखे। इतना प्रकाश दिखाई देगा, जो बाहर कभी नहीं दिखा। भीतर की दुनिया में झांकते-झांकते ऐसे दृश्य दिखाई देंगे जो डरावने भी हो सकते हैं और सुहावने भी हो सकते हैं।

एक बहिन को मैंने नासाग्र-ध्यान या प्राणकेन्द्र पर ध्यान का प्रयोग बतलाया। उसने ध्यान प्रारंभ किया। दो-तीन दिन वह प्रयोग चला। बहिन को आनंद आने लगा। एक रात वह इस प्रयोग में बैठी थी। ध्यान लंबा हुआ। रात अंधेरी थी। ध्यान-काल में भयानक दृश्य सामने आने लगे। उन्हें देखकर वह बहुत भयभीत हो गई। उसका डर सघन होता चला गया, पर वह अविचल बैठी रही। धीरे-धीरे सब शांत हो गया।

भीतर का जगत

भीतर का जगत विभिन्न होता है। जब एक-एक कर पट खुलते जाते हैं, तब दृश्यों की भरमार से आदमी घबरा जाता है। भीतर बहुत दृश्य संकलित हैं। वे एक ही प्रकार के नहीं होते। अनेक प्रकार हैं उनके।

भीतर की प्रेक्षा ही वास्तव में प्रेक्षा है। उससे नया प्रकाश मिलता है, नए दृष्टिकोण का निर्माण होता है तथा नए प्रकार का व्यवहार और नए प्रकार का आचरण सामने उपस्थित होता है। हम समाधान खोजें भीतर के प्रकाश में हमारे व्यवहार का, हमारे आचरण का। बाहर में समाधान खोजते-खोजते जो लोग थक गए हैं, निराश हो गए हैं, वे भीतर में समाधान खोजने का प्रयास करें। उनकी निराशा मिट जाएगी। यह विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति ने भीतर में समाधान खोजना प्रारंभ कर दिया, उसकी कोई समस्या ऐसी नहीं होगी जिसका समाधान न हो सके। जो केवल बाहर ही बाहर समाधान खोजते हैं, उनकी सारी समस्याएं समाहित हो जाए, यह कभी संभव नहीं है। हमें बाहर की दुनिया से भीतर की दुनिया में प्रवेश करना होगा। हमें समाधान खोजना होगा, विद्युत के संदर्भ में और रसायनों के संदर्भ में। हमारी प्राण-विद्युत और अंतःस्रावी ग्रंथियों से स्रवित रसायनों में ही हमारे समाधान निहित हैं।

जो प्रेक्षा-ध्यान का अभ्यास करते हैं, उनका यह सूत्र बन जाना चाहिए, यह दृष्टिकोण बन जाना चाहिए कि वे समस्या का समाधान बाहरी वातावरण

में ही नहीं खोजेंगे, भीतर भी उसकी खोज करेंगे, फिर वह समस्या चाहे व्यवहार या आचरण की हो, प्रकृति या स्वभाव की हो। यदि यह दृष्टिकोण निर्मित हो जाता है तो समाधान का पहला सूत्र हस्तगत हो जाता है। वह आदमी मिथ्यादृष्टि वाला होता है, जो बाहर ही बाहर समाधान खोजता है। वह आदमी सम्यक्दृष्टि वाला होता है, जो बाहर भी समाधान खोजता है और भीतर भी समाधान ढूंढता है। ध्यान साधना करने वालों की दिशा बदल जाती है। जो केवल बाहर में ही समाधान खोजने की दिशा थी, वह व्यापक बन जाती है, नई दिशा का उद्‌घाटन हो जाता है, नया आयाम उद्‌घाटित हो जाता है। वह अंतर में प्रवेश करता है और समाधान ढूंढता है।

समाधान है सूक्ष्मतम जगत में

जब भीतर भी समाधान प्राप्त न हो तो व्यक्ति को तीसरी स्टेज पर जाना होगा, वहां समाधान खोजना होगा। जब समाधान बाहर के वातावरण में भी नहीं मिला और अंतर के वातावरण में भी नहीं मिला, रसायनों के वातावरण में भी नहीं मिला, तब मान लेना चाहिए कि बाहरी परिस्थितियों के परिवेश का भी प्रभाव नहीं है और रसायनों के परिवेश का भी प्रभाव नहीं है। वह प्रभाव है अंतर्‌तम के परिवेश का अतः समाधान वहीं प्राप्त हो सकता है। तब समाधान उस सूक्ष्मतम जगत में खोजना होगा।

आयुर्वेद के आचार्यों ने कहा–रोग तीन प्रकार के होते हैं–

1. बाहरी परिस्थिति के निमित्त से होने वाला रोग।
2. वात, पित्त और कफ शरीर के इन तीन दोषों के असंतुलन से होने वाला रोग।
3. कर्मज रोग।

यह तीसरे प्रकार का रोग सूक्ष्म शरीर की बीमारी है। वहां न कोई कीटाणु हैं, न जर्म्स हैं, न वात, पित्त और कफ हैं, कुछ भी नहीं। वह कर्म से उत्पन्न है। वह कर्मज-रोग है, केवल कर्मज-रोग। वह पुराने संस्कारों के कारण उत्पन्न होता है।

अंतर्‌तम का परिवेश है, तीसरा आयाम। हम तीनों आयामों–स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतर में प्रस्थान करें। एक आयाम में हम न अटकें, न उलझें। हम दूसरे आयाम में जाएं और फिर तीसरे में प्रवेश करें। तीनों आयामों में जाकर ही हम अपने व्यक्तित्व को पूरा व्याख्यायित कर सकते हैं और समाधान पा सकते हैं।

12. हृदय-परिवर्तन के सूत्र (1)

विश्व का समूचा विकास, सभ्यता और संस्कृति का पूरा विकास, परिवर्तन का विकास है। जो जैसे है, वैसे ही रहे तो विकास संभव नहीं होता। मेरे सामने लोग कपड़े पहने बैठे हैं। रूई पौधे पर लगी, रूई बनी, धागा बना और कपड़ा बना। रूई पहने हुए कोई नहीं है। सारा परिवर्तन हुआ है। कच्चा माल सामने आया, पक्का बना। रूई से धागा बना, धागे से कपड़ा बना तो कपड़े पहने हुए बैठे हैं। अगर रूई को ही पहने होते तो काम बनता नहीं। धागों को तो पहना ही नहीं जा सकता। कपड़े से सर्दी रुकती है, गर्मी का बचाव होता है, आंधी और वर्षा से बचा जा सकता है। इसके पीछे पूरे परिवर्तन की कहानी है। रोटी खाते हैं, पर कोरे गेहूं नहीं चबाते। कोरे चने नहीं चबाते, रोटी बनाकर खाते हैं। पूरा परिवर्तन होता है। कितना करना पड़ता है? दूध को जमाना पड़ता है। दही को बिलौना होता है, तब मक्खन मिलता है, घी मिलता है। उसके बाद घी खाते हैं, मक्खन खाते हैं। हमारे जीवन की सारी प्रक्रिया, पदार्थ के विकास की सारी प्रक्रिया, परिवर्तन की प्रक्रिया है, बदलाव की प्रक्रिया है। जो जैसे है, वैसे नहीं रहता, हर वस्तु को बदलना होता है।

परिवर्तन का सूत्र

मनुष्य अपनी परिस्थितियों को बदलता है और वातावरण को भी बदलता है। वातावरण को ऐसे ही नहीं छोड़ देता। परिस्थिति को, जो जैसे है, वैसे ही नहीं छोड़ देता, उसे बदलने का प्रयत्न करता है। मनुष्य का पूरा पुरुषार्थ और पूरा प्रयत्न बदलने में लगा है और वह आगे बढ़ा है। यदि बाहरी परिस्थिति को न बदला जाये तो काफी कठिनाइयां झेलनी पड़ती हैं। मनुष्य ने बाहरी परिस्थिति को बदलने का भी उपक्रम किया है, बाहर के वातावरण को भी बदलने की चेष्टा की है। यदि अंधकार को नहीं बदला जाता तो प्रकाश उपलब्ध नहीं होता। प्रकाश से रात में भी दिन हो जाता है। रात में भी दिन

होता है मनुष्य के पुरुषार्थ के द्वारा और बदलने के द्वारा। मनुष्य ने कितने प्रयत्न किए हैं! कभी पत्थरों से आग जलाई, कभी अरणी की लकड़ी से आग जलाई और कभी बिजली जलाई। साधनों के परिवर्तनों के द्वारा वह अंधकार को भी प्रकाश में बदल देता है। अंधकार एक परिस्थिति है। उस परिस्थिति को बदलने का प्रयास किया, प्रकाश उपलब्ध हो गया। बाहरी वातावरण को बदलने का प्रयत्न हुआ है, इसीलिए आदमी गर्मी में सर्दी की स्थिति पैदा कर सकता है। ये सारे पंखे, कूलर इसीलिए तो बने कि गर्मी की परिस्थति को बदल दिया जाए। यह हीटर इसीलिए तो बना कि सर्दी की परिस्थिति को बदल दिया जाए, गर्मी में सर्दी और सर्दी में गर्मी। मौसम की एकरूपता बना दी जाए। यह सारा विकास बदलने का विकास है। मनुष्य ने बाहरी परिस्थिति को बदलने में काफी प्रयत्न किया है। उसने उसे बदला है और बहुत हद तक सफल भी हुआ है। जिसकी संभावना और कल्पना नहीं थी, उस स्थिति को भी वह बदल चुका है और आगे बढ़ रहा है।

दूसरा प्रश्न आता है आंतरिक परिस्थिति को बदलने का। बाहरी परिस्थिति के बदलाव में जितनी सफलता मिली है उतनी सफलता आंतरिक परिस्थिति के बदलाव में अभी नहीं मिली है। रसायनों को बदला जा सकता है। अंतःस्रावी ग्रंथियों से जो झरते हैं वे रसायन बदले जा सकते हैं, किंतु उन्हें बदलने में अभी डॉक्टरों को भी सफलता नहीं मिली है। मेडिकल साइंस में यह माना गया है कि अंतःस्रावी ग्रंथियों के स्रावों में परिवर्तन करने के पर्याप्त साधन अभी उपलब्ध नहीं हुए हैं। उन्हें नहीं बदला जा सकता। भावों को नहीं बदला जा सकता, विचारों को नहीं बदला जा सकता। अभी बड़ी कठिनाइयां हैं। मनुष्य आंतरिक परिस्थिति को बदलने में अपने आपको अक्षम अनुभव करता है और एक बहुत बड़ा बहाना मिल जाता है कि हम क्या करें? बुरे विचार आते हैं पर क्या करें, यह तो नियति की बात है, बुरे भाव आते हैं, हम क्या करें, हमारे वश की बात नहीं। बुरी कल्पनाएं आती हैं, हमारा कोई वश नहीं।

आदमी अपने आपको अवश-सा अनुभव करता है और यह बहाना भी बहुत अच्छा है कि बुरा-अच्छा जो जैसा होता है, वैसा नियति से होता है, भीतर की प्रेरणा से होता है, उसमें हमारा तो कोई नियंत्रण नहीं है। क्यों दोष दिया जाये? एक चोर को क्यों दोषी माना जाए? एक डाकू को, लूटेरे को क्यों दोषी माना जाए? वह बेचारा करता क्या है? जैसे उसकी भीतरी प्रेरणा होती

है, जैसा उसका भीतर का रसायन होता है, वैसा व्यवहार और आचरण उसे करना होता है, तो फिर उसे क्यों दोषी माना जाये? उसकी विवशता है, उसके वश की बात नहीं है। यह एक बहाना मिल जाता है और बहाना खोजना तो आदमी बहुत जानता है। बहाना खोजने में तो आदमी इतना सिद्ध-हस्त है कि हर बात में वह बहाना खोज ही लेता है।

बहाना न बनाएं

एक आदमी बैठा था। गांव में मंदिर बन रहा था। सब लोगों ने निर्णय लिया कि मंदिर बनाना है, पर मजदूरों की जरूरत नहीं। गांव के सब लोग अपना श्रम लगायेंगे और मंदिर का निर्माण करेंगे। सारा गांव मंदिर के निर्माण में जुट गया। एक आदमी निकम्मा बैठा है। दूसरे लोग पहुंचे। उन्होंने कहा–'तुम्हें पता नहीं, मंदिर बन रहा है और सबको काम करना है। चलो, मंदिर के काम में लगें।' वह बोला–'क्या करूं, सबके पेट भरे हैं, पर मेरा पेट खाली है, मैं कैसे काम कर सकता हूं। भला, खाली पेट वाला आदमी कैसे काम करेगा? कैसे अपनी शक्ति लगायेगा? पेट खाली है।' लोगों ने कहा–बेचारा ठीक कहता है, पेट खाली है तो काम कैसे करेगा? श्रमिक को तो और ज्यादा खाने को चाहिये। उसे पेट भरकर रोटियां खिला दी। उसने डटकर रोटियां खा लीं। उसके बाद कहा–चलो, काम में चलें। वह बोला–मैं कैसे जा सकता हूं! मैं तो अब काम नहीं कर सकता। पेट इतना भर गया कि काम करने की स्थिति में नहीं हूं।

पेट खाली है तो भी काम करने की स्थिति में नहीं है, पेट भर गया तो भी काम करने की स्थिति में नहीं है। आदमी बहाना खोज सकता है। दोनों ओर हमारे बहाने हैं। दायें भी बहाना है, बायें भी बहाना है। आगे भी बहाना है और पीछे भी बहाना है। बहाना खोजा जा सकता है। पर जो व्यक्ति विकास करना चाहता है, वह बहानेबाजी नहीं करता, वह प्रयत्न करता है। ऐसे कम लोग होते हैं, जो प्रयत्न करते हैं। गीता का एक बहुत सुंदर वाक्य है–**मनुष्याणां सहस्रेषु, कश्चिद् यतति सिद्धये**–हजारों मनुष्यों में कोई एक ऐसा निकलता है, जो सिद्धि के लिए प्रयत्न करता है। आप यह न मानें कि सिद्धि दुर्लभ होती है। हर आदमी सिद्धि को पा सकता है। हमारे सामने साध्य है, साधन है तो सिद्धि हो सकती है। साध्य, साधन और सिद्धि–यह त्रिवेणी जुड़ी हुई है। इसको अलग नहीं किया जा सकता। जिस आदमी ने कोई साध्य बना लिया, ठीक साधन चुन लिया तो सिद्धि अवश्य मिलेगी। सिद्धि के लिए ज्यादा चिंता की जरूरत

नहीं होती। चिंता करने की जरूरत होती है साध्य और साधन की। सिद्धि तो परिणाम है। वह तो अपने आप होने वाला है। हम परिणाम के लिए सोचते हैं, यह हमारी समझदारी नहीं है। हमें परिणाम की चिंता नहीं करनी चाहिए। अभी-अभी एक भाई मेरे पास आया। आकर बोला कि अमुक बीमारी है। क्या ध्यान करने से लाभ हो सकता है? बहुत बार यह प्रश्न आता है। मैं मन ही मन सोचता हूं और कभी-कभी कहता भी हूं कि यह शिविर-स्थल कोई चिकित्सालय तो नहीं है, हॉस्पिटल तो नहीं है, पर मानता हूं कि जो बीमारियां हैं, वे यहां ठीक हो सकती हैं। मन ठीक है तो बीमारी भी ठीक होने लग जाती है, हो भी जाती है, और हो ही जाती है। तीनों स्थितियां बनती हैं। सबसे पहली बात है कि मन ठीक कैसे बने? हमारी आंतरिक स्थिति कैसे बदले? अगर आंतरिक स्थिति बदलती है तो बाहरी परमाणु भी बदलने लग जाते हैं। समस्या है आंतरिक स्थिति बदलने की। हम बहुत बार बाहर में कारण नहीं खोज पाते, कारण भीतर में होता है।

भय और प्रलोभन

कुत्ता मिला, आदमी दौड़ने लगा। आगे-आगे आदमी दौड़ता है और पीछे-पीछे कुत्ता दौड़ता है। ऐसा एक बार नहीं होता, बहुत बार होता है। खोजा गया कि कारण क्या है? आगे आदमी दौड़ता है और पीछे कुत्ता दौड़ता है। इसका कोई कारण तो होना चाहिए। एक वैज्ञानिक खोज हुई। बड़ी महत्त्वपूर्ण खोज हुई। वैज्ञानिकों का कहना है कि आदमी डर के मारे दौड़ता है, वह कुत्ते से डर कर दौड़ रहा है। जब डर की स्थिति में होती है तो एड्रीनल ग्रंथि बहुत सक्रिय हो जाती है। एड्रीनल का स्राव ज्यादा होने लग जाता है और जैसे ही एड्रीनल ग्रंथि का स्राव ज्यादा होता है तो उसकी गंध चारों तरफ फैलती है। कुत्ता तो गंध को बहुत दूर से पकड़ता है। कुत्ते जितनी प्रबल घ्राणशक्ति किसी की नहीं होती। कुत्ते की घ्राणशक्ति इतनी प्रबल होती है कि वह गंध के सहारे सैकड़ों माइल तक चला जाता है। आज इसीलिए कुत्तों का उपयोग होता है अपराधियों को पकड़ने में, हत्यारों को पकड़ने में और वे पकड़ते हैं। आदमी नहीं पकड़ पाता। कुत्ते पकड़ लेते हैं गंध के सहारे। उसमें गंध-विश्लेषण की शक्ति है। अपराध के स्थान पर जो गंध है, वह किस आदमी की गंध है, उस गंध को पकड़ते-पकड़ते वे कुत्ते अपराधी को पकड़ लेते हैं और अपराधी के पास जाकर घूमने लग जाते हैं, चक्कर काटने लग जाते हैं। बड़ी तेज होती है

उनकी घ्राणशक्ति। आदमी जैसे-जैसे भागता है एड्रीनल ग्रंथि का स्राव ज्यादा होता है। गंध फूटती है और उस गंध के सहारे-सहारे कुत्ता भी दौड़ता है। केवल बाहरी कारण खोजें तो पता नहीं चलेगा। कारण की खोज भीतर में करनी होगी। बाहरी कारण तो ऐसा ही लगता है कि कुत्ता काटने दौड़ता होगा। आदमी इस डर से भागा जा रहा है कि कुत्ता काटने आ रहा है और कुत्ता इस प्रलोभन से भाग रहा है कि बड़ी अच्छी गंध आ रही है। एक के सामने प्रलोभन है, दूसरे के सामने भय।

अपराध क्यों?

दुनिया में दो ही तो अपराध है। एक भय का अपराध और दूसरा प्रलोभन का अपराध। कोई आदमी डर कर काम कर रहा है और कोई आदमी लालच से काम कर रहा है। हमारी प्रेरणाएं, सारी सामाजिक प्रेरणाएं, इन दो सीमाओं में काम कर रही हैं। कुछ लोग डर के मारे काम कर रहे हैं। अगर डर की प्रेरणा समाप्त हो जाये, उनका कार्य भी समाप्त हो सकता है। कुछ आदमी प्रलोभन के वश काम कर रहे हैं। प्रलोभन है कि यह मिल जाये, वह मिल जाये, प्रलोभन से काम कर रहे हैं। ये दोनों प्रेरणाएं काम कर रही हैं।

हमें अपनी परिस्थितियों के भीतरी कारण भी खोजने होंगे। हमारे सारे व्यवहारों के भीतरी कारणों को खोजना होगा। एक आदमी क्रोध कर रहा है। एक आदमी प्रेम प्रदर्शित कर रहा है। एक आदमी भय से भीत हो रहा है, डरा जा रहा है, अकारण ही डरा जा रहा है। एक आदमी गालियां बक रहा है। एक आदमी चुगली कर रहा है। एक आदमी जाने-अनजाने मन से बेचैन हो रहा है। कोई कारण नहीं। उदास, खिन्न, बेचैन, बिना कारण निराश होकर चला जा रहा है। ये जो सारे व्यवहार हैं, इन व्यवहारों की व्याख्या केवल बाहरी परिस्थितियों के आधार पर नहीं की जा सकती। इन सारे व्यवहारों की व्याख्या करने के लिए भीतरी परिस्थितियों को भी जानना जरूरी होता है, किंतु बाहरी परिस्थितियों के साथ-साथ आंतरिक परिस्थितियों को जानना ज्यादा जरूरी होता है। ये सारे व्यवहार बाहरी परिस्थितियों से भी प्रभावित होते हैं, किंतु ज्यादा प्रभावित होते हैं हमारी आंतरिक परिस्थितियों से और जब तक आन्तरिक परिस्थितियों का बोध हमें नहीं होता, तब तक इन व्यवहारों की व्याख्या नहीं हो सकती और उन्हें बदला नहीं जा सकता। हर आदमी बदलना चाहता है, बेचैनी को दूर करना चाहता है, बहुत प्रसन्न रहना चाहता है, निराशा को दूर करना चाहता है,

तनाव को दूर करना चाहता है। डरना कोई नहीं चाहता। एक भाई ने बताया कि मुझे डर लगता है तो सारे डर के ही सपने आते हैं। कभी बाघ दिखता है, कभी शेर दिखता है तो कभी भालू दिखता है, कभी नदी दिखती है। ऐसे लगता है कि नदी में डूबा जा रहा हूं। इतने भयंकर सपने आते हैं। क्या करूं? इन सपनों से अपना पिंड छुड़ाना चाहता हूं। डरना कोई नहीं चाहता है। अपनी कमजोरी दूर करना चाहता है। मनोबल की कमी से बचना चाहता है। मन इतना कमजोर हो जाता है कि हर बात भयंकर लगने लगती है। छोटी-सी समस्या, राई जितनी समस्या होती है, ऐसा पहाड़ खड़ा हो जाता है कि घुटने टिक जाते हैं, पर बदलें कैसे? बदलने की लिये पहले तो आंतरिक परिस्थितियों को जानना जरूरी होता है कि कौन-सी परिस्थिति किस प्रकार के वातावरण का सृजन कर रही है? फिर बदलने का उपक्रम करना जरूरी होता है।

विचारों को बदलें

भाव का परिवर्तन, विचार का परिवर्तन और रसायन का परिवर्तन—ये तीन आंतरिक परिवर्तन हैं। पहले भाव का परिवर्तन करना होगा। भाव बदलेगा तो विचार बदलेगा। विचार से भाव नहीं बनता, किंतु भाव से विचार बनता है। कुछ लोग गलत व्याख्याएं कर देते हैं। मैंने अभी पढ़ा, आज ही पढ़ा कि आदमी का विचार बनता है और विचार से भाव बनता है। बड़ी उल्टी बात हो गई कि पहले बेटा जन्म लेता है और फिर बाप जन्म लेता है। पहले बेटा जन्मेगा और फिर बाप जन्मेगा? यह कैसे संभव होगा? भाव विचार भाव को पैदा करता है। विचार को कैसे पैदा करेगा? भाव हमारे अंतर्तम से आने वाला एक स्रोत है। भीतर से आता है। अच्छा भाव, बुरा भाव, कृष्ण लेश्या का भाव, तेजोलेश्या का भाव और शुक्ल लेश्या का भाव। यह भीतर से आता है। जिस प्रकार का भाव होता है, मन को वही भाव मिलता है और वैसा ही विचार होने लग जाता है। भाव जनक है विचार का, न कि विचार जनक है भाव का। पर गहराई में गये बिना, बहुत बार ऐसा होता है कि कभी-कभी गलत स्थापनाएं भी हम प्रस्तुत कर दिया करते हैं। जब भाव बदलेगा, अंतर्तम बदलेगा तो फिर विचार भी बदलेगा, मन भी बदलेगा और मन बदलता है तो आंतरिक रसायन भी बदलते हैं। रसायनों को बदलने के लिए भावों को बदलना और मन को बदलना, यानी विचारों को बदलना बहुत जरूरी होता है। तीनों का संबंध जुड़ा हुआ है। पीनियल ग्लैंड से, पिच्यूटरी ग्लैंड से एक प्रकार का रसायन स्रवित हो

रहा है। अगर हम भाव का परिवर्तन कर देते हैं तो दूसरे प्रकार का स्राव होने लग जाता है। अगर हम विचार का परिवर्तन करते हैं तो दूसरे प्रकार का स्राव होने लग जाता है। सभी ग्रंथियां प्रत्येक व्यक्ति में होती हैं।

हर व्यक्ति के पास एड्रीनल है, थाइरॉयड है, पिच्यूटरी है, पीनियल है, गोनाड्स है। ग्रंथियां तो सबमें एक प्रकार ही की हैं, पर इसके स्राव एक प्रकार के नहीं होते। हर व्यक्ति के भिन्न-भिन्न प्रकार के स्राव होते हैं। उनसे व्यक्ति का भाव बदलता है, विचार बदलता है। एक व्यक्ति का स्राव दूसरे व्यक्ति से मिलता नहीं है। दो व्यक्तियों के स्राव तो भिन्न होते ही हैं, एक व्यक्ति के स्राव भी भिन्न हो जाते हैं। भगवान महावीर ने लेश्या के सिद्धांत में एक बहुत महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन किया **असंखेज्जाइं ठाणाइं**–लेश्या के असंख्य स्थान होते हैं, एक दो नहीं, हजार नहीं, लाख और करोड़ नहीं, अरब और खरब नहीं, असंख्य। जहां संख्या समाप्त हो जाती है, इतने स्थान होते हैं, इतने उतार-चढ़ाव होते हैं। असंख्य उतार और चढ़ाव। हम जितने प्रकार के भाव करेंगे, हमारे स्राव भी उतने हो जायेंगे। जब लेश्या के असंख्य स्थान हैं तो हमारी ग्रंथियों के रसायन भी असंख्य प्रकार के हो जायेंगे। डाक्टरों ने वर्गीकरण किया है, उनकी गिनती की है कि पिच्यूटरी के स्राव कितने होते हैं? सारी संख्या निर्धारित की है, पर बहुत अधूरी बात है। मेडीकल साइंस में भी यह माना जाता है कि स्राव इतने ही नहीं होते। महावीर की वाणी में भी यह माना जाता है कि स्राव इतने ही नहीं होते, असंख्य प्रकार के हो सकते हैं। जितने भावों के स्राव, उतने ही रसायनों के स्राव। दोनों बराबर होंगे, कोई अंतर नहीं होगा। रसायनों का परिवर्तन करने के लिए परिवर्तन करना होता है विचारों का और विचार का परिवर्तन करने के लिए परिवर्तन करना होता है भावों का। जब भाव-परिवर्तन की कुंजी हमारे हाथ लग जाती है तो आंतरिक-परिवर्तन की दिशा में हमारा प्रस्थान तीव्र गति से होने लग जाता है।

बदलों भावों को

भाव को कैसे बदलें? यह बहुत बड़ा प्रश्न है। परिवर्तन की बात मैंने कह दी और शायद सब लोग भी कहते हैं कि विचारों को बदलो। भावों को बदलो। आखिर बदलें कैसे? प्रश्न तो यह है। यह कहना तो बहुत सरल बात है कि आप अच्छे आदमी बनें, ईमानदार बनें। प्रामाणिक बनें। सच्चे आदमी बनें। बड़े प्रसन्न रहें। अच्छे सिद्धांतों का प्रतिपादन करना इतना सरल है कि

इतना सरल तो रोटी बनाना भी नहीं है। रोटी बनाने में तो बहुत दिक्कतें हैं। बहिनों से पूछा जाये कि रोटी बनाना कितना कठिन होता है? बहुत जटिल काम है रोटी बनाना। भावों का परिवर्तन करें, यह कहना तो बहुत सरल है। सिद्धांत का प्रतिपादन कम्प्यूटर और टेपरेकार्ड भी कर सकता है। दोहराना है। कठिनाई क्या होगी? लिखा है, पढ़ा है। दोहराना है। बहुत सरल बात है, किंतु परिवर्तन कैसे करें, यह एक जटिल प्रक्रिया है। बहुत महत्त्वपूर्ण बात तो यही है कि परिवर्तन आखिर कैसे करें? वहां हमें आंतरिक परिस्थिति में जाना होगा। जब रसायनों को बदलना है, अंतःस्रावी ग्रंथियों के रसायनों को बदलना है, जो हमारे व्यवहार को प्रभावित करते हैं तो हमें एक प्रक्रिया में से गुजरना होगा। वह एक अनुस्यूत प्रक्रिया कहा जाता है। आश्रव को बदले बिना भावों को नहीं बदला जा सकता। पुरानी भाषा समझने में कठिनाई होती है। दो हजार, तीन हजार वर्ष के बाद भाषा और शब्द इतने बदल जाते हैं कि उसमें छिपा हुआ तत्त्व हमारी पकड़ में नहीं आता, समझ में नहीं आता।

आदमी वर्तमान की भाषा से बहुत परिचित होता है। वर्तमान की शब्दावली का अर्थ उसे ज्ञात होता है। वह उसे सहजता से पकड़ सकता है। पुरानी बात सीधी पकड़ में नहीं आती। ध्यान के द्वारा हमें यही खोजना होगा कि पुरानी शब्दावली में जो सत्य खोजा गया था और बताया गया था, उस सत्य को आज की भाषा मे कैसे ढाल सकें, कैसे पकड़ सकें और कैसे प्रस्तुत कर सकें। यह स्पष्ट है कि ध्यान एक बहुत बड़ा माध्यम है खोज का, अंतर की खोज का, छिपे हुए तत्त्व के प्रकाशन का। जो बात छिप गई, गूढ़ बन गई, गुप्त हो गई, उस गूढ़ बात को गूढ़ता से ही खोजा जा सकता है, गुप्ति को गुप्ति से ही खोजा जा सकता है। यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है कि गुप्ति की खोज गुप्ति से ही की जा सकती है। गुप्ति का अर्थ है छिपा हुआ। जो सत्य गुप्त हो गया, उसे खोजना है। एक शस्त्र का नाम भी है गुप्ति। नाम ही गुप्ति है। दीखने में डंडा-सा लगता है और भीतर तेज शस्त्र छिपा हुआ रहता है। सामान्य आदमी देखकर उसे कैसे पहचाने कि डंडा है या शस्त्र? अब गुप्ति को कैसे खोजा जाये? कैसे पता लगाया जाये? गुप्ति को खोजने के लिए गुप्ति करनी जरूरी है। गुप्तियां तीन हैं शरीर की गुप्ति, वाणी की गुप्ति और मन की गुप्ति। शरीर को गुप्त किया, वाणी को गुप्त किया और मन को गुप्त किया, तीनों को इस चंचलता की सीमा से हटकर एकाग्रता की सीमा में प्रविष्ट कर दिया, गुप्ति हो गई और गुप्ति के द्वारा गुप्ति को खोजने में सुविधा हो गई। चंचलता के

द्वारा आज तक कोई सत्य नहीं खोजा गया। दुनिया में जितना सत्य खोजा गया, अचंचलता के द्वारा खोजा गया। चाहे वैज्ञानिक सत्य हो, चाहे दार्शनिक सत्य हो, चाहे व्यावसायिक सत्य हो जिन मनुष्यों ने सत्य की खोज की है, जिन्होंने कुछ खोजा है, उन्होंने एकांत की स्थिति में खोजा है, निर्विचारता की स्थिति में खोजा है। बड़े-बड़े वैज्ञानिक-सत्य निर्विकल्पता की स्थिति में ही खोजे गये हैं।

सत्य का दर्शन

आइंस्टीन से पूछा गया–'सापेक्षता का सिद्धांत' आपने कैसे खोजा? उन्होंने कहा–'मुझे नहीं पता। एक दिन मैं उद्यान में टहल रहा था। अचानक मुझे अनुभव हुआ कि मन की गहनता में कुछ उतर रहा है।' क्या न्यूटन ने गुरुत्त्वाकर्षण का सिद्धांत किसी विचार से खोजा था? कोई विचार नहीं था, केवल दर्शन से खोजा। देख रहा था, देखा, सेब का गिरना देखा और सिद्धांत अंतर्तम में उतर गया। ये जितनी बड़ी खोजें होती हैं, उतरती हैं, ये विचार से नहीं आती। विचार करते-करते तो आदमी थक जाता है, हैरान हो जाता है। विचार तो तनाव पैदा करता है और तनाव से भरा हुआ आदमी सत्य को कैसे खोज पायेगा? जब आदमी तनाव से मुक्त होता है, उस समय में ऐसी कोई आंतरिक स्फुरणा होती है कि बड़ी से बड़ी बात अचानक सरलता से सामने आ जाती है।

आंतरिक परिस्थिति को बदलने का पहला सूत्र है चंचलता को दूर करना। चंचलता एक आश्रव है। सबसे बड़ा आश्रव, सबसे दूरगामी आश्रव। प्रमाद समाप्त हो जाता है, कषाय समाप्त हो जाता है, प्रिय और अप्रिय का भाव समाप्त हो जाता है, पर चंचलता समाप्त नहीं होती।

चंचलता कब समाप्त होगी?

एक बहुत मनोरंजक प्रश्न गौतम ने पूछा भगवान से–'भंते!' जो वीतराग बन गया, अप्रमत्त और अकषाय बन गया, सर्वज्ञ बन गया, सब कुछ जानता है, उस केवली ने एक हाथ रखा, आंगन पर। क्या दूसरी बार उसी स्थान पर वह अपना हाथ रख सकता है?

भगवान ने कहा 'नहीं।'

बड़ी अजीब बात है, जो आंगन के कण-कण को जानता है, अणु-अणु को जानता है, केवली से अपने हाथ का एक भी अणु छिपा नहीं, पहली बार हाथ रखा, दूसरी बार उसी स्थान पर वह हाथ नहीं रख सकता? कितना अजीब

प्रश्न है! कितना अजीब उत्तर दिया महावीर ने–'नहीं रख सकता।' बात समझ में नहीं आई।

गौतम ने फिर पूछा–'भंते! यह कैसे? केवली कैसे नहीं रख सकता? एक छद्मस्थ है, असर्वज्ञ है, अवीतराग है, जिसमें कषाय है, प्रमाद है, भूल कर सकता है, विस्मृति हो सकती है, अज्ञान के कारण उस स्थान का ठीक पता नहीं लगा सकता, पर केवली कैसे नहीं रख सकता?'

महावीर ने उत्तर दिया–'वह जानता तो है, पर चंचलता अभी तक समाप्त नहीं हुई है। शरीर मौजूद है। जब तक यह शरीर है, शरीर की सूक्ष्मतम क्रियाएं हैं, तब तक चंचलता है। शरीर की चंचलता समाप्त नहीं हुई, इसलिए केवली सब कुछ जानता हुआ भी दूसरी बार उसी स्थान पर हाथ नहीं रख सकता।'

हमारी चंचलता अंतिम समय तक रहती है। सारी स्थितियां समाप्त हो जाती हैं, सारे व्यवधान समाप्त हो जाते हैं, दृष्टिकोण भी मिथ्या नहीं रहता, सम्यक् दृष्टिकोण बन जाता है, अतृप्ति भी समाप्त हो जाती है, अविरति समाप्त हो जाती है, प्रमाद भी समाप्त हो जाता है, कषाय, राग और द्वेष, प्रियता और अप्रियता के संवेदन भी समाप्त हो जाते हैं, इन सबके समाप्त हो जाने पर भी जब तक शरीर की चंचलता समाप्त नहीं होती, तब तक पूरा काम नहीं बनता, सिद्धि नहीं मिलती। साध्य और साधना मिल जाने पर भी तब तक सिद्धि नहीं मिलती, जब तक चंचलता समाप्त नहीं होती।

परिवर्तन : चेतना का

हम यदि आंतरिक अवस्था का परिवर्तन चाहते हैं तो हमें साध्य का निश्चय करना होगा, साधना का निश्चय करना होगा। सिद्धि के लिए चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं है। वह तो स्वयं होने वाली है। हमारा साध्य होगा परिवर्तन। यानी परिस्थिति का परिवर्तन और चेतना का परिवर्तन। परिस्थिति को बदलना, आंतरिक वातावरण को बदलना और चेतना को बदलना। परिस्थिति बदलेगी तो चेतना तो अपने आप बदली हुई है। चेतना में जितने भी दोष आये हैं, सारे परिस्थिति के कारण आये हैं। परिस्थिति बदल जायेगी तो चेतना स्वतः प्रकट हो जायेगी। दूसरे शब्दों में कह दें कि बदल जायेगी। वास्तव में बदलना कुछ भी नहीं है। वह तो जैसी है वैसी रहेगी, पर जो निमित्त के कारण कुछ हुआ था, वह बदल जाएगा। तर्कशास्त्र का एक नियम है–**निमित्ताऽभावे नैमित्तिकस्याप्यभावः**–निमित्त का अभाव होने पर

नैमित्तिक का भी अभाव हो जाता है। निमित्त बदलेगा तो जिस निमित्त से चेतना की अवस्था बदली थी वह अवस्था भी बदल जाएगी, चेतना अपने आप में प्रतिष्ठित हो जायेगी।

हमारा साध्य है चेतना का परिवर्तन और आंतरिक निमित्तों का परिवर्तन। साधन होगा–चंचलता का परिवर्तन। पहला साधन है एकाग्रता, स्थिरता। यह सबसे पहला साधन होगा। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास शुरू किया और यदि शरीर की उतनी ही चंचलता, वाणी की उतनी ही चंचलता और मन की उतनी ही चंचलता बनी रही, कोई भी परिवर्तन शुरू नहीं हुआ तो मान लेना चाहिए कि ध्यान की पकड़ हुई नहीं, ध्यान पकड़ में नहीं आया। परिवर्तन शुरू होना चाहिए। यह तो मैं नहीं कहता कि एक दिन में ही स्थिरता के सर्वोच्च बिंदु तक पहुंच जाएं, पर कुछ न कुछ परिवर्तन शुरू हो जाना चाहिए। जैसे मन की चंचलता में परिवर्तन होता है, वैसे ही वाणी की चंचलता में भी परिवर्तन होना चाहिए। बिना बोले जो बेचैनी आती थी, वह थोड़ी तो कम होनी चाहिए। बिना बोले उमस आती थी और जी में घबराहट होने लगती थी, उसमें थोड़ा बहुत तो परिवर्तन शुरू होना चाहिए। बिना बोले भी रहा जा सकता है। मुनि हो या गृहस्थ, चंचलता की बीमारी सबको सताती है। यह बड़ी भयंकर बीमारी है, बड़ी दूर तक जाने वाली बीमारी है। यह साधु बन जाने मात्र से छूट जाने वाली बीमारी नहीं है और यह अंत तक साथ रहने वाली बीमारी है। अतः पहला साधन होगा चंचलता की कमी।

परिवर्तन का दूसरा साधन होगा–प्रिय-अप्रिय संवेदनों में कमी करना। यह बहुत महत्त्वपूर्ण साधन है। यदि चीनी में भी उतना ही रस, नमक में भी उतना ही रस, खाने में भी उतना ही रस, नींद में भी उतना रस–ये सारे रस बने रहे, प्रिय-अप्रिय संवेदनों में परिवर्तन नहीं आया, लड़ाई में भी उतना ही रस, उत्तेजना में भी उतना ही रस–ये सारे रस बने रहे तो ध्यान का अभ्यास नीरस लगेगा, फीका लगेगा। खाना, पीना, सोना, लड़ना, झगड़ना-ये बड़े रसवान लगेंगे। ऐसा रस टपकेगा कि वैसा रस अन्यत्र दुर्लभ है। सारे रस बदलने चाहिए। हमारा दूसरा साधन होगा कि जो रसवान है, उसमें नीरसता का अनुभव जागे और जो नीरस नीरस सा लग रहा है, उसमें उस का अनुभव जागे, रस की चेतना जागे। यह रस का परिवर्तन, आकर्षण का परिवर्तन बहुत महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है।

13. हृदय-परिवर्तन के सूत्र (2)

अभी हम लोग मंदिर के प्रांगण में बैठे ध्यान कर रहे थे। ध्यान करते समय मेरे मन में एक प्रश्न उठा–इतना प्रयत्न क्यों? इतना समय क्यों लगायें? क्या होगा? क्या करना है? केवल एक ही काम करना है मन को सुलझाएं। समस्याएं बहुत हैं। हमारी यथार्थ की दुनिया में असंख्य समस्याएं हैं और हम केवल मन के पीछे दौड़ लगा रहे हैं। इसका परिणाम क्या होगा? फिर समाधान मिला कि सारी समस्याओं से बड़ी समस्या है चंचलता। एक माता ने कहा 'मेरा बेटा बहुत चंचल है।' चंचल बेटा माता के लिए परेशानी का कारण बनता है। वह माता को परेशान कर देता है। माता चाहती है चंचलता मिटे।

चंचलता बुरी बात ही नहीं होती, चंचलता जरूरी भी होती है। यदि पेड़ न हिले, पत्तियां न हिलें तो गर्मी का अनुभव होगा। पत्तियां हिलती हैं, मन में संतोष होता है कि हवा चल रही है और ठंड लग रही है। यदि मन न चले, बड़ी समस्या हो जाती है। मौन करना बहुत अच्छा है, पर यदि बच्चा बोलना शुरू नहीं करता तो माता-पिता सब चिंतित हो उठते हैं कि दो वर्ष का हो गया, तीन वर्ष का हो गया, अभी बोल नहीं रहा है। डॉक्टरों के चक्कर लगने शुरू हो जाते हैं।

चंचलता बेकार ही नहीं होती उसका भी अपना उपयोग होता है। शरीर न चले, बड़ी परेशानी हो जाती है। यदि अंगुली न हिले, पैर न हिले तो आदमी सोचता है कि क्या हो गया? कहीं पक्षाघात तो नहीं हो गया? बड़ी कठिनाई हो जाती है। बहिन ने ध्यान किया और ध्यान की गहराई में चली गई। जब ध्यान पूरा हुआ पैर नहीं हिले, हाथ नहीं हिले, आस-पास वाले लोग घबड़ा गए। क्या हो गया? कुछ भी नहीं हुआ था, पर चंचलता बहुत जरूरी मानी जाती है। चंचलता व्यर्थ नहीं पर उस का एक निश्चित बिंदु है। एक सीमा तक चंचलता जरूरी है और उस सीमा के बाद चंचलता को कम करें और इसीलिए करें कि हमारा साध्य सिद्ध हो सके।

चंचलता या स्थिरता

मन की ज्यादा चंचलता होती है तो साध्य सिद्ध नहीं होता। हृदय-परिवर्तन हमारा साध्य है। हम हृदय को बदलना चाहते हैं। जब तक चंचलता कम नहीं होती, हृदय का परिवर्तन कैसे होगा? एक बात कही, यह काम करो, यह मत करो। बात सुन ली, पर मन इतना चंचल है कि तरंगें उठीं, इतनी तरंगें उठीं कि जो सिद्धांत पढ़ा था, जो बात सुनी थी, वह तो कहीं रह गई, चंचलता की ओट में छिप गई और आदमी कहीं आगे चला गया। कोई भी सिद्धांत तब तक क्रियान्वित नहीं होता, जब तक चंचलता कम नहीं हो जाती। कोई भी समस्या तब तक समाधान नहीं पा सकती, जब तक हमारी चंचलता कम नहीं हो जाती। उस भूमिका के लिए आज बात नहीं कर रहे हैं, जहां पूर्ण स्थिरता प्राप्त हो जाती है। एक वर्ष तक हिले-डुलेंगे नहीं, प्रतिमा की भांति, बाहुबली जैसे एक वर्ष तक कायोत्सर्ग की मुद्रा में खड़े रहे, वैसे के वैसे खड़े हो जाएंगे, फिर चाहे आंधी आए, तूफान आए, वर्षा आए, सर्दी हो, गर्मी हो, चाहे लताएं उग जाएं और चाहे पक्षी घोंसला बना लें, हम तो खड़े के खड़े रहेंगे, अडोल मूर्ति की भांति। यह असंभव कल्पना होगी। हर आदमी बाहुबली नहीं हो सकता, उतना स्थिर नहीं हो सकता। हम यह प्रयत्न नहीं कर रहे हैं कि मन बिल्कुल समाप्त हो जाए, अमन बन जाए। अमन बनना तो अच्छा है।

उर्दू की शब्दावली में अमन बहुत अच्छा है और संस्कृत की शब्दावली में भी अमन होना बड़ा अच्छा है। मन न होना, मन समाप्त हो जाना, किंतु बड़ी मुश्किल हो जाएगी, अगर अभी आप अमन बन जाएं। यदि अमन बन जाएं तो शिविर के बाद कोई स्थिति नहीं होगी। न सोच सकेंगे, न कल्पना कर सकेंगे, न याद कर सकेंगे। न पत्नी की याद होगी, न घर की याद होगी, न रास्ते की याद होगी। सारी यादें समाप्त। अमन होना कोई सहज साधना नहीं है, बड़ी कठिन साधना है। अगर हो जाए तो सारी जीवन की धारा बदल जाती है। अमन होने से गृहस्थ अवस्था में रहने वाला तो बड़ी कठिनाई का अनुभव करने लग जाता है। मन ही समाप्त हो गया, फिर क्या करें? थोड़ी स्मृति कम होती है तो चिंता हो जाती है कि याद बहुत कम रहती है। बड़ी परेशानी होती है तो भला, पूरा अमन बन जाए, तब तो परेशानी का पहाड़ खड़ा हो जाएगा। बड़ी कठिनाई है। न अवाक्, न अमन और न अशरीर। तीनों संभव नहीं हैं, फिर भी हम प्रयत्न करते हैं। हमारा पुरुषार्थ सारा का सारा इस दिशा में लग रहा है।

सब काम छोड़कर यहां बैठे हैं और सारी प्रक्रिया इस दिशा में चल रही है कि मन की चंचलता कम हो, वाणी की चंचलता कम हो, शरीर की चंचलता कम हो। कायोत्सर्ग का अभ्यास, मौन का अभ्यास और एकाग्रता का अभ्यास-यह हृदय-परिवर्तन का पहला सूत्र है।

हृदय परिवर्तन

हम बहुत बार कहते हैं कि हृदय-परिवर्तन होना चाहिए। दंड-शक्ति का प्रयोग नहीं होना चाहिए, बल का प्रयोग नहीं होना चाहिए, हृदय बदलना चाहिए। हृदय को बदले बिना समस्या का समाधान नहीं होता। हृदय-परिवर्तन की बात तो बहुत करते हैं। सैद्धांतिक चर्चा में हमारा रस है पर क्या यह संभव है? प्रयोग किए बिना, अभ्यास किए बिना, हृदय बदल जाएगा? लोग मानते हैं, हिंसा से कुछ नहीं होना-जाना है। हिंसा बहुत खराब है। अहिंसा होनी चाहिए। हृदय बदलना चाहिए, पर हृदय बदलेगा कैसे? आपने चंचलता कम करने के लिए कोई अभ्यास ही नहीं किया, चंचलता को मिटाने का कोई प्रयोग ही नहीं किया तो हृदय कैसे बदल जाएगा? क्या कोरी बातें सुनते-सुनते हृदय बदल जाएगा? अगर बातें सुनते-सुनते, सिद्धांतों की चर्चा करते-करते हृदय बदलता तो आज सारा संसार अहिंसक बन जाता और सारी समस्याएं समाधान पा लेतीं, पर ऐसा होता नहीं है। यह हमारा मोह है, भ्रम है कि केवल सिद्धांत और तत्त्व चर्चा के आधार पर हृदय बदलना चाहते हैं और हिंसा से अहिंसा की प्रतिष्ठापना करना चाहते हैं, किंतु अहिंसा की प्रतिष्ठा तब तक नहीं हो सकेगी, जब तक चंचलता को कम करने का अभ्यास नहीं किया जायेगा।

निकम्मापन और ध्यान

बहुत लोग अहिंसा के विकास की बात सोचते हैं। वे चाहते हैं और हृदय से चाहते हैं कि अहिंसा का विकास हो, आत्मानुशासन का विकास हो, उनकी प्रतिष्ठा बढ़े और सारा संसार अहिंसा और आत्मानुशासन के मार्ग पर चले। उनकी चाह बुरी नहीं है। चाह का अनुमोदन करना चाहता हूं, पर यह बहुत स्पष्ट है कि केवल चाह से, केवल सिद्धांत से न हुआ, न होगा। न भूतम्, न भविष्यति। न अतीत में हुआ, न भविष्य में होगा। हमें एक मार्ग पर चलना होगा। वह मार्ग है चंचलता को कम करने का मार्ग। पहला मार्ग या साधन है चंचलता को कम करने का अभ्यास। कुछ लोग कहते हैं, ध्यान से क्या होना-जाना है? कोई काम करें। ध्यान से क्या होगा? बहुत अच्छी बात है, ध्यान से

कुछ भी नहीं होगा, क्योंकि प्रत्यक्षतः हमें यही दीखता है। करते तो कुछ भी नहीं, कोई उत्पादक श्रम नहीं, न रसोई बनाते हैं, न कपड़ा बुनते हैं, न और कोई काम करते हैं। कोई श्रम तो नहीं करते। केवल एक घंटा भर बैठ जाते हैं, निकम्मे ही तो ठहरे! काम कहां रहा? आखिर निकम्मे ही रहे। तो सहज ही प्रश्न होगा, ये लोग निकम्मे बैठे क्या कर रहे है? काम तो वे लोग करते हैं, जो मजदूर हैं, कड़ी धूप में श्रम कर रहे हैं। काम वे लोग करते हैं जो ऑफिस में बैठे हैं और पांच, सात, आठ घंटा लेखनी चलाते रहते हैं। ध्यान करने वाले तो कुछ भी नहीं करते। चंचलता काम है और अचंचलता निकम्मापन है, स्थिर होकर बैठना निकम्मापन है। जब तक इस मिथ्या दृष्टिकोण का निरसन नहीं होगा, तब तक समाज की समस्या का समाधान नहीं होगा। हमें सत्य को खोजना होगा। सत्य को खोजे बिना, सत्य को उपलब्ध किए बिना हमारी समस्याएं नहीं सुलझ पाएंगी। सत्य यही है कि हमारे जीवन में निकम्मेपन का और काम करने का संतुलन होना चाहिए। निकम्मा बैठना, चंचलता को कम करना, यह काम करने का सबसे बड़ा सूत्र है। कार्य की सफलता का सूत्र है निकम्मा हो जाना। वास्तव में ही निकम्मा हो जाना।

नदी के पार कुछ लोग आए। नौका को छोड़ा और पूछा—गांव कितनी दूर है? लोगों ने बताया—चार मील। दो आदमी थे। एक के पास तो घोड़ा था, एक को पैदल चलना था। एक आदमी ने पूछा—भई! सांझ तक पहुंचना है, पहुंच जाएंगे? बहुत समझदार आदमी था, जिससे पूछा गया। उसने कहा—'धीमे-धीमे चलोगे तो पहुंच जाओगे।' अब जिसके पास घोड़ा था, वह धीमे क्यों चलता? जिसके पास घोड़ा नहीं था, वह धीमे चलने लगा। जिसके पास घोड़ा था, वह तेज दौड़ने लगा। चार माइल का रास्ता, ऊबड़-खाबड़ पथरीली भूमि, कंटीला मार्ग, झाड़-झंखाड़ और बीच-बीच में दलदल वाला। कीचड़, बहुत कीचड़। घोड़ा बहुत तेज दौड़ने लगा और आदमी, जो पैदल था धीमे-धीमे संभल-संभल कर चलने लगा। घोड़ा तेज रफ्तार से दौड़ा जा रहा है। चलते-चलते ऐसा दलदल आया कि घोड़े के पैर फिसले, घोड़ा गिरा, आदमी गिरा और उसी दलदल में उलझ गया। जो पैदल चल रहा था, वह बहुत संभल-संभल कर धीमे-धीमे चल रहा था, सांझ होते-होते अपने गांव पहुंच गया और घोड़े वाला दूसरे दिन सूर्योदय तक भी नहीं पहुंच पाया।

गणित की भाषा तो यही है कि जिसके पास तेज गति वाला घोड़ा है, वह

तो चार माइल, दस-बीस मिनट, आधा घंटे में पहुंच जाएगा। जो आदमी पैदल चल रहा है, उसे चार माइल पहुंचने में घंटा भर भी लग जाएगा। हम गणित की भाषा में सोचें तो घोड़े वाला पहले पहुंचेगा और पैदल चलने वाला बाद में पहुंचेगा, किंतु हमारे जीवन की भाषा में सब जगह गणित नहीं चलता। गणित भी बहुत बार व्यर्थ हो जाता है।

यथार्थ की भाषा में देखा जाएतो धीमे-धीमे चलने वाला तो पहुंच जाता है और बहुत तेज चलने वाला लड़खड़ा जाता है, बीच में ही रुक जाता है। कोरा काम करने की बात है, कोरी चंचलता की बात है, यह गणित की भाषा में तो समस्या का समाधान लगती है, किंतु यथार्थ यह है कि जिस व्यक्ति ने चंचलता को कम करना नहीं सीखा, जिस व्यक्ति ने संभल-संभल कर चलना नहीं सीखा, उसके रास्ते में ऐसे अवरोध आते हैं कि वह लड़खड़ा जाता है और बीच में नई-नई समस्याएं पैदा कर लेता है। एक के बाद दूसरी और दूसरी के बाद तीसरी समस्या-समस्या का ऐसा लंबा जाल हो जाता है कि वह बीच में ही लटकता रह जाता है। चंचलता को कम करना, लगता है कि निकम्मापन है, पर कार्य की सफलता का सबसे बड़ा सूत्र है यह। जिस व्यक्ति ने अपनी चंचलता को कम किया है, वह कार्य में ज्यादा सफल हुआ है। दस घंटा का काम पांच घंटे में निपटाया जा सकता है, यदि हमारी एकाग्रता है। यदि हमारी एकाग्रता नहीं है तो दो घंटे का काम आठ घंटे में भी नहीं निपटता और आठ दिन में भी नहीं निपटता। बातें चलती हैं, गप्पे चलती हैं, मन कहीं डोलता रहता है, काम वहीं का वहीं रह जाता है, कोरी लकीर रह जाती है, सारे चित्र गायब हो जाते हैं। बड़ी समस्या पैदा होती है। जिस व्यक्ति ने चंचलता को कम करने का अभ्यास नहीं किया, वह हृदय-परिवर्तन को समाहित नहीं कर सकता और उस भूमिका तक नहीं पहुंच सकता।

समता का विकास

दूसरा सूत्र है प्रिय-अप्रिय संवेदनों की कमी। इसका तात्पर्य है समता का विकास, सामायिक का विकास। सामायिक का विकास महत्त्वपूर्ण विकास है। सामायिक करना कोई साधारण घटना नहीं है। दाल-रोटी नहीं है कि जब चाहे, खा लें। बहुत संयम करना होता है सामायिक में। हमारे दाएं हाथ की ओर प्रियता की धारा बह रही है, हमारे बाएं हाथ की ओर अप्रियता की धारा बह रही है। हमारी दाईं आंख प्रियता को देख रही है। हमारी बाईं आंख अप्रियता

को देख रही है। इन दोनों धाराओं के बीच में चलना, दोनों धाराओं से बचकर चलना, दाएं को भी देखना और बाएं को भी देखना और फिर दोनों के प्रभाव से बचकर चलना, कितनी कठोर साधना होती है? यह समता की साधना बहुत कठोर साधना है। उपवास करना इतना कठिन काम नहीं है। भूखे रहना इतना कठिन काम नहीं है। पानी न पीना भी इतना कठिन काम नहीं है, जितना कठिन है इन प्रिय और अप्रिय संवेदनों से बचकर रहना। इनमें मन उलझ जाता है, बड़ी समस्या होती है। जब ध्यान के द्वारा, कायोत्सर्ग के प्रयोग के द्वारा समता का विकास होता है, समता की चेतना जागती है, प्रिय-अप्रिय संवेदनों से मुक्त रहकर समता के क्षणों का अनुभव किया जाता है तो हृदय-परिवर्तन की बात आगे बढ़ जाती है। प्रिय-अप्रिय संवेदनों से बचना सहज सरल नहीं है। प्रियता की बात बार-बार सामने आती है। अपना प्रिय व्यक्ति आया और जो कुछ करना है, कर दिया जायेगा, न न्याय का प्रश्न, न अन्याय का प्रश्न। इतना पक्षपात हो जाता है कि सारी बात धूमिल हो जाती है। सारे तर्क, सारी बुद्धि अपने प्रिय के समर्थन में लग जाती है। जहां प्रियता के समर्थन में बुद्धि, तर्क और शक्ति का प्रयोग होने लगता है, वहां सामायिक खंडित हो जाती है, समता टूट कर चूर-चूर हो जाती है। बुद्धि, तर्क और शक्ति का प्रयोग जब अप्रियता के निरसन में लगता है, उसके खंडन में लगता है, तब भी हमारी सामायिक चकनाचूर हो जाती है। इस स्थिति में हम कैसे कल्पना कर सकते हैं कि हृदय-परिवर्तन हो सकता है?

अहिंसा : समता

अहिंसा जीवन में उतर सकती है, असंभव नहीं है। अभ्यास करना होगा। समता का अभ्यास किये बिना हृदय-परिवर्तन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। ध्यान की साधना समता की साधना है। जो व्यक्ति ध्यान की साधना कर लेता है, वह सहज भाव से समता की भूमिका पर चला जाता है। लोग कहते हैं कि ध्यान में बैठना निकम्मा काम है, पर ध्यान में बैठे बिना, ध्यान का प्रयोग किये बिना कोई भी आदमी न्याय नहीं कर सकता, कोई भी आदमी पक्षपात से मुक्त होने का विश्वास नहीं दिला सकता। यदि मेरे प्रति दूसरों के मन में यह भावना हो कि अमुक व्यक्ति पक्षपात कर रहा है तो विश्वास टूट जायेगा, कोई विश्वास नहीं रहेगा। जब-जब समस्या को सुलझाने के लिए मध्यस्थता की बात होती है तो सबसे पहले देखा जाता है कि वह व्यक्ति

मध्यस्थ है या नहीं, पक्षपात से मुक्त है या नहीं? पक्षपात से ग्रस्त व्यक्ति को कोई भी मध्यस्थ नहीं बनाता। स्वयं पक्षपात में रत रहने वाला व्यक्ति भी पक्षपात करने वाले को अपना मध्यस्थ नहीं बनाता। बड़ी विचित्र बात है कि मैं पक्षपात में रहता हूं, पर मुझे किसी को मध्यस्थ बनाना है तो मैं सबसे पहले यह देखूंगा कि अमुक पक्षपात करने वाला तो नहीं है न? जब मुझे भरोसा होगा कि अमुक पक्षपात नहीं करता तो उसे मध्यस्थ बनाने की बात सोच सकता हूं।

हृदय-परिवर्तन का दूसरा महत्त्वपूर्ण साधन है समता का अनुभव, समता का विकास और वह इस निकम्मेपन से ही पैदा होता है। इस निष्क्रियता, ध्यान में होने वाली अक्रियता, क्रियाशीलता का अभाव या चालू भाषा में निकम्मापन होता है, तभी इस स्थिति का निर्माण होता है। ऐसा किये बिना, राग-द्वेष-मुक्त क्षण का अनुभव किये बिना, कोई भी व्यक्ति मध्यस्थ बन सके, समता में उतर सके, सम्भव नहीं लगता। श्वास-प्रेक्षा में बार-बार कहा जाता है–केवल श्वास का अनुभव करना राग-द्वेष-मुक्त क्षण का अनुभव करना है। श्वास के प्रति न राग हो, न द्वेष हो। चित्त निर्विकल्प रहे, विकल्पशून्य रहे। यह विकल्पशून्य होना राग-द्वेष-मुक्त क्षण में जीना है। यह राग-द्वेष-मुक्त क्षण में जीना ही सामायिक है, समता है, मध्यस्थता है और यह निकम्मापन जीवन की हजारों जटिल समस्याओं से मुक्ति दिलाने वाला, हजारों उलझे हुए कामों को संपादित करने वाला है।

विकास जागरूकता का

हृदय-परिवर्तन का तीसरा सूत्र है जागरूकता। दुनिया में जितना भय है, वह प्रमाद से पैदा होता है। महावीर की वाणी में **सव्वतो पमत्तस्स भयं**–जो प्रमत्त है, उसे चारों दिशाओं से भय होता है। ऊपर, नीचे, दायें, बायें और आगे-पीछे-सब ओर से भय होता है। जागरूक व्यक्ति को कभी भय नहीं होता। मंडल-ब्राह्मणोपनिषद में एक प्रसंग आता है। वहां बतलाया गया है कि शरीर के पांच दोष होते हैं–काम, क्रोध, निःश्वास, भय और निद्रा। वहां पांचों का उपचार भी बतलाया गया है। कोरे दोष बतलाने से काम नहीं चलता। पांचों की चिकित्सा भी बतलाई गई है। पांच उपाय बतलाये गये हैं।

पहला दोष है काम। काम को कम करने का, काम को निरस्त करने का उपाय है–असंकल्प। संकल्प न करना काम को जीतने का उपाय है। अगस्त्यचूर्णि में एक बहुत महत्त्वपूर्ण श्लोक मिलता है–

काम! जानामि ते रूपं, संकल्पात् किल जायसे।
न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि॥

'काम! मैं तेरा स्वरूप जानता हूं। तू संकल्प से पैदा होता है। मैं संकल्प नहीं करूंगा, मैं कल्पना नहीं करूंगा। तू पैदा ही नहीं होगा। बीज ही नहीं बोऊंगा, उगेगा ही नहीं।'

काम को निरस्त करने का उपाय है–असंकल्प।

दूसरा दोष है क्रोध। क्रोध को निरस्त करने का उपाय है क्षमा, सहिष्णुता का विकास। लड़ोगे तो क्रोध होगा। आदमी क्रोध से लड़ता है। क्रोध तो महाराक्षस है, महादैत्य है, जैसे लड़ोगे, वैसे बढ़ता चला जायेगा। लड़ो मत। सहिष्णुता का विकास करो। निषेधात्मक मार्ग पर मत चलो, विधायक मार्ग को स्वीकार करो। सहिष्णुता का विकास करो, क्रोध निरस्त हो जायेगा।

तीसरा दोष है–निःश्वास लेना, छोटा श्वास लेना, ज्यादा श्वास को बाहर फेंकते रहना। इसका उपाय है–लघु आहार। बड़ा अटपटा लगेगा आपको। भला कम खाना और निःश्वास को चिकित्सित करना, उसे निरस्त करना कैसे हो सकता है? जो ज्यादा पेट भर खा लेते हैं, वे हांफने लग जाते हैं। हांफने का अर्थ है–छोटे श्वास लेना। इस दोष को, बीमारी को मिटाने का उपाय है–लघु आहार। कम खाओ, श्वास बिल्कुल संतुलित चलेगा। ज्यादा खाने वाला छोटा श्वास लेता है, कम खाने वाला लंबा श्वास लेता है। छोटा श्वास लेने वाला शक्ति को खर्च कर देता है और लंबा श्वास लेने वाला शक्ति का भंडार भर लेता है। निःश्वास की बीमारी का इलाज है लघु आहार।

चौथा दोष है प्रमाद। प्रमाद का इलाज है अभय। प्रमाद भय पैदा करता है। भय से प्रमाद बढ़ता है। उसका इलाज है भयमुक्त होना। जो आदमी जागरूक है, जिसने सचाई को समझा है, उसके लिए भय की जरूरत क्या है?

जो जीना जानता है

यूनान का बादशाह एक दिन अपने वजीर से रुष्ट हो गया। राजा का रोष और राजा का तोष–दोनों ही बड़े खतरनाक होते हैं। राजा एक ऐसी अजीब वस्तु बन गई कि उसका राजी होना भी खतरनाक है और नाराज होना तो खतरनाक है ही। उससे दूर रहना सबसे अच्छा होता है। दूर रहने का तात्पर्य है मध्यस्थ रहना, सामायिक में रहना। राजा नाराज हो गया। वजीर था सर्वेसर्वा।

बहुत अधिकार संपन्न, सारे राष्ट्र का काम देखने वाला। राजा रुष्ट हुआ तो ऐसा रुष्ट हुआ कि वजीर को फांसी का हुक्म दे दिया। सारे शहर में तहलका मच गया। जिस दिन फांसी का हुक्म हुआ, वह वजीर का जन्म-दिन था। वजीर का जन्म-दिन मनाया जा रहा था। गाजे, बाजे और नाच हो रहे थे। सैकड़ों लोग परिवार के तथा मित्र, सुहृद्–सब इकट्ठे हो रहे थे। पूरा मेला-सा लग रहा था। बीच में ही एक आदेश पहुंचा कि आज शाम को वजीर को फांसी लगा दी जाये। सारा गाना बंद हो गया, नाचना बंद हो गया, बाजे बंद हो गए, हर्ष और उल्लास जो बरस रहा था, सारा बंद हो गया। दुःख छा गया, शोक छा गया। सारे लोग बड़े उदास हो गये। वजीर ने देखा और पूछा–अरे! यह क्या? बाजे क्यों बंद कर दिए? नाचना क्यों बंद हुआ? मित्रों ने कहा–'शाम होते-होते आपको फांसी लगनी है। हम तो शोक में डूब गये, फिर ये कैसे चले?' वजीर बोला–'मूर्ख हो तुम सब। मरना है तो उदास होकर क्यों मरना है? मरना है तो क्या दुःखी होकर मरना है? सब चालू करो। फिर नाचना, गाना, बजाना चालू कर दिया। वैसा का वैसा, जैसा पहले चल रहा था। उसके मन में कोई चिंता नहीं, कोई उदासी नहीं, कोई भय नहीं। एक शिकन भी चेहरे पर नहीं पड़ी। जैसे का तैसा। बादशाह ने पता करवाया कि क्या हो रहा है? जन्म-दिन मनाया जा रहा था, उत्सव किया जा रहा था, रंग-राग हो रहा था। अब तो मातम छा गया होगा? क्या हो रहा है, पता नहीं। फांसी की कोई बात ही नहीं है। वहां तो राग-राग, अठखेलियां हो रही हैं। ऐसा उत्सव मनाया जा रहा है, जैसे कोई आज ही जन्मा हो, बहुत प्रतीक्षा के बाद बच्चा जन्मा हो। सचमुच ऐसा हो रहा है। कुछ भी शोक नहीं है। बादशाह ने अपने सिर पर हाथ रखा और कहा–जो जीना जानता है, उसे मारने से क्या लाभ? फांसी का आदेश रद्द कर दिया कि वजीर को मारने का कोई अर्थ ही नहीं। उस व्यक्ति को तो मारने में मजा आता है, जो जीना नहीं जानता। जो जीना जानता है, उसे मारने में भी कोई मजा नहीं आता। मारकर ही क्या करेंगे? फांसी टल गई।

जो अभय की साधना कर लेता है, अप्रमत्त बन जाता है, जिसे किसी भी घटना का भय नहीं होता, वह वास्तव में अहिंसा को उपलब्ध हो सकता है, हृदय-परिवर्तन को उपलब्ध हो सकता है। अहिंसा की साधना में भगवान महावीर ने सबसे ज्यादा बल अभय पर दिया था। उन्होंने कहा कि जो अभय नहीं हो सकता, वह अहिंसक नहीं हो सकता। जो अभय नहीं हो सकता, वह

साधना-शुद्धि का प्रयोग नहीं कर सकता। जो अभय नहीं हो सकता, उसका हृदय-परिवर्तन नहीं हो सकता। जागरूकता का सबसे बड़ा परिणाम होता है अभय। भय को और प्रमाद को मिटाने का सबसे बड़ा सूत्र है अभय होना।

हृदय-परिवर्तन के सूत्र

हृदय-परिवर्तन के तीन सूत्रों–एकाग्रता, समता और जागरूकता का अभ्यास किये बिना ये स्थितियां निर्मित नहीं होती। जागरूकता का विकास एक क्षण में नहीं हो जाता। जागरूकता कोई आकाश से चू नहीं जाती, टपक नहीं जाती। उसका अभ्यास करना होता है। समता और एकाग्रता का भी अभ्यास करना होता है। ध्यान करने वाले को बाहर से देखकर लगता है कि आदमी निकम्मा बैठा है, पर भीतर में तो एक बड़ी ज्योति जल रही होती है। बड़ा पुरुषार्थ चलता है। बड़ा प्रयत्न चलता है। आंतरिक प्रयत्न, आंतरिक ज्योति और अंतर का पुरुषार्थ काम करता रहता है। अभ्यास करते-करते समता जाग जाती है, जागरूकता और एकाग्रता बढ़ जाती है।

सांझ के समय गमन-योग हो रहा था। बाहर से भाई आये हुए थे। उन्होंने कहा–'ये सब लोग भोजन पचाने के लिये चल रहे हैं, घूम रहे हैं।' मैंने कहा–इतना खाया ही नहीं कि चलकर जाना पड़े। इतना मिला ही नहीं बेचारों को कि जिसके लिये दौड़-धूप कर पचाना पड़े। ये सब चलते हुए भी ध्यान का प्रयोग कर रहे हैं कि केवल चलें, केवल चलें। चलते जायें, चलते जायें, चलने का अनुभव करें, केवल चलने का अनुभव। न कोई चिंतन, न कोई विकल्प, न कोई स्मृति, कुछ भी नहीं, केवल चल रहा हूं। पैर उठ रहा है। दायां पैर उठा, बायां पैर उठा, केवल चलने की स्मृति, केवल एक ही स्मृति और सारी स्मृतियां समाप्त हो जायें। यह गमन-योग है, यह जागरूकता का प्रयोग है। यह भावक्रिया है। जिस समय जो काम करे, उस समय उसी का अनुभव रहे। चलते समय चलने का अनुभव, बोलते समय बोलने का अनुभव, बैठते समय बैठने का अनुभव, हाथ उठे तो हाथ के उठने का अनुभव और हाथ नीचे आये तो हाथ नीचे आने का अनुभव, सोये तो सोने का अनुभव, खाये तो खाने का अनुभव।

जब इस जागरूकता का निर्माण होता है, तब भय को घुसने को मौका ही नहीं मिलता। भय तब घुसता है, जब आदमी मूर्च्छा में होता है। आदमी नींद में होता है तो भय भी सताने लगता है, भूत भी सताने लग जाता है। भूत डरे हुए आदमी को सताता है। जो डरता नहीं, उससे भूत स्वयं भाग जाता है।

वहां आकर क्या करेगा बेचारा? उसे तो चाहिए शरण। रहने को मकान चाहिए और मकान भी वह, जहां भय का वातावरण बना हुआ हो। अभय में आयेगा तो स्वयं डर जायेगा। डरा हुआ आदमी भूतों के द्वारा पकड़ा जाता है। अभीत आदमी कभी भूतों द्वारा पकड़ा नहीं जाता।

भावक्रिया

अमूर्च्छा और जागरूकता जैसे-जैसे बढ़ती है, हम अपनी हर क्रिया के प्रति सावधान हो जाते हैं। विचार के प्रति जागरूक, वाणी के प्रति जागरूक, शरीर की क्रिया के प्रति जागरूक–जब तीनों कर्मों के प्रति जागरूक बन जाते हैं, फिर कोई भी बुरा विचार सहजतया नहीं घुस पाता। जैसे ही कोई बुरे विचार की तरंग उठनी शुरू होगी, पता लग जाएगा। पता लगा, मालिक जागा और चोर भागा। जैसे ही कोई क्रोध का विचार आया, अहंकार का विचार आया और आप जाग गये उस विचार के प्रति, अपने आप तरंग वहीं शांत हो जाएगी। हम वाणी के प्रति जागरूक बनें, फिर मुंह से कोई बुरा शब्द नहीं निकल पाएगा, गाली नहीं निकल पाएगी और जो बात नहीं कहनी है, वह शब्द भी नहीं निकल पाएगा। वहीं अपने आप संयम हो पाएगा। हम अपने शरीर के प्रति जागरूक बन गए, क्रिया के प्रति जागरूक बन गए, फिर कोई भी कदम ऐसा नहीं उठेगा कि जो अन्यायपूर्ण हो सके। हाथ का उपयोग है; बहुत उपयोगी है, पर हाथ का उपयोग चांटा जड़ने में भी होता है, हाथ का उपयोग धक्का-मुक्का में भी होता है। पैर का उपयोगी भी मारने में होता है, और-और कामों में भी होता है, किंतु जब हम अपने शरीर के प्रति जागरूक बन गए तो ये सारे उपयोग समाप्त हो जाते हैं। केवल जो होना चाहिए, वही शेष रहता है।

हृदय-परिवर्तन को यदि हम वास्तव में चाहते हैं, हमारी निष्ठा है, अहिंसा का विकास चाहते हैं तो निश्चित ही हमें अभ्यास करना होगा। अभ्यास के बिना न जागरूकता बढ़ेगी, न समता की चेतना जागेगी और न एकाग्रता ब़ढ़ेगी। आज इसीलिए धर्म प्रभावहीन बन गया कि कोरा सिद्धांत रह गया, प्रयोग छूट गया, अनुभव छूट गया। कोरा तर्क रह गया, अनुभव समाप्त हो गया। धर्म को फिर से तेजस्वी बनाने के लिए, धर्म को फिर से शक्तिशाली और उपयोगी बनाने के लिए बहुत जरूरी है कि सिद्धांत और प्रयोग–दोनों का योग हो। सिद्धांत और अभ्यास–दोनों का योग होने पर ही धर्म तेजस्वी बनेगा, धर्म के प्रति लोगों का विश्वास बढ़ेगा और धार्मिक व्यक्तियों का जीवन यथार्थ होगा।

14. हृदय-परिवर्तन के सूत्र (3)

एक बच्चा जन्म लेता है तब सबसे पहले उसका संपर्क वस्तु-जगत से होता है। हमारा सारा जीवन वस्तु के आधार पर चलता है। पदार्थ को छोड़कर जीवन की कोई व्याख्या नहीं की जा सकती। भोजन, पानी, कपड़े, मकान, जितनी दृश्य-वस्तुएं, जितनी सेव्य-वस्तुएं हमारे सामने हैं, उनका सेवन होता है, दर्शन होता है। होते-होते आदमी पदार्थमय बन जाता है। पदार्थ के प्रति इतना गहरा आकर्षण पैदा हो गया उसमें कि चैतन्य की बात विस्मृति में चली गई। पदार्थ बहुत साफ दीखता है। चैतन्य दिखाई नहीं देता। पदार्थ की उपयोगिता बहुत साफ है। चैतन्य की उपयोगिता प्रकारांतर से होती है। पदार्थ के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है। चैतन्य के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक जैसा नहीं रहा। हमारा आकर्षण का केन्द्र-बिंदु है पदार्थ और वस्तु। इस आकर्षण ने एक बाधा उपस्थित कर दी। हमारा साध्य था हृदय-परिवर्तन। वह कुछ धूमिल बन गया। हम चाहते हैं आदमी का हृदय बदले, परिवर्तन आए, चेतना का रूपांतरण हो। हिंसा का भाव छूटे, आक्रमण का भाव छूटे, उपद्रव का भाव छूटे, असत्य न बोले, प्रामाणिक रहे, चोरी न हो, डकैती न हो। अनावश्यक संग्रह न हो। ब्रह्मचर्य की चेतना जागे। यह सब हम चाहते हैं। हर धर्म का आदमी चाहता है।

मूल्यपरक बने जीवन

सामाजिक क्षेत्र में काम करने वाले लोग भी चाहते हैं। वे यह नहीं चाहते कि लूट-खसोट चले, बेईमानी चले, झूठ चले। ये तो सामाजिक मूल्य हैं। जितने धार्मिक मूल्य हैं, उतने सामाजिक मूल्य भी हैं। कोई भी समाज हिंसा, उपद्रव, आक्रमण, लूट-खसोट, चोरी, बेईमानी के आधार पर कभी शिष्ट समाज नहीं बनता। इस दृष्टि से कहा जा सकता है, इन सारे गुणों का जितना धार्मिक मूल्य है उतना सामाजिक मूल्य भी है। आध्यात्मिक मूल्य तो है ही, पर इन गुणों का अवतरण नहीं हो रहा है। इनके प्रति आकर्षण पैदा नहीं हो रहा

है। क्यों नहीं हो रहा है, इसकी हम चर्चा कर रहे हैं। सत्य के प्रति, ईमानदारी के प्रति आकर्षण नहीं हो रहा है, इसका मूल कारण है कि मनुष्य में पदार्थ के प्रति आकर्षण अतिरिक्त हो गया है। यदि आकर्षण संतुलित हो, पदार्थ का आकर्षण और चैतन्य का आकर्षण, बाहरी आकर्षण और भीतरी आकर्षण–दोनों में संतुलन बना रहे तो समाज में गड़बड़ियां नहीं होतीं, ये अराजकता की स्थितियां पैदा नहीं होतीं, ये भ्रष्टाचार और अनाचार नहीं होते, किंतु वह संतुलन बिगड़ गया और इसलिए बिगड़ा कि पदार्थ के प्रति अतिरिक्त आकर्षण मनुष्य में पैदा हो गया। जब अतिरिक्त आकर्षण हो जाता है तो जरूर संतुलन बिगड़ जाता है। एक बहुत बड़ी बाधा है वस्तु के प्रति होने वाला आकर्षण, बाहरी आकर्षण। इसे आगम की भाषा में कहा जाता है अविरति, अव्रत की भावना। मनुष्य बदलना चाहता है। वह अव्रत को-वस्तु के प्रति होने वाले आकर्षण को छोड़ना भी चाहता है, किंतु चाह का जो मार्ग है, वह अटपटा-सा लगता है। एक प्रथा चल पड़ी, हर धर्म के साथ जुड़ गई कि आकर्षण तो भीतर विद्यमान है, पर आदमी बाहर से उसे छोड़ देता है। शाब्दिक प्रत्याख्यान भी कर देता है, त्याग भी कर देता है और भीतर का आकर्षण बना रहता है। वही दुविधा हमारी है।

एक आदमी सिगरेट पी रहा था। नली बहुत लंबी थी। एक हाथ से भी ज्यादा। किसी ने पूछा 'अरे भई! सिगरेट पीते हो, इतनी लंबी नली क्यों?' वह बोला 'मैंने स्वास्थ्य-रक्षा में पढ़ा है कि नशीली वस्तुओं से दूर रहना चाहिए। इसे निकट कैसे ला सकता हूं।'

आकर्षण कहां?

आदमी दूर रहना चाहता है। दूर भी रहेगा, किंतु नली लगा लेगा। ऐसी नलियां होती हैं, ऐसी गलियां निकलती हैं कि आकर्षण यथावत रह जाता है। जब भीतर का आकर्षण नहीं बदलता, तब या तो नलियां निकल जाती हैं या गलियां निकल जाती हैं। रास्ता साफ नहीं होता। आवश्यकता है अभ्यास के द्वारा आकर्षण का रूपांतरण हो, रस-परिवर्तन हो, रस बदल जाये और भीतर का रस भी थोड़ा जाग जाए। जब भीतर का रस जागेगा तो बाहर का रस अपने आप कम होने लग जाएगा। आज ही प्रातःकाल चैतन्य-केन्द्रों का ध्यान करने के बाद हम लोग भीतर गए। एक भाई मेरे पास आया। उसने कहा–आज मुझे इतना आनंद आ रहा है कि उसे मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकता। अभी तो जैसे पूरा शरीर आनंद से सराबोर हो रहा है। अणु-अणु में आनंद टपक रहा

है, झलक रहा है, मैं बता नहीं सकता। मैंने देखा कहते-कहते उसकी आंखें भीग रही थी, गीली हो रही थी और हर्षाश्रु की वर्षा हो रही थी। जब भीतर का रस जागता है, भीतर का आनंद जागता है, जब भीतर की चेतना के स्पंदन, भीतर की तेजोलेश्या के स्पंदन और आनंद के स्पंदन जागते हैं तब आदमी को पता चलता है कि हमारी दुनिया में केवल वस्तु ही सुख देने वाली नहीं है, वस्तु ही आनंद देने वाली नहीं है, किंतु हमारे शरीर के भीतर ऐसे परमाणु हैं, ऐसी शक्तियां हैं, जो वस्तु से ज्यादा सुख और आनंद देने वाली हैं, किंतु यह अनुभव अभ्यास के बिना नहीं हो सकता। आप ध्यान की चर्चा करते-करते हजार वर्ष बिता दें, पूरे हजार वर्ष बीत जायें, फिर भी इसका अनुभव नहीं हो सकता। यह अनुभव अभ्यास और प्रयोग के द्वारा ही हो सकता है। जिस व्यक्ति ने प्रयोग किया है ध्यान का, जिस व्यक्ति ने भीतर की गहराइयों में जाने का अभ्यास किया है, वही व्यक्ति जान सकता है कि भीतर में कितना आनंद है! कैसा आनंद है? उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

जब तक इस आकर्षण का परिवर्तन नहीं होता, तब तक चंचलता बढ़ती रहेगी। चंचलता क्यों बढ़ती है? इसीलिए कि भीतर से करंट आ रहा है। पंखा घूम रहा है तेज। क्यों घूम रहा है? इसीलिए कि करन्ट आ रहा है। जब स्विच ऑन होता है और करंट आता है तो पंखा बेचारा घूमेगा ही। मन तो बेचारा घूमेगा ही। वह कैसे रुकेगा? इस वस्तु-जगत का इतना तेज धक्का लगता है कि बेचारे मन को चक्कर लगाने पड़ते हैं। मन इसीलिए चक्कर लगा रहा है कि आकर्षण का धक्का उसे लग रहा है। वस्तु का आकर्षण-यह चाहिए, वह चाहिए, का ऐसा तेज धक्का लगता है कि बेचारा मन दौड़ता-फिरता है, चक्कर लगाता फिरता है। इस आकर्षण की दुनिया में बड़ी अजीब स्थितियां पैदा हो जाती हैं।

बदला आकर्षण इलायचीकुमार का

पुराने जमाने की एक घटना है। एक नट नाच कर रहा था। बड़ा कुशल था। नाम था इलायचीकुमार। था कोई श्रेष्ठिपुत्र। बड़ा धनाढ्य, किंतु आकर्षण ही तो सब विकृतियां पैदा करता है। वह एक नट-कन्या के प्रति आकृष्ट हो गया। आकर्षण जुड़ गया। घर छोड़ दिया। परिवार छोड़ दिया। संपत्ति छोड़ दी। वह नटों के साथ रहने लगा। नट बन गया। बड़ा कुशल नट बना।

नाटक करने राजसभा में गया। राजा बैठा है। पूरी परिषद बैठी है। सभा जुड़ी हुई है। नाटक करना है। इलायचीकुमार बांस पर चढ़ा। उसने ऐसे करतब दिखाए कि सारी सभा मुग्ध हो गई। राजा नाटक नहीं देख रहा था। राजा का

ध्यान नीचे खड़ी नट-कन्या के प्रति चला गया। वह भी आकृष्ट हो गया। उसका आकर्षण वहां जुड़ गया। सारे लोग तालियां बजा रहे थे। वाह! साधुवाद! धन्यवाद! आवाजें निकल रही थीं। सबका आकर्षण था इलायचीकुमार के प्रति, किंतु राजा का आकर्षण था उस नट-कन्या के प्रति। राजा ने सोचा जब तक यह नट है, तब तक यह नट-कन्या मुझे नहीं मिल सकती। यह मर जाए तभी प्राप्त हो सकती है। पूरा एक प्रहर तक नाटक किया। बांस पर, रस्सियों पर, पतले-पतले धागों पर, इतना भयानक करतब किया कि आदमी के पल-पल में मरने की आशंका होती है। बड़ा कुशल था। शरीर सधा हुआ था। वह नीचे उतरा। उसने सोचा–राजा बहुत प्रसन्न होगा। दान मिलेगा। राजा के सामने आया। राजा बोला–'नट! तूने करतब तो दिखाए, पर मुझे अच्छा नहीं लगा, संतोष नहीं हुआ। अगर तेरी कला है तो और दिखा। नहीं तो कुछ नहीं मिलेगा।' इलायचीकुमार को बहुत निराशा हुई। उसने सोचा–'मैंने इतने करतब दिखाए, अद्‌भुत करतब दिखाए, पर राजा को पसंद नहीं आए। राजा को पसंद कैसे आए? राजा का तो आकर्षण कहीं और जुड़ा हुआ था।

नट दूसरी बार चढ़ा। पूरे एक प्रहार तक फिर नाटक दिखाया। दो प्रहर बीत गया, फिर नीचे उतर कर राजा के पास आया। राजा ने कहा–तूने श्रम तो किया, कुछ ठीक-ठीक हुआ है, पर मुझे तो पसंद नहीं आया। अब क्या करे? बेचारा परेशान हो गया। नट-मंडली ने कहा भई! एक बार जाओ। राजा को प्रसन्न तो करना होगा। जब तक राजा प्रसन्न नहीं होगा, राजा प्रथम दान नहीं देगा, तब तक अन्य किसी का दान नहीं हो सकता। हमारा किया कराया सब व्यर्थ चला जाएगा। जो कुछ भी हो, एक बार तुम फिर कौशल दिखाओ। तीसरी बार फिर इलायचीकुमार ऊपर चढ़ा, विचित्र करतब दिखाए। सारी परिषद झूम उठी। चारों ओर वाह-वाह हो रही थी, किंतु राजा पर तो कोई असर नहीं हुआ। पूरे प्रहर तक बेचारे ने श्रम किया। नीचे उतरा। राजा ने फिर वैसे ही कहा–भई! मुझे तो अच्छा नहीं लगा। पसंद नहीं आया। बिना पसंद आए दान कैसे मिल सकता है? वह थक गया। चलो, आज व्यर्थ ही सही। कोई बात नहीं। नहीं मिला तो न सही, पर अब मैं नहीं चढ़ूंगा। नट-कन्या ने आखिर भारी अनुरोध किया। उसकी पत्नी ने भारी अनुरोध किया कि एक बार तो फिर जाओ। चौथा प्रहर अभी बाकी है। एक बार फिर जाओ। वह क्या करे? बेचारा गया। थक कर चूर-चूर हो रहा था। पुनः करतब दिखाने लगा। दिखाते-दिखाते कोई ऐसा विचित्र योग मिला कि उसका भाव परिवर्तित हो गया वहीं। उसे पता लग गया

कि दान मिलने वाला नहीं है। मैं तो राजा को करतब दिखा रहा हूं और राजा कोई दूसरा ही करतब देख रहा है। काम कोई बनने वाला नहीं है। वहीं इतनी विरक्ति हुई, इतनी विरक्ति कि नीचे उतरा, बिना दान मांगे चल पड़ा। आकर्षण बदल गया। जो आकर्षण था उस कन्या के प्रति, जो आकर्षण था नाटक के प्रति, जो आकर्षण था करतब दिखाने के प्रति, एक ऐसा मोड़ आया कि आकर्षण बदला और प्रस्थान कर दिया महायात्रा के लिए। उसका अभिनिष्क्रमण हो गया।

आकर्षण से कठिनाइयां

हमारे जीवन में ये आकर्षण कठिनाइयां पैदा करते हैं। हर आकर्षण एक खतरा पैदा करता है। मैं यह कहना नहीं चाहता कि सब आकर्षणों को समाप्त कर दें। चाहूं तो भी कैसे कहूं? कहने की बात नहीं है। यह तो नहीं कहता कि जीवन नीरस बन जाए। जीवन के सारे रस समाप्त हो जाएं। अगर मैं कहूं भी तो आप कब मानेंगे? समाज का प्राणी, गृहस्थ जीवन को जीने वाला प्राणी इस बात को कब स्वीकार करेगा कि हमारे जीवन के सारे आकर्षण, हमारे जीवन के सारे रस समाप्त हो जाएं। विकर्षणता का जीवन जीएं, नीरसता को जीवन जीएं। यह बात स्वीकार नहीं होगी, किंतु इतना कहने में मुझे कोई कठिनाई नहीं लगती कि जब तक आकर्षण का संतुलन नहीं होगा, अच्छा सामाजिक जीवन भी नहीं जिया जा सकेगा। जब तक आकर्षण का संतुलन नहीं होगा, अच्छा गृहस्थ का जीवन भी नहीं जिया जा सकेगा। जैसे बाहर के प्रति हमारा आकर्षण है, वैसे ही भीतर के प्रति भी बराबर हमारा आकर्षण बने, फिर जीवन में हिंसा रह सकती है, पर अनावश्यक हिंसा समाप्त हो जाएगी। आज की सबसे बड़ी समस्या अनर्थ हिंसा की समस्या है, अनावश्यक हिंसा की समस्या है। जीवन में हिंसा आवश्यक होती है। हिंसा अनिवार्य होती है। उसके बिना जीवन नहीं चलता, किंतु क्या आदमी आवश्यक हिंसा ही करता है। प्रायोजनिक हिंसा ही करता है? व्यर्थ की हिंसा नहीं करता? अनावश्यक हिंसा नहीं करता? मैं मानता हूं यदि लेखा-जोखा किया जाए तो आवश्यक हिंसा पचीस प्रतिशत होती है तो पचहत्तर प्रतिशत हिंसा जीवन में अनावश्यक और व्यर्थ की चलती है। आदमी ऐसे निकम्मे काम भी बहुत करता है जिनका प्रयोजन नहीं होता, जिनकी कोई आवश्यकता नहीं होती, कोई उपयोगिता नहीं होती। यह अनावश्यक हिंसा इसलिए चलती है कि आदमी में चंचलता है, प्रिय-अप्रिय संवेदन है, प्रमाद है और बाहरी वस्तु के प्रति आकर्षण है। ये चार कारण हैं, इसलिए अनावश्यक हिंसा चलती है। इनके स्थान पर संतुलन

किया जाए, चंचलता के स्थान पर एकाग्रता का विकास किया जाए, चंचलता को कम किया जाए, प्रिय-अप्रिय संवेदनों के स्थान पर समता का विकास किया जाए, प्रमाद के स्थान पर जागरूकता का संतुलन पैदा किया जाए और बाहरी आकर्षण के साथ भीतरी आकर्षण भी पैदा किया जाए। इन चारों का संतुलन होगा तो अनावश्यक हिंसा समाप्त हो जाएगी। फिर आक्रमण समाप्त हो जाएगा, बेईमानी समाप्त हो जाएगी।

संतुलन चाहिए

आज उपदेश दिया जाता है कि प्रामाणिक बनो, अप्रामाणिक काम मत करो, मिलावट मत करो, नकली और असली का योग मत करो, धोखाधड़ी मत करो—ये सारी बातें बतलाई जाती हैं। आदमी सुनता भी है। सुनने में अच्छी भी लगती है, पर करते समय आदमी बेईमानी भी करता है, झूठ भी बोलता है, दूसरे को धोखा भी देता है, जानते हुए देता है। किसी का गला काटने में भी संकोच नहीं करता। कोई कितना ही दुःख पाए, तनिक भी मन में करुणा नहीं जागती। प्रश्न होता है कि जानते हुए ऐसा क्यों होता है? ऐसी कौन-सी प्रेरणा है जिससे आदमी अच्छाइयों को जानते हुए भी बुराइयों में प्रवृत्त रहता है और बुरे आचरण करता रहता है? प्रश्न का उत्तर मिलता है कि आदमी में वस्तु के प्रति अतिरिक्त आकर्षण है। संतुलन बिगड़ा हुआ है। मन का संतुलन ठीक नहीं है। जिसका मानसिक संतुलन ठीक नहीं होता, वह गालियां भी बक सकता है, चांटा भी मार सकता है, उपद्रव भी कर सकता है क्योंकि बेचारे का संतुलन ठीक नहीं है। वह विक्षिप्त है, पागल है। इतना ज्यादा आकर्षण हो गया, वस्तु के प्रति कि वस्तु चाहिए। जब वस्तु मिलती है तो वस्तु के लिए ये सारे काम किए जा सकते हैं और वस्तु न मिले तो उसके लिए सारी कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं। वस्तु के प्रति जब तक इतना आकर्षण है, तब तक हृदय-परिवर्तन की बात नहीं सोची जा सकती। हृदय-परिवर्तन के लिए हमें सचाई को देखना होगा।

एक आदमी ने लालटेन जलाई अंधकार को मिटाने के लिए। दूसरा आदमी आया, लालटेन को ठोकर लगा दी। वह लुढ़क गई। उसका कांच फूट गया। वह बोला कोरी लालटेन जलाने से ही काम कैसे चलेगा? आंख चाहिए लालटेन को देखने के लिए।

लालटेन का प्रकाश है, आग का प्रकाश है, दीये का प्रकाश है, बिजली का प्रकाश है, सूरज का प्रकाश है, चांद का प्रकाश है। सबका प्रकाश है, पर एक आंख का प्रकाश यदि नहीं है तो सारे के सारे प्रकाश अंधकार में बदल

जाते हैं। कोई फर्क नहीं पड़ता। सबसे बड़ा है हमारी आंख का प्रकाश जो प्रकाश को पकड़ सके, प्रकाश को ग्रहण कर सके। जब प्रकाश को ग्रहण करने वाला प्रकाश नहीं होता तो सारे प्रकाश अंधकार में बदल जाते हैं।

भीतर का प्रकाश

जब तक यह भीतर की चेतना नहीं जागती, ध्यान की चेतना नहीं जागती, ध्यान का प्रकाश प्रस्फुटित नहीं होता तो बाहर के प्रकाश, सिद्धांतों के प्रकाश– ये सारे प्रकाश अंधकार में बदल जाते हैं। चाहे फिर वह महावीर के सिद्धांत का प्रकाश हो, चाहे बुद्ध के सिद्धांत का प्रकाश हो, चाहे कृष्ण के सिद्धांत का प्रकाश हो, चाहे दुनिया के किसी महापुरुष या अवतार के सिद्धांत का प्रकाश हो। कितना ही बड़ा सिद्धांत हो, सूरज हो, चांद हो, आंख के बिना सारी बातें व्यर्थ हो जाती है। चाणक्य ने ठीक कहा था

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा, शास्त्रं तस्य करोति किम्?
लोचनाभ्यां विहीनस्य, दर्पणः किं करिष्यति?

जिसकी अपनी प्रज्ञा नहीं है, उसके लिये शास्त्र क्या करेगा? शास्त्रों में तो बहुत अच्छे बातें लिखी हुई हैं और शास्त्रों में जितनी बातें लिखी हुई हैं, उनके अनुसार आज आदमी चलता तो समाज का रूप ही दूसरा होता। आदमी का चित्र ही दूसरा बनता। यह टेढ़ी-मेढ़ी लकीरें नहीं खिंचतीं तो आदमी का इतना भव्य चित्र बनता कि देखते ही बनता! पर आज आदमी का चित्र सुंदर नहीं है। बहुत सुंदर नहीं है क्योंकि शास्त्रों में तो बहुत अच्छी बातें हैं पर अपनी प्रज्ञा जागृत नहीं है तो शास्त्र उसके लिए कुछ भी काम नहीं देते। बहुत सुंदर उपमा से उपमित किया है विषय को कि लोचनाभ्यां विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति? आदमी दर्पण के सामने जाकर खड़ा होता है, उसमें अपना मुंह देखता है। देख लेता है। दर्पण के सामने तो जाकर खड़ा हो गया, पर खड़ा होने वाला है अंधा। दर्पण बेचारा क्या करेगा? वह कुछ भी नहीं कर पाएगा। दर्पण को देखने के लिए भी आंख चाहिए।

जरूरत है आंख की। हमारी सम्यक् दृष्टि की आंख खुल जाए। उल्टा चलता हूं अब। पहले चला था कि चंचलता से कषाय, कषाय से प्रमाद और प्रमाद से अव्रत। अब इस क्रम से चलें, हमारी सम्यक्दृष्टि की आंख खुले, सम्यक्दृष्टि की आंख जागे। जब सम्यक्दृष्टि की आंख खुल जाती है तो आकर्षण का परिवर्तन हो जाता है। फिर वस्तु-जगत के प्रति हमारा उतना आकर्षण नहीं होता, जितना कि मिथ्या-दृष्टि व्यक्ति में हो सकता है। जिसका

दृष्टिकोण मिथ्या है, उसका वस्तु के प्रति अतिरिक्त आकर्षण होगा और वह वस्तु को शरण मान बैठेगा कि बस इसके सिवाय दुनिया में कोई शरण नहीं है। अंतिम शरण तो धन है। आदमी यही तो सोचता है कि बूढ़ा हो जाऊंगा, बीमार हो जाऊंगा, कोई काम करने वाला नहीं रहेगा, उस समय धन ही काम आएगा। केवल धन काम आएगा, पर कभी-कभी ऐसा होता है कि जो धन काम देने वाला होता है वह धन आत्महत्या और अपघात का कारण भी बन जाता है, मर्डर का कारण भी बन जाता है। जब दूसरों को पता चल जाता है कि बूढ़ा आदमी है, अंधा आदमी है, पैसा पास में बहुत है, ऐसे तो मिलेगा नहीं, हत्या कर दो, सब कुछ हाथ लग जाएगा। पता नहीं लगता तब तो ठीक है, पता लगते ही आपदाओं का पहाड़ ढह पड़ता है उस पर। बड़ी कठिनाइयां पैदा हो जाती हैं।

दृष्टि सम्यक् बने

यह वस्तु के प्रति जो शरण की भावना और त्राण की भावना पैदा होती है, वह सम्यक्दृष्टि आते ही बदल जाती है। वह सोचने लग जाता है कि शरण मिलेगी, त्राण मिलेगा तो अपने भीतरी आकर्षण से मिलेगा, बाहरी आकर्षण से नहीं मिलेगा। जब तक यह बाहर का स्वाद रहेगा, बाहर का उपभोग रहेगा तब तक त्राण नहीं मिलेगा और ही कुछ मिलेगा। यह सारा स्वाद आकर्षण के कारण बनता है। स्वाद हमारे जीवन का बहुत बड़ा विघ्न है। जिस व्यक्ति ने अस्वाद की साधना कर ली, उसने बहुत सारी समस्याओं का पार पा लिया। महात्मा गांधी ने अपने ग्यारह व्रतों में एक व्रत रखा था। अस्वाद व्रत। बहुत ठीक शब्द का चुनाव किया था–अस्वाद। केवल खाने का स्वाद नहीं होता। स्वाद बहुत सारे होते हैं। जहां रस होता है, वहां आदमी का स्वाद हो जाता है। जहां स्वाद है, वहां इस बात की सूचना है कि भीतर का आकर्षण कम नहीं हुआ है, बदला नहीं है।

एक मुनि थे। भिक्षा के लिए गए। योग ऐसा ही मिला, एक नट के घर पहुंच गए। नट-कन्या ने एक मोदक का दान दिया। बहुत बढ़िया बनाया हुआ था। सुगंध फैल रही थी! बड़ा लड्डू था। मुनि बाहर आए। सुगंध से तृप्त हो गये। उन्होंने सोचा, खाने पर तो कितना स्वाद आएगा! स्वाद का भाव जाग गया।

स्वाद का भाव हर व्यक्ति में होता है। यह न मानें कि मुनि बन गया और स्वाद मिट गया। साधना की आंच जितनी परिपक्व होगी, जितनी तेज होगी, उसमें जो जितना पकेगा, उतना ही स्वाद कम होता चला जाएगा। कोरा साधु बन जाने मात्र से कुछ भी नहीं होता। साधु होने के बाद तो कितनी भूमिकाएं

पार करनी होती हैं। व्रत स्वीकार किया है। अप्रमाद की भूमिका बाकी है। अकषाय की भूमिका बाकी है। वीतरागता की भूमिका बाकी है। सब कुछ बाकी है। बहुत बाकी है। स्वाद कोई बदल थोड़ा ही जाता है।

मुनि में स्वाद जाग गया। सोचा, इतनी भीनी-भीनी सुगंध, बढ़िया खुशबू, इतना बढ़िया मोदक, जिसे देखते ही आंखें तृप्त हो जाती हैं। न जाने खाने में कितना अच्छा होगा? पर मिला एक। एक से होगा क्या? आगे गुरु तैयार हैं। गुरु को देना होगा। मेरे उपाध्याय तैयार हैं। उपाध्याय को देना होगा। मेरे सहपाठी मुनि तैयार हैं। उनको देना होगा। मेरे वृद्ध-स्थविर तैयार हैं। उनको देना होगा। कोई पांच-छह लड्डू मिले, तब एक मेरे हिस्से में आएगा। उनको खिलाए बिना मैं कैसे खाऊंगा? शिष्टाचार भी तो कुछ होता है। मेरे लिए कुछ नहीं बचेगा।

स्वाद ने अपना करतब प्रारंभ किया। नट बेचारा क्या करे! स्वाद महानट होता है। मुनि था शक्तिशाली लब्धिधर। उसमें प्राण की शक्तियां जागृत थीं। तत्काल उसने एक युवक साधु का रूप बनाया। वेष नहीं बदला। रूप-परावर्तनी विद्या के द्वारा-अपनी शक्ति के द्वारा पूरा ढांचा शरीर का बदल लिया। दूसरे मुनि का रूप बदलकर फिर भिक्षा के लिए भीतर गया। नट-कन्या ने देखा कि साधु फिर आ गया। दूसरा आया है, वह तो नहीं है। एक लड्डू फिर दे दिया। उसने सोचा, दो ही मिले। दो से क्या होगा मुझे छह चाहिए। बड़ी समस्या पैदा हो गई। तीसरा रूप बनाया, चौथा बनाया, पांचवां बनाया। छह लड्डू मिल गए। तब सोचा, अब ठीक है, कम से कम एक लड्डू तो मिल ही जाएगा। नट-मंडली का सरदार ऊपर बैठा था। वह सब कुछ देख रहा था। उसने सोचा–बड़ा गजब का आदमी है। यह अगर हमारे हाथ लग जाए तो हम चमक जायेंगे। हमारी नट मंडली सितारा बन जाएगी सारे संसार में। ये नट वेष बदलते हैं, पर इसको वेश बदलने की जरूरत नहीं, परदा लगाने की भी जरूरत नहीं। यह तो जब चाहे, जहां चाहे, जैसा चाहे, वैसा रूप बनाकर सारे संसार को आश्चर्य में डाल सकता है। यह अगर हमारे हाथ लग जाए तो फिर कोई कमी नहीं रहेगी। वह नीचे आया। उसने अपनी कन्याओं से कहा–जो साधु आज आया था, कल फिर आए तो उसे बहुत स्वादिष्ट भोजन देना है। उसने नब्ज को पकड़ लिया कि वह साधु खाने का लोलुपी है। जब नब्ज हाथ में आ जाती है, फिर चिकित्सा करने में कोई कठिनाई नहीं होती। कठिनाई चिकित्सा में नहीं होती, कठिनाई निदान में होती है। निदान सही हो जाए तो चिकित्सा होना कोई कठिन बात नहीं है।

नट ने अपनी पुत्रियों से कहा–'देखो, वह साधु आए तो उसको ज्यादा

से ज्यादा पकवान और स्वादिष्ट भोजन देना है। अब तैयारियां होने लगी। बनाये जाने लगा बढ़िया-बढ़िया भोजन। साधु का भी मन ललचा गया। उसने सोचा–नट के यहां जायेंगे तो माल मिलेगा। वह दूसरे दिन भी वहीं आया। तीसरे दिन भी वहीं आया। आता है तो बहुत बढ़िया भोजन मिलता है। आखिर स्वाद बढ़ा और बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ गया कि वह साधुत्व को छोड़कर नट-मंडली में सम्मिलित हो गया।

स्वाद से चंचलता

स्वाद सबसे पहली बाधा है। वह चंचलता पैदा करने वाली बाधा है। आदमी कहां खड़ा था और कहां लाकर पटक दिया, स्थान-च्युत कर दिया। जितनी भी चंचलता है, उसके पीछे इन्द्रियों का स्वाद बहुत काम करता है। जीभ का स्वाद, त्वचा का स्वाद, आंखों का स्वाद, कान का स्वाद–ये सारे इन्द्रियों के स्वाद आदमी को चंचल बना देते हैं। ये पांच इन्द्रियों के पांच करंट निरंतर स्रवित हो रहे हैं। एक करन्ट लगा और मन डावांडोल बन गया। दूसरा लगा और डावांडोल बन गया। एक बार भी बिच्छू काटता है तो कठिनाई हो जाती है ये पांच बिच्छू जब एक साथ डंक लगाने लग जाते हैं तो कितनी कठिनाई होती होगी, आप कल्पना करेंगे। मन बेचारा चंचल नहीं है। वह चंचल हो रहा है इन पांच दंशों के द्वारा। ये जैसे-जैसे दंश लगाते हैं, मन एकदम चंचल हो उठता है। चंचलता को कम करने का अभ्यास जुड़ा हुआ है स्वाद के अभ्यास को कम करने के साथ। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करते हैं। अभ्यास करते हैं इस बात का कि मन एकाग्र बने, मन स्थिर बने, चंचलता कम हो, चंचलता मिटे, पर इस बात को न भूलें कि तब तक मन की चंचलता कम नहीं होगी जब तक कि स्वाद कम नहीं होगा। स्वाद को भी कम करना होगा। ये सारे जुड़े हैं, परस्पर ये इतने गुंथे हुए हैं कि एक को छोड़कर दूसरे को कम नहीं किया जा सकता। स्वाद कम होता है तो स्वाद से होने वाली चंचलता कम हो जाती है।

चंचलता के अन्य कारण

दूसरी बात है, प्रमाद चंचलता पैदा करता है। मूर्च्छा, चिंतन का मिथ्याकोण, राग-द्वेष–ये अनेक प्रकार हैं प्रमाद के। नींद, विकथा, आलस्य–ये सारे चंचलता पैदा करते हैं, स्थिरता को समाप्त कर देते हैं।

तीसरी बात है प्रिय-अप्रिय का संवेदन, कषाय, आवेग और आवेश–ये चंचलता बढ़ाने वाले हैं। ये बहुत चंचलता बढ़ाते हैं। जिस समय गुस्सा आता है, कितनी चंचलता बढ़ जाती है? जब आदमी तेज गुस्से में होता है, ऐसा

लगता है कि शरीर का अणु-अणु कांप रहा है। होठ कांप रहे हैं, मुंह कांप रहा है। सारा शरीर जैसे कांप रहा है। आचार्य भिक्षु ने ठीक उपमा दी–

क्रोध मांहे हलफलियो, जाणै भाड़ मांहै स्यूं चणो उछलियो

मैंने आंखों से देखा है। एक बार की घटना है–हम लोग मेवाड़ में गंगापुर में थे। एक मकान में ठहरे हुए थे। सामने एक चबूतरा था। एक छोटी गली थी। एक बैलगाड़ी वाला आया और उसी गली में जाने लगा। जो आदमी चबूतरे पर बैठा था, वह बोला–इधर से मत जाओ। गली संकरी है। हमारी चौकियां टूट जायेंगी तुम्हारी बैलगाड़ी से। उधर से मत जाओ। उसने कहा–रास्ता है, आम रास्ता है, तुम कौन रोकने वाले होते हो? कहते-कहते झड़प हो गयी। गाड़ीवान जाने लगा। वह आदमी चबूतरी पर बैठा। बैठा-बैठा गुस्से में आया और उछल कर उसकी गाड़ी में जा बैठा। मैंने देखा तो सचमुच स्वामीजी का यह वाक्य याद आ गया कि गुस्से में आकर आदमी कोरा बोलता ही नहीं है, उछल भी पड़ता है, कूद भी लेता है, छलांग भी भर लेता है। बड़ी विचित्र अवस्था होती है।

यह प्रिय और अप्रिय का संवेदन, यह राग की तरंग और द्वेष की तरंग जब-जब जागती है, हमारी चंचलता बढ़ जाती है। ये चंचलता को बढ़ाने वाले तीन बड़े कारण हैं अव्रत, प्रमाद और कषाय। मैंने इनकी चर्चा प्रस्तुत प्रवचन में की है।

तीन दिनों में 'हृदय-परिवर्तन के सूत्र' विषय पर चर्चा चल रही है। इसके परिप्रेक्ष्य में मैने बताया कि चंचलता को बढ़ावा मिलता है पांच कारणों से। वे हैं 1. मिथ्यादृष्टिकोण, 2. अविरति, 3. प्रमाद, 4. कषाय और 5. योग-प्रवृत्ति। यह एक पूरा चक्र है। जब हम पूर्वानुपूर्वी से चलते हैं, तो ये चंचलता को बढ़ाने वाले साधन हैं। जब पश्चानुपूर्वी से चलते हैं, उल्टे चलते हैं तो ये हमारी साधना के सूत्र बन जाते हैं। हृदय-परिवर्तन के लिए पांचों पर थोड़ा-थोड़ा नियंत्रण पाना आवश्यक होता है। चंचलता (प्रवृत्ति) को कम करना, प्रिय-अप्रिय संवेदनों (कषायों) को कम करना, प्रमाद को कम करना, आकर्षण (अविरति) को कम करना। ये कम होते हैं तो मिथ्यादृष्टिकोण कम होता है और हृदय-परिवर्तन की संभावना बढ़ जाती है। जो लोग हृदय-परिवर्तन की बात करते हैं, चाहते हैं कि हृदय बदले, दंडशक्ति का प्रयोग कम हो, मैं उन्हें परामर्श देना चाहूंगा कि वे सिद्धांत की बात ही न करें, प्रयोग की भूमिका पर प्रस्थान करें।

15. हृदय-परिवर्तन के प्रयोग

एक आदमी दूकानदार के पास जाकर बोला 'तुम्हारे पास आटा है? उसने कहा–'है।' 'फिर पूछा 'चीनी है?' दूकानदार बोला 'है।' फिर उसने पूछा–'घी है?' दूकानदार ने कहा–'है।' ग्राहक बोला–'अरे! भले आदमी तुम्हारे पास आटा है, चीनी है, और घी है, फिर तुम हलुआ बनाकर क्यों नहीं बेचते? हलुए में तीन चीजें ही प्रयुक्त होती हैं और ये तीनों तुम्हारे पास हैं।

दूकानदार बोला–'भाई साहब! हलुआ बनाने की सारी चीजें मेरे पास हैं, पर हलुआ बनाने की युक्ति मेरे पास नहीं है। मैं नहीं जानता कि हलुआ कैसे बनाया जाता है? यदि बिना जाने हलुआ बनाने बैठूंगा तो आटा भी खराब होगा, चीनी और घी भी खराब होगा। न हलुआ ही बनेगा और न ये चीजें ही सुरक्षित रह पाएंगी, फिर न आटा आटा रहेगा, न चीनी चीनी रहेगी और न घी घी रहेगा। हलुए के अतिरिक्त और कुछ बन जाएगा।'

युक्ति का ज्ञान

हर निर्माण में युक्ति की आवश्यकता होती है। युक्ति को जाने बिना कुछ भी निर्माण नहीं किया जा सकता।

हम हृदय के परिवर्तन की चर्चा कर रहे हैं। हृदय का परिवर्तन होना चाहिए, यह काम्य है, परंतु यदि हृदय-परिवर्तन की युक्ति ज्ञात नहीं है, प्रक्रिया ज्ञात नहीं है तो हृदय-परिवर्तन के स्थान पर पैर का परिवर्तन हो सकता है और कुछ परिवर्तन हो सकता है।

चेतना का रूपांतरण करना छोटा कार्य नहीं है, बहुत बड़ा कार्य है। मैं मानता हूं, जितने भी बड़े कार्य हैं, उन सबसे बड़ा कार्य है चेतना का रूपांतरण। चेतना का रूपांतरण ही हृदय का परिवर्तन है। जब चेतना बदलती है तो हृदय बदल जाता है। चेतना नहीं बदलती है तो कुछ भी नहीं बदलता। युक्ति को जाने बिना चेतना का रूपांतरण नहीं हो सकता।

हमारे सामने दो कार्य हैं चेतना को बदलना और आदमी की चेतना को बदलना। दोनों बड़े कार्य हैं। भौतिक जगत के लिए अनेक नियम खोजे गए, बनाए गए, परंतु चेतन-जगत के लिए सार्वभौम नियमों की खोज करना बड़ा जटिल कार्य है। वस्तु अचेतन है। अचेतन के नियमों की खोज सरल है, क्योंकि उसमें परिवर्तन नहीं होता, किंतु चेतना बदलती रहती है, इतनी जल्दी रूपांतरित हो जाती है कि नियम कार्यकर नहीं रहता। जितने नियम खोजे जाते हैं वे सारे व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि चेतना एकरूप नहीं रहती। छोटे से छोटा प्राणी अपनी स्वतंत्र इच्छा का प्रयोग करता है,छलांग भरता है और बेचारा नियम कहीं का कहीं रह जाता है। अचेतन में छलांग नहीं होती, चेतन में छलांग होती है। अचेतन में इच्छा नहीं होती, चेतन में इच्छा होती है। यह इच्छा की स्वतंत्रता प्राणी का विशिष्ट लक्षण है। इसलिए चेतन प्राणियों के लिए नियमों को खोजना जटिलतम कार्य है।

प्राणी को बदलना, जिसकी अपनी स्वतंत्र चेतना है, स्वतंत्र इच्छा है, बहुत जटिल कार्य है। प्राणियों में भी मनुष्य की चेतना को बदलना और भी अधिक जटिल है, क्योंकि उसके पास ऊह है, अपोह है, तर्क है, वितर्क है, बुद्धि है और चेतना के सारे व्यापार, सारे विकास विद्यमान हैं। उसको बदलना, सचमुच जटिल कार्य है। चेतना का परिवर्तन, मनुष्य की चेतना का परिवर्तन युक्ति को जाने बिना संभव ही नहीं है, क्योंकि वह परिवर्तन परिस्थिति का परिवर्तन नहीं है। आदमी परिस्थिति को बदलने की बात सोच सकता है, प्रयत्न कर सकता है, उपाय खोज सकता है और यह संभव भी हो जाता है, किंतु उस मनुष्य की चेतना को बदलना जिसके साथ स्मृति जुड़ी हुई है, संस्कार जुड़े हुए हैं, दोष जुड़े हुए हैं, बहुत कठिन बात है। ये संस्कार दीर्घकालीन हैं। सुदूर अतीत के संस्कार संक्रांत हो रहे हैं, आ रहे हैं। उनमें परिवर्तन करना सरल नहीं है।

वैर का प्रतिशोध

कुछ घटनाएं विचित्र होती हैं। उन पर सहसा विश्वास नहीं होता। हमने सुना– एक साध्वी किसी अदृश्य छाया से ग्रस्त हो गई। उसे भयंकर मानसिक वेदना से गुजरना पड़ता। यह सिलसिला महीनों तक चलता रहा। अनेक उपाय किए। मंत्र जाप, इष्ट-स्मरण, आराधना के उपक्रम हुए। साध्वी के मुंह से आवाज आती 'हम बदला ले रहे हैं। इस जन्म से दो जन्म पूर्व इसने हमारा धन हजम कर डाला था। हमने इसके पास बंधक के रूप में धन रखा था। जब हमने

मांगा, तब यह मुकर गया। हम बदला लेना चाहते थे, बदला ले रहे हैं। अभी कुछ दिन इसको और पीड़ित करेंगे। जब साध्वी कुछ स्वस्थ होती, वह छाया दूर होती, तब कहती–कोई किसी का धन न हड़पे, बंधक रखी हुई वस्तु को हजम न करे। इसका परिणाम बहुत बुरा होता है।'

कुछ महीनों तक साध्वी ने बहुत वेदना सही। उस छाया ने बहुत कष्ट दिया। एक बार छाया ने कहा–'हम साध्वी को मार डालते। हमारे बदले की तीव्र भावना थी, पर यह जाप करती है, ईश्वर का भजन करती है, इसलिए हम इसे मार तो नहीं सके, पर जितनी पीड़ा देनी थी, वह दी, अब हम इसे छोड़कर जा रहे हैं।'

छाया के निकल जाने के बाद साध्वी पूर्णरूपेण स्वस्थ हो गई।

हम इस घटना की मानसिक व्याख्या भी कर सकते हैं और इसे मन की दुर्बलता कह कर टाल भी सकते हैं, पर व्याख्या का एक यही कोण नहीं है। उसका दूसरा कोण भी है। प्रत्येक प्राणी अपने किए पाप का फल पाता है। अपना किया हुआ अर्जन, अपना किया हुआ संचय फल देता है। एक होता है स्वाभाविक संचय और एक होता है अर्जित संचय। अर्जित संस्कारों का संचय लंबे समय तक फल देता है। जिस संस्कार का, स्वभाव का और प्रकृति का संचय किया है, हजार वर्ष बीत जाने पर भी जब परिपाक में आता है तब परिणाम देता है और आदमी तब कुछ का कुछ हो जाता है। उसका बड़ा विचित्र रूप सामने आ खड़ा होता है।

इसलिए यह कहा जाता है कि आदमी की चेतना को रूपांतरित करना सहज-सरल कार्य नहीं है। अनेक प्रतिबंधक स्थितियां सामने आती हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो थोड़े से सत्य को जानकर, सत्य का अनुभव कर बदल जाते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं कि हजार बार प्रयत्न करने पर भी नहीं बदलते। यह अंतर क्यों आता है? यह प्रश्न स्वाभाविक है।

एक आदमी सरल है, ऋजु है, करुणाशील है। वह बुराई करने से कतराता है। बुराई को पास में भी नहीं फटकने देता।

एक आदमी वक्र है, मायावी है, क्रूर है। वह इतना पापिष्ठ है कि किसी भी पाप से नहीं डरता। वह बुराई करने में संकोच नहीं करता। मनुष्यों को मारना उसके बाएं हाथ का खेल जैसा बन जाता है।

आदमी-आदमी में इतना अंतर क्यों? आदमी-आदमी के व्यवहार और

आचरण में इतना भेद क्यों? इस भेद की व्याख्या केवल परिस्थिति के आधार पर नहीं की जा सकती। बाहरी परिस्थिति ही यदि इस अंतर का कारण बने तो शायद एक ही जैसी परिस्थिति में जीने वाले लोग एक जैसे बन जाते, पर ऐसा नहीं है। एक जैसी परिस्थिति में जीने वाले लोग भी एक समान नहीं हैं। उनमें भी बड़ा अंतर है। तब हमें एक दूसरे कोण से सोचना पड़ता है। हमें यह निश्चित करना पड़ता है कि बाहरी परिस्थिति ही सब कुछ नहीं है। भीतरी परिस्थिति भी भेद का कारण बनती है।

करकंडु का वैराग्य

करकंडु राजकुमार था। उसकी गणना 'प्रत्येक-बुद्ध' की कोटि में की जाती है। प्रत्येक-बुद्ध वह होता है, जो किसी निमित्त विशेष से बोधि प्राप्त करता है, जिसकी चेतना किसी एक निमित्त से जागृत हो जाती है। वह राजा बना। वह गो-प्रिय था। एक बार वह गोकुल में गया। उसने एक पतले-दुबले बछड़े को देखा। उसका मन दया से भर गया। उसने आज्ञा दी कि इस बछड़े को उसकी मां-गाय का सारा दूध पिलाया जाये और जब वह बड़ा हो जाए तो दूसरी गायों का दूध भी इसे पिलाया जाए। गोकुलरक्षक ने वैसा ही करना प्रारंभ कर दिया।

बछड़ा सुखपूर्वक बढ़ने लगा। वह युवा हुआ। वह हृष्ट-पुष्ट और विशाल स्कन्ध वाला बैल बन गया। उसके सींग सुंदर थे। सारे अवयव प्रमाणोपेत थे। वह ऐसा लगता मानो कि स्फूर्ति का प्रतिबिंब हो। राजा ने उसको देखा। वह बहुत प्रसन्न हुआ। अब राजा प्रतिदिन गोकुल में जाता और एकटक उस बैल को देखता रहता है। इससे उसका मन आनंद से भर जाता। यह क्रम लंबे समय तक चलता रहा।

कुछ समय बीता। राजा कहीं अन्यत्र चला गया था। वर्षों बाद आया। आते ही उसे बैल की स्मृति हो आयी। वह सीधा गोकुल में पहुंचा। उसने गोकुलरक्षक से पूछा—वह वृषभ कहां है? उसने कहा—महाराज! आपके सामने जो बैल बैठा है, वही वह वृषभ है। राजा ने सुना। वह अवाक् रह गया। अरे! ये कैसे? इतना दुबला हो गया? इतना बूढ़ा हो गया? इसकी आंखें अन्दर गड़ी जा रही हैं, पैर लड़खड़ा रहे हैं। यह छोटे-बड़े अन्य बैलों का संघट्टन सह रहा है। राजा ने सोचा, कितना हृष्ट-पुष्ट था यह। इसके कंधे कितने बलिष्ठ थे? इसके विषाण कितने सुंदर थे। कहां गया इसका बल? कहां गई इसकी सुंदरता? क्या मुझे भी बूढ़ा होना पड़ेगा? क्या बूढ़ा होने पर मेरी भी यही अवस्था होगी? इस चिंतन से

राजा का मन वैराग्य से भर गया। वह सीधा राजमहल में आया, राज्य का परित्याग कर उसने मुनि-जीवन के लिए तत्काल प्रस्थान कर दिया।

बूढ़े बैलों को कौन नहीं देखता? क्या उन्हें देखकर कोई मुनि-जीवन के लिए प्रस्थान कर देता है? यदि बूढ़े बैल को देखने मात्र से मुनि बनने की या बूढ़ा न होने की चेतना जाग जाए तो शायद आज साधु ही साधु मिलते, गृहस्थ नहीं मिलते। बूढ़ा बैल राजा करकंडु की चेतना के परिवर्तन का निमित्त बना, पर सबके लिए यह निमित्त चेतना के परिवर्तन का घटक नहीं बन सकता। किसी के लिए यह निमित्त रूपांतरण का घटक बन जाता है और किसी के लिए नहीं बनता।

थावच्चापुत्र

थावच्चापुत्र अपनी मां के पास बैठा था। पड़ोस में बाजे बज रहे थे। उसने सुना। मां से पूछा–'मां! ये बाजे क्यों बज रहे हैं?' मां ने कहा 'बेटा! उस घर में पुत्र का जन्म हुआ है। उसकी खुशी में बाजे बजाए जा रहे हैं।'

दूसरा दिन उगा। पड़ोस में करुण क्रंदन हो रहा था। थावच्चापुत्र ने मां से कहा–'मां! कल जो गीत गाए जा रहे थे, वे कानों को प्रिय लगते थे। आज जो गीत गाए जा रहे हैं, कर्णकटु और अप्रिय हैं। ऐसा क्यों है मां?'

मां ने कहा–बेटा! आज गीत नहीं गाए जा रहे हैं। घर में क्रंदन हो रहा है, लोग रो रहे हैं, विलाप कर रहे हैं। उसने कहा 'मां! यह अंतर क्यों! कल सुहावने गीत गाए जा रहे थे और आज कानों को अप्रिय लगने वाले गीत गाए जा रहे हैं? यह भेद क्यों?'

मां ने कहा–'बेटा! कल बालक जन्मा था। उस खुशी में खुशी के गीत गाए जा रहे थे। सबके मन में उल्लास था, प्रसन्नता थी। आज वह बच्चा मर गया। सब रो रहे हैं, विलाप कर रहे हैं।'

'मां! कल जन्मा और आज मर गया? मां! क्या मैं भी मरूंगा?'

मां बोली 'बेटा! यह संसार है। इसका शाश्वत नियम है कि जो जन्मता है वह मरता है। यहां कोई अमर नहीं रहता।'

थावच्चापुत्र बोला–'मां! यदि ऐसा है तो मैं मरने की दुनिया में रहना नहीं चाहता। मैं अब अमर होने की दिशा में प्रस्थान करना चाहता हूं।'

थावच्चापुत्र मुमुक्षु बना और अमर होने की दिशा में प्रस्थित हो गया।

क्या मरने या रोने के गीत सुनकर सभी अमर होने की दिशा में प्रस्थान कर देते हैं? ऐसा नहीं होता है।

इन सारे संदर्भों से यह सचाई स्पष्ट हो जाती है कि बाहरी परिस्थिति होने पर भी आंतरिक परिस्थिति सबकी समान नहीं होती। आंतरिक परिस्थितियों का अन्तर ही व्यक्ति-व्यक्ति में अंतर पैदा करता है और इस भिन्नता के कारण ही सबके रास्ते अलग-अलग हो जाते हैं। कुछ लोग हिंसा की ओर मुड़ जाते हैं और कुछ लोग अहिंसा की ओर मुड़ जाते हैं। अहिंसा की परिस्थितियों में पलते हुए भी कुछ लोग हिंसा के वातावरण में चले जाते हैं और कुछ लोग हिंसा की भीषण परिस्थितियों में पलते हुए भी अहिंसा के वातावरण में चले जाते हैं।

बाहरी परिस्थिति की समानता और आंतरिक परिस्थिति की असमानता–इन दोनों के विश्लेषण के आधार पर हृदय-परिवर्तन की समस्या का समाधान खोजा जा सकता है। आयुर्वेद में दो प्रकार की औषधियों का विधान है शोधक और शामक। कोई रोग उत्पन्न हुआ है। शोधन से वह रोग समाप्त हो जाता है। शोधन की एक निश्चित प्रक्रिया है। उससे अनेक रोग मिट जाते हैं। शोधन की प्रक्रिया के तीन अंग हैं–वमन, विरेचन और स्वेदन। इनसे दोष बाहर निकाला जाता है। वमन से दोष बाहर निकलते हैं, विरेचन से दोष बाहर निकलते हैं और स्वेदन-पसीने से दोष बाहर निकलते हैं।

शोधन की प्रक्रिया रोग के उन्मूलन की महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। इससे फिर रोग के आक्रमण की आशंका नहीं रहती।

दूसरी प्रक्रिया है शमन की। कुछ रोग ऐसे होते हैं जिनमें शोधन इतना अपेक्षित नहीं रहता। वे दोष शमन के द्वारा शांत हो जाते हैं, दब जाते हैं। यदि पित्त की उग्रता होती है तो उसका शमन घी से कर दिया जाता है। गिलोय, गडूची आदि शामक औषधियां हैं। इनसे दोष बाहर नहीं निकलता, पर भीतर ही भीतर शांत हो जाता है।

मन के दोष

शरीर के तीन दोष माने जाते हैं–वात, पित्त और कफ, वैसे ही मन के भी तीन दोष हैं–कृष्णलेश्या, नीललेश्या और कापोतलेश्या। सांख्य दर्शन की भाषा में रजोगुण और तमोगुण। ये मन के दो दोष हैं। इन मानसिक दोषों का शोधन भी होता है और शमन भी होता है। इनके साथ विलय की बात मैं और जोड़ देना चाहता हूं। आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करने पर तीन बातें फलित होती हैं–दोषों का शोधन, दोषों का शमन और दोषों का विलयीकरण या क्षयीकरण। शमन या शांत किए गए दोष फिर उभर सकते हैं, पर क्षीण किए गए दोष कभी नहीं उभर सकते।

हम हृदय-परिवर्तन के लिए मानसिक दोषों का शोधन करना सीखें। उसकी युक्ति को हस्तगत करें। हमें हिंसा की चेतना को बदलना है। कैसे बदलेंगे? यह हमने सिद्धांत रूप में स्वीकार कर लिया कि चंचलता को मिटाने का अभ्यास करने पर चेतना बदल जाती है। प्रश्न वही आएगा कि चंचलता को मिटाने की युक्ति क्या है? जब हम युक्ति की बात करते हैं तो हमें बहुत गहरे में जाना होगा। हमारे समक्ष अनेक सचाइयां होती हैं, पर हम उन सारी सचाइयों को जान ही नहीं पाते और अपने आचरण की व्याख्या भी नहीं कर पाते।

एक बार पत्नी अपने प्रियतम को पत्र लिखने बैठी। वह एकांत और अकेलेपन से ऊब चुकी थी। प्रियतम को घर से गए छह महीने हो गए थे। वह भावावेश में थी। आंखें डबडबा आईं। वह पत्र लिखने बैठी। हाथ में कलम है। पन्ने पर लिख रही है। आंखों से आंसू पन्ने पर गिर रहे हैं। अत्यंत एकाग्र है। अपने भावों को अक्षरों में उतारती गई। संयोग ऐसा बना कि उसी समय, उसी क्षण उसका पति परदेश से लौट आया। उसने अपनी पत्नी को लिखने में लीन देखा तो चुपचाप एक ओर खड़ा रह गया। पत्नी अपने प्रियतम को पत्र लिख रही है और वह प्रियतम उसके पास खड़ा है। पत्र पूरा हुआ। उसने उसे समेटा लिफाफे में डाला। उस पर पता लिखा और प्रसन्नता में मुंह ऊपर किया। देखा तो पास में प्रियतम खड़े हैं।

मूल की खोज

बहुत बार ऐसा होता है। सचाइयां सामने पड़ी होती हैं, पर आदमी सचाइयों की खोज में ध्यान-मग्न हो जाता है। उसे पता ही नहीं चलता कि जिसे खोजा जा रहा है, वह सचाई तो सामने पड़ी है। आदमी उसे जान नहीं पाता, व्याख्या नहीं कर पाता।

अनेक आदमी कान बिंधाते हैं। स्त्रियां कान और नाक दोनों बिंधाती हैं। नक्र-वेधन और कर्ण-वेधन दोनों होते हैं, पर उन्हें इस वेधन का कारण ज्ञात नहीं है। यह व्यवहार का अनेक प्रांतों में प्रचलन भी है, परंतु इस व्यवहार की पृष्ठभूमि किसी को ज्ञात नहीं है। स्त्रियों के नक्र-वेधन और कर्ण-वेधन का मुख्य कारण था कि वासना पर नियंत्रण रखा जा सके। वासना उच्छृंखल न बने, कामना उच्छृंखल न बने, इसलिए यह एक उपाय सोचा गया था।

यह उपाय वैज्ञानिक है। स्त्री के कान और नाक जहां से बींधें जाते हैं, वहां सूक्ष्म ग्रंथियां हैं और वे ग्रंथियां काम-वासना को उत्तेजित भी करती हैं। उनके

वेधन से उस उत्तेजना की सघनता में परिवर्तन आता है और तब कामवासना नियंत्रित हो जाती है। यह वैज्ञानिक तथ्य आंखों से ओझल हो गया और बहिनों ने मान लिया कि कान बींधे जाते हैं कर्णफूल पहनने के लिए और नाक बींधा जाता है नथ पहनने के लिए। आभूषणों की ओट में मूल बात छिप गई।

आदमी का कान इसलिए बींधा जाता है कि उसके अंडकोशों की वृद्धि न हो, आंत की वृद्धि न हो। यह मुख्य दृष्टिकोण था कर्ण-वेधन का, पर यह बात विस्मृति में चली गई और पुरुषों ने मान लिया कि कान बींधा जाता है आभूषण पहनने के लिए, बाली पहनने के लिए। आजकल तो पुरुष कान बिंधाते ही नहीं।

आदमी किसी एक प्रवृत्ति का आचरण करता चला जाता है, पर उसके यथार्थ को नहीं समझता। प्रत्येक के पीछे सचाई होती है। जब वह सचाई हाथ से छूट जाती है, तब वह प्रवृत्ति रूढ़ि बन जाती है।

सब श्वास लेते हैं। कोई छोटा श्वास लेता है, कोई बड़ा श्वास लेता है और कोई कोरा श्वास लेता है। तीनों के तीन अर्थ हैं। लंबा श्वास लेने का एक अर्थ होता है। छोटा श्वास लेने का एक अर्थ होता है और कोरा श्वास लेने का एक अर्थ होता है। हम श्वास लेते हैं, पर श्वास लेने का अर्थ नहीं जानते, इसलिए हमें जो सत्य उपलब्ध होना चाहिए, वह उपलब्ध नहीं होता। श्वास लेने का एक अर्थ जीना हो सकता है, पर केवल जीना ही नहीं है। श्वास लेने का वास्तविक अर्थ है बाहर और भीतर दोनों जगत से संपर्क बनाए रखना। श्वास बाहर भी जाता है, भीतर भी जाता है। हमारे शरीर में संभवतः यही एक ऐसी व्यवस्था है, जिसका बाहर और भीतर दोनों से संपर्क जुड़ा हुआ है।

भीतर और बाहर का संपर्क सूत्र

हम चंचलता को मिटाना चाहते हैं। युक्ति हमारे सामने पड़ी है। युक्ति को अन्यत्र ढूंढने की आवश्यकता नहीं है। श्वास की युक्ति को काम में लें। यही सबसे बड़ी युक्ति है। जैसे ही श्वास प्रेक्षा प्रारंभ होगी, चंचलता धीरे-धीरे कम होती चली जाएगी। जैसे-जैसे श्वास की साधना सधती जाएगी, वैसे-वैसे एकाग्रता बढ़ती जाएगी। यह तो कहना सर्वथा अतिशयोक्तिपूर्ण होगा कि पांच-दस दिन के श्वास-प्रयोग से चंचलता मिट जाएगी, पर यह निश्चित कहा जा सकता है कि श्वास के प्रयोग के माध्यम से चंचलता पर नियंत्रण स्थापित किया जा सकता है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि श्वास-प्रेक्षा के प्रयोग को

लम्बे समय तक चालू रखा जाए तो एक दिन वह साधक यह कहने की स्थिति में आ सकेगा कि मन की चंचलता पर मेरा पूरा नियंत्रण है। मैं चाहूं तो सोचूं, मैं न चाहूं तो न सोचूं। मैं चाहूं तो स्मृति और कल्पना करूं और न चाहूं तो स्मृति और कल्पना न करूं, निर्विकल्प बन जाऊं।

मैं कोरे सिद्धांत में विश्वास नहीं करता। सिद्धांत हो और मार्ग न हो तो वह सिद्धांत किस काम का? कोरे परिवर्तन की बात कहें और उपाय न बताएं तो वह निकम्मी बात होगी, दीनता की बात होगी। जो दीनता की स्थिति में नहीं जाना चाहता, उसे उपाय खोजना होता है। हमें उपाय उपलब्ध है। हम दीन नहीं हैं। परिवर्तन की बात करते हैं और साथ-साथ सही उपाय भी बतलाते हैं।

एक महात्मा ने लंबा-चौड़ा भाषण दिया और परिषद से बदलने की बात कही। उन्होंने कहा—हमको सत्यवादी होना है, अक्रोधी होना है, क्षमाशील होना है, अमायावी और अलोभी होना है आदि-आदि। एक आदमी ने पूछ लिया—'महाराज! होने वाली बात आपने बहुत अच्छी कही। कैसे हुआ जाए, इसका भी कुछ निर्देश दें।' इस प्रश्न के आते ही सब मौन, महात्माजी मौन और दूसरे श्रोता भी मौन। सारा वातावरण मौनमय बन गया।

एक ओर बदलने की बात है, सिद्धांत की बात है, दूसरी ओर निरुपायता है। यह तो एक ऐसा ही योग है, एक हाथ में घोड़ा और एक हाथ में गधा। बदलने की बात बहुत अच्छी है, यथार्थ है। जब बदलने का उपाय पूछा जाता है तो मौन कोई उपाय नहीं, पूरी तरह निरुपाय। एक ओर रेस का तेज घोड़ा और दूसरी ओर हर कदम पर रुकने वाला गधा। यह हमारे जीवन की व्यर्थता है, असफलता है। मेरा ऐसे असफल जीवन में विश्वास नहीं है। मैं उस बात में विश्वास करता हूं, जिसमें परिवर्तन के सिद्धांत की प्रतिष्ठापना के साथ-साथ उसके क्रियान्वयन के उपाय भी निर्दिष्ट हों। निरुपाय सिद्धांत व्यर्थ होता है, उसकी कोई उपलब्धि नहीं होती। अपाय है तो उपाय भी है। अपने पुरुषार्थ के द्वारा उपाय को खोजना है और उसे काम में लेना है।

प्रश्न आता है कि आदमी प्रिय-अप्रिय संवेदनों को कैसे कम करे? जीवन के ये दो तत्त्व हैं प्रियता और अप्रियता। इनसे प्रत्येक व्यक्ति है, बंधा हुआ है। इनसे छुटकारा पाना सहज-सरल नहीं है, पर उपाय के द्वारा इन से छुटकारा पाया जा सकता है।

अपाय-मुक्ति

जो व्यक्ति प्रिय-अप्रिय संवेदनों से मुक्त होना चाहता है वह ज्योति-केन्द्र पर ध्यान करे। यह एक अनुभूत और महत्त्वपूर्ण प्रयोग है। इस प्रयोग से कषाय-विजय होती है। प्राण-केन्द्र पर ध्यान करने से प्रमाद आश्रव पर विजय प्राप्त होती है। प्रमाद अनुत्साह पैदा करता है, चेतना को अलस और मन्थर बनाता है, निष्क्रिय बनाता है। जो व्यक्ति प्राण-केन्द्र को साध लेता है, वह प्रमाद से छुट्टी पा लेता है। उसके मन में अरति नहीं होती, आर्त्त भावना कम हो जाती है। उसका मन विपदाओं से मुक्त हो जाता है। पदार्थनिष्ठ रस समाप्त होने लग जाता है। वही रस बचता है, जो जीवन के लिए अनिवार्य होता है।

ध्यान करने वाला व्यक्ति आवश्यकता को नहीं खोता, किंतु जीवन की व्यर्थताओं से बच जाता है। प्रत्येक आदमी लेखा-जोखा करके देखे तो सही कि वह जीवन में आवश्यक कार्य कितना करता है और व्यर्थ कितना। जीवन की बात छोड़ दें, वर्षभर की बात रहने दें, वह प्रतिदिन यह लेखा-जोखा करके देखे कि पूरे दिन में आवश्यक कितना किया और अनावश्यक कितना किया? यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि सामान्यतः आदमी सत्तर-अस्सी प्रतिशत अनावश्यक काम करता है।

ध्यान का अर्थ निष्क्रिय और अकर्मण्य हो जाना नहीं है। ध्यान का अर्थ है अनावश्यक से निष्क्रिय हो जाना और आवश्यक में सक्रिय हो जाना और उसी में सारी शक्ति का नियोजन कर देना। जो कार्य हो, वह अधिक सुघड़ता, सफलता, कुशलता और दक्षता के साथ सम्पन्न हो। सुघड़ता और कुशलता बढ़ती जाए, यह हमारी कौशल-वृद्धि का उपाय है। यह हमारी कुशलता का दर्शन है, सक्रियता का दर्शन है। ध्यान अकर्मण्यता या निष्क्रियता का दर्शन नहीं है। ध्यान यदि अकर्मण्यता का दर्शन होता तो निष्क्रियता शायद अनेक लोग ध्यान करने लग जाते। यह कहना सच है कि समाज के शत-प्रतिशत लोग विफलता का काम करते हैं और सफलता का काम पांच-दस प्रतिशत लोग करते हैं। असफलता के जितने काम हैं, हर आदमी उनका आचरण करता है। सफलता के काम का आचरण हर आदमी नहीं करता। यदि सारे लोग सफलता के कार्य का आचरण करते तो वही प्रश्न उपस्थित होता, जो पुराने जमाने में उपस्थित हुआ था। धर्म-स्थान में भीड़ को देखकर एक आदमी ने संतों से कहा–महाराज! ये सारे लोग धार्मिक लोग हैं, धर्म करने वाले हैं, अब स्वर्ग

में इतनी भीड़ हो जाएगी कि वहां स्थान ही खाली नहीं मिलेगा। जैसे आज के वैज्ञानिकों को भी ऐसी ही चिंता है कि यदि आबादी इस रफ्तार से बढ़ती गई तो वह दिन दूर नहीं है, जिस दिन भूमि पर आदमी को पैर रखने की जमीन भी नहीं मिल पाएगी।

ध्यान यदि विफलता का सूत्र होता तो यहां बड़ी भीड़ लग जाती। सब के सब लोग ध्यानी बन जाते। स्वर्ग में अपार भीड़ हो जाती है। ध्यान सफलता का सूत्र है इसीलिए उसे अनेक लोग अपनाने में झिझकते हैं। उन्हें संदेह होता है कहीं सफल हो न जाऊं।

प्रमाद को निरस्त करने का तथा सफलता की उपलब्धि का एक महत्त्वपूर्ण उपाय है प्राणकेन्द्र और दर्शनकेन्द्र पर ध्यान करना।

आकर्षण का संतुलन

एक समस्या और है। वह है बाहरी आकर्षण। उसका भी संतुलन अपेक्षित होता है। बाहरी आकर्षण के साथ-साथ भीतरी आकर्षण भी पैदा करें। दोनों का संतुलन साधें, जिससे बाहर की गति में अवरोध न हो और भीतर की बेचैनी न बढ़े, भीतर का असंतोष न उभरे। आदमी उस प्रगति के पथ पर पैर न बढ़ाए, जो प्रगति एक दिन मनुष्य-जाति के विनाश और संहार का हेतु बन जाए। जो मनुष्य-जाति को ही लील जाए, वैसी प्रगति वांछनीय नहीं है। यदि ऐसी प्रगति हो तो उस पर नियंत्रण की क्षमता होनी चाहिए। इस बाहरी आकांक्षा, आकर्षण और अतृप्ति पर नियंत्रण करने का उपाय है विशुद्धिकेन्द्र पर ध्यान करना और आनंदकेन्द्र की प्रेक्षा करना। ये दो उपाय ऐसे हैं, जिनसे भीतर का आकर्षण बढ़ता है, बाहर का आकर्षण कम होता है। आनंद-केन्द्र वह महान द्वार है, जो हमें अंदर प्रविष्ट कराता है। जो व्यक्ति आनंद-केन्द्र को सक्रिय करने में सक्षम हो जाता है, वह यह निश्चित अनुभव कर लेता है कि बाहरी और भीतरी जगत के बीच सम्पर्क स्थापित करने का यह सबसे शक्तिशाली माध्यम है। इस माध्यम से सूक्ष्म जगत में प्रवेश करना सहज हो जाता है।

हम प्रेक्षाध्यान के परिपार्श्व में आकर निरुपाय या असहाय नहीं हैं। हमारे पास सिद्धांत की यथार्थता है तो उपाय की भी यथार्थता है। एक ओर हम सिद्धांत के सत्य का प्रतिपादन करते हैं, तो दूसरी ओर उस सत्य की उपलब्धि के लिए उपायों भी निर्देश करते हैं। प्रत्येक सिद्धांत की क्रियान्विति के लिए उपाय हैं और वे सब कार्यकर उपाय हैं, अनुभूत उपाय हैं।

16. निषेधात्मक भाव

पौराणिक कहानी है। तपस्वी ने तप तपना शुरू किया। इन्द्र का आसन डोल गया। जब-जब तप तपते, तब-तब इन्द्रासन डोल जाता है। इन्द्र का आसन डोला और वह तत्काल चिंतातुर हो गया। उसने सोचा, खतरा पैदा हो रहा है। मेरा सारा ऐश्वर्य समाप्त हो रहा है। मेरे स्थान पर दूसरा आ रहा है। वह तत्काल धरती पर आया। उसने देखा, एक तपस्वी तप तप रहा है। कारण समझ में आ गया। उसने एक उपाय सोचा। सोने की एक सुंदर तलवार लाकर उसने तपस्वी के पास रख दी और हाथ जोड़कर कहा–'तपस्वी! मैं शहर में जा रहा हूं। मेरी तलवार कुछ समय के लिए अपने पास रख लो। अभी-अभी लौट आता हूं। आते ही मैं अपनी तलवार ले लूंगा।'

तपस्वी ने कहा 'अच्छा, रख दो। जल्दी लौट आना।' इन्द्र चला गया। एक दो घंटे बीते। दिन बीत गया। रात भी बीत गई। इन्द्र लौटकर नहीं आया। सोने की तलवार थी। तपस्वी को सुरक्षा करनी ही थी, अन्यथा उसे कोई चुरा कर ले जा सकता था। प्रतीक्षा करता रहा। इन्द्र नहीं आया। प्रतीक्षा में उसकी साधना हिल उठी। साधना कमजोर हो गई। तपस्वी तपस्या को भूल गया। सोने की तलवार की सुरक्षा स्मृति में बनी रहती। साधना का आसन हिला और इन्द्रासन मजबूत हो गया।

हमारे भीतर है एक इन्द्र

मैं देखता हूं, जब-जब तपस्या शुरू होती है, इन्द्रासन डोल जाता है। सबके भीतर एक-एक इन्द्र बैठा है। उसका इन्द्रासन भी है। जब-जब आदमी ध्यान करता है, इन्द्र का इन्द्रासन डोल जाता है, खतरा पैदा हो जाता है, तब फिर वह सोने की तलवार रख जाता है और साधक उसकी सुरक्षा में ध्यान को भुला देता है। जिन लोगों ने ध्यान का अभ्यास और अनुभव किया है, वे जानते हैं-जो निषेधात्मक विचार नहीं आते थे, वे ध्यान-काल में अवश्य ही

उभरते हैं। ऐसा क्यों होता है? यह इसलिए होता है–जब आदमी ध्यान करता है, तब इन्द्रासन डोल जाता है और उस इंद्रासन की सुरक्षा के लिए ये सोने की तलवार (निषेधात्मक भाव) सामने आती हैं। ध्यान-साधक जब गहराइयों में उतरता है और जब उसका तेज बढ़ता है, तब भीतर बैठा हुआ इन्द्र कांप जाता है। इन्द्र का अर्थ है परम ऐश्वर्य-संपन्न, परम शक्ति-संपन्न और सबसे बड़ा। हमारे जीवन-चक्र में एक परम शक्तिसंपन्न तत्त्व बैठा हुआ है जो समूचे जीवन का संचालन कर रहा है। वह इन्द्र का स्थान लिए बैठा है। वह है लोभ। केन्द्र में है लोभ। लोभ सबका संचालन करता है। यह सबसे अधिक शक्ति-संपन्न, ऐश्वर्य-संपन्न और वैभव-संपन्न है। यह समर्थ है। दूसरे सारे इसके पर्युपासना में लगे रहते हैं। सैद्धांतिक भाषा में कहा जाता है कि क्रोध, अहंकार और माया के नष्ट हो जाने पर भी लोभ बचा रहा जाता है। परिधि के समाप्त हो जाने पर भी केन्द्र बचा रह जाता है। सब नष्ट हो जाते हैं, लोभ सबके अंत में नष्ट होता है।

केन्द्र में लोभ है और उसने एक ग्रंथि पैदा की है ममता की। इसीलिए मनुष्य के जीवन में निषेधात्मक विचारों का साम्राज्य है। विधेयात्मक विचार कम आते हैं, निषेधात्मक विचार अधिक आते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के मन में भय की भावना उभरती रहती है। अनिष्ट कल्पनाएं और आशंकाएं आती रहती हैं। यह हो जाएगा, वह हो जाएगा–आदि की चिंता से आदमी का मन भरा रहता है।

प्रत्येक व्यक्ति यदि आत्मालोचन करे, आत्म-निरीक्षण करे तो उसे सहज ज्ञात हो जाएगा कि उसमें नब्बे प्रतिशत विचार निषेधात्मक और मुश्किल से दस प्रतिशत विचार विधायक आते हैं। जब आदमी ध्यान की अवस्था में होता है तब ये सारे निषेधात्मक विचार उभरते हैं, उनका जाल-सा बिछ जाता है।

प्राचीन साहित्य में देवों के साथ जुड़ी हुई घटनाओं का प्रचुर विवरण मिलता है। यदि ध्यान साधना के संदर्भ में इनकी व्याख्या की जाए तो वहां देव, पिशाच या राक्षस नहीं टिकेंगे। वे सारी घटनाएं निषेधात्मक भावों की घटनाएं होंगी। देव, राक्षस या पिशाच–यह सब हमारा निषेधात्मक विचार ही है।

चूलनी पिता

भगवान महावीर के युग की घटना है। वाराणसी नगरी में एक श्रमणोपासक रहता था। उसका नाम था चूलनीपिता। उसने भगवान महावीर से धर्मप्रज्ञप्ति स्वीकार की और सतत धर्म-जागरिका करने लगा। एक दिन वह पौषधशाला में

साधना कर रहा था। दिन बीता। रात आई। आधी रात बीत गई। वह जागरूक था। सो नहीं रहा था। ध्यान की साधना चल रही थी। चारों ओर अंधकार ही अंधकार था, पर उसका अंतःकरण ध्यान की ज्योति में जगमगा रहा था। सोने के समय ध्यान की साधना अच्छी चलती है। अंधकार में प्रकाश की साधना ज्यादा अच्छी चलती है। प्रकाश और प्रकाश का मेल नहीं होता। अंधकार में प्रकाश का अधिक मेल बैठता है।

मध्यरात्री का समय। नीरव वातावरण। एकांत और शांत स्थिति। चूलनीपिता धर्मध्यान में लीन बैठा है। अकस्मात् उसे प्रतीत हुआ कि एक देव सामने प्रकट हुआ है। देव ने कहा–'देवानुप्रिय! क्या कर रहे हो? ध्यान साधना को छोड़ दो। इससे कुछ भी होना-जाना नहीं है।' चूलनीपिता शांत और सहज बैठा रहा। देव ने दो-तीन बार कहा। पर चूलनीपिता मौन और शांत। देव फिर बोला–सुन नहीं रहे हो? छोड़ दो ध्यान को। साधना को तिलांजलि देकर चले जाओ यहां से। अगर तुम मेरी बात नहीं मानोगे तो तुम्हें उसका अनिष्ट परिणाम भुगतना होगा। परिणाम बहुत भयंकर होगा। उठो, चले जाओ अपने घर। चूलनीपिता पूर्ववत् अडोल, अप्रकंप और अविचल बैठा रहा। देव बोला–तुम नहीं मानते हो तो लो, मैं अभी तुम्हारे ज्येष्ठ पुत्र को तुम्हारे सामने लाकर मारता हूं। उसके टुकड़े-टुकड़े कर कढ़ाई में तलता हूं और उस पुत्र को चूलनीपिता के समक्ष मारा, टुकड़े-टुकड़े कर कढ़ाई में तला और फिर उसके रक्त से चूलनीपिता के शरीर को सींचा।

इतना होने पर चूलनीपिता अविचलित रहा। वह अपनी ध्यान साधना में लगा रहा।

देव बोला–'बड़े ढीठ हो, निर्दयी और निर्मम हो। एक ओर धार्मिक आराधना का ढोंग कर रहे हो और दूसरी ओर करुणा का स्रोत सूखता जा रहा है। धार्मिक वह होता है, जिसमें करुणा होती है। बेटा तड़प-तड़प कर मर रहा है और तुम इतने निर्दयी हो, उसको बचाने के लिए भी नहीं उठ रहे हो। अच्छा, अब भी मान जाओ। अन्यथा मैं तुम्हारे दो और पुत्रों की भी वही दशा करूंगा, जो पहले पुत्र की है। छोड़ दो धर्म-कर्म को। पुत्र की रक्षा करो।'

चूलनीपिता पर इसका कोई असर नहीं हुआ। देव ने मंझले लड़के को उसके सामने मारा, टुकड़े-टुकड़े किए, कढ़ाई में तला और रक्त से चूलनीपिता के शरीर को सींचा।

पर चूलनीपिता का एक रोम भी नहीं हिला। देव ने कनिष्ठ पुत्र की भी वही दशा की, पर चूलनीपिता पूर्ववत् धर्म में लगा रहा।

तीनों पुत्रों की हत्या हो गई। देव निराश हो गया। चूलनीपिता का एक रोम भी प्रकंपित नहीं हुआ। देव खिसिया गया। उसने अंत में कहा–'चूलनीपिता! नहीं मानते हो तो अब मैं तुम्हारी माता भद्रा को घर से निकाल कर लाता हूं और तुम्हारे सामने उसके टुकड़े-टुकड़े कर कढ़ाहे में तलता हूं।'

चूलनीपिता ने सुना। उसने सोचा–यह दुष्ट और अनार्य पुरुष कुछ भी कर सकता है। मेरे तीनों पुत्रों की इसने हत्या कर डाली। अब मेरी मां को भी मार डालेगा। मां के प्रति ममता उभर आयी। स्नेह उमड़ा, भीतर का इन्द्रासन डोल गया, ध्यान का आसन डोल गया। वह साधना को छोड़ उस दुष्ट पुरुष को पकड़ने दौड़ा। पुरुष आकाश में उड़ गया। घर के सब लोग दौड़े-दौड़े आए। न पुत्रों की हत्या हुई थी। न मां को मारने की किसी ने तैयारी की थी। न कड़ाह था न मांस था, कुछ भी नहीं था। सारी देवमाया थी।

निषेधात्मक संस्कार

इस घटना की पौराणिक व्याख्या यह हो सकती है कि देव आया और उसने वैसा घटित किया। ध्यान या योग के संदर्भ में इसकी यह व्याख्या हो सकती है वहां न कोई देव था, न और कुछ था। व्यक्ति के अपने निषेधात्मक भाव जागे और उन भावों ने एक मायाजाल रचा कि उस मायाजाल में तीनों लड़के सामने मारे गए, तले गए, माता भद्रा की बात भी आई आदि-आदि। जब निषेधात्मक भावों का तांता समाप्त हुआ और जैसे ही ध्यान टूटा, सब कुछ समाप्त हो गया, कुछ भी नहीं रहा।

इस दुनिया में जीने वाला प्रत्येक व्यक्ति हिंसा और मारकाट से परिचित है, हत्या और आत्महत्या से परिचित है। वह चोरी, डकैती और अपराध को जानता है। वह सभी प्रकार की उपद्रवी और अपराधी मनोवृत्तियों को जानता है। ये सारी घटनाएं स्मृति में अंकित रहती हैं। अनेक घटनाएं आदमी स्वयं भोगता है और अनेक घटनाएं वह सुनता है सबकी स्मृतियां अंकित हो जाती हैं। एक जन्म की नहीं, अनेक जन्मों की स्मृतियों को आदमी संजोए रहता है। ये अंकन भाव-शरीर में होते हैं। जब आदमी बाहर चेष्टाओं और प्रवृत्तियों से उपरत होकर एकाग्र होता है, तब ये भीतरी स्मृतियां उभरती हैं, साक्षात् होने लगती हैं। कौन व्यक्ति ऐसा है, जिसने जीवों को न मारा हो, हत्याएं न की

हों? कौन व्यक्ति ऐसा है जिसने झूठ न बोला हो, कपट और मायाजाल न रचा हो! कौन व्यक्ति ऐसा है जिसने चोरियां, डकैतियां, लूटपाट या अन्य अपराध न किए हों? प्रत्येक व्यक्ति ने किए हैं, इस जन्म में नहीं, तो अतीत के अनंत जन्मों में तो किए ही हैं। इन प्रवृत्तियों के सूक्ष्म संस्कार हमारे भाव-शरीर में चिपके हुए हैं। वे पढ़े नहीं जा सकते, देखे नहीं जा सकते। जब आदमी ध्यान की अवस्था में होता है तो ऊष्मा बढ़ती है। उस ऊष्मा की आंच में वे सूक्ष्म अंकन पिघल कर स्थूल बनते हैं, स्थूल लिपियों में उभरते हैं, तब ऐसा लगता है कि कोई देव आकर सता रहा है, कोई राक्षस या पिशाच आकर पीड़ित कर रहा है। अजीब-अजीब दृश्य सामने आते हैं और तब आदमी घबड़ा जाता है।

प्रातःचर्या

आयुर्वेद का सिद्धांत है कि प्रातःकाल उठते ही ओंकार का जप करना चाहिए। प्रत्येक धर्म संप्रदाय कहता है कि उठते ही भगवान का नाम स्मरण करना चाहिए। आत्मवादी दर्शन कहते हैं कि उठते ही आत्म-चिंतन या आत्म-निरीक्षण करना चाहिए। ये सारे विधायक भाव को जगाने के साधन हैं। यदि प्रातःकाल उठते ही विधायक भाव का चक्का घूम जाता है तो पूरा दिन उसी जागृति में बीतता है। यदि उठते ही बुरी बात सामने आती है तो निषेधात्मक भावों का चक्का घूमने लग जाता है और पूरा दिन उसी में गुजरता है।

आज स्थिति कुछ बदल गई है। आज का आदमी उठते ही या तो चाय पीना पसंद करता है, अखबार देखना पसंद करता है या फिर रेडियो सुनना पसंद करता है। अखबार में उसे निषेधात्मक भावों को जगाने की सामग्री अधिक मिलती है और तब आदमी का मन पूरे दिन तक उन्हीं की उधेड़बुन में बीत जाता है। आज के अखबारों में मारकाट, हत्या, बलात्कार, चोरी, डकैती, लूट-खसोट या एक्सीडेन्टों के समाचार अधिक होते हैं। वह रोमांचकारी घटनाओं से भरा रहता है। ये सारी निषेधात्मक भावों की घटनाएं हैं और ये घटनाएं पढ़ने वालों में निषेधात्मक भावों की सृष्टि करती हैं। आदमी पूरे दिन उन्हीं के प्रभावों में रहता है। आज के आदमी का यह है प्रभु-भजन, यह है आलोचना की प्रक्रिया और यह है ओंकार जाप।

इसलिए ऐसा अनुभव होता है कि दैनिक चर्या के निर्धारण में भी आदमी की दृष्टि वैज्ञानिक नहीं है। उसकी पूरी दिनचर्या अवैज्ञानिक है। ध्यान और साधना की बात तो बहुत आगे की बात है, पर दिनचर्या की बात तो प्राथमिक है।

दिनचर्या स्वस्थ कैसे हो?

दिनचर्या कैसे शुरू हो? दिनचर्या कैसे संपन्न हो? दिनचर्या का आदि-बिंदु क्या हो? दिनचर्या का अंतिम बिंदु क्या हो? इन सब पर आदमी को पहले सोचना चाहिए। पुराने जमाने में इस विषय पर बहुत ध्यान दिया गया था। उन्होंने स्वास्थ्य रक्षा के साथ-साथ इसका भी निर्देश दिया था कि स्वस्थवृत्त का ध्यान रखो। यदि तुम शारीरिक, मानसिक और भावनात्मक दृष्टि से स्वस्थ रहना चाहते हो तो अमुक बिंदु से दिनचर्या प्रारम्भ करो और अमुक बिंदु पर उसकी समाप्ति करो।

हमारी दिनचर्या का आदि-बिंदु होना चाहिए शक्तिमय, चैतन्यमय और आनंदमय प्रभु का दर्शन। दूसरे शब्दों में हमारी दिनचर्या प्रारंभ होनी चाहिए प्रेक्षा से, दर्शन से। उठते ही हम अपने इष्ट को देखें। इष्ट वह होता है जो शक्तिमय है, चैतन्यमय है और आनन्दमय है। जो शक्तिशून्य है, चैतन्यशून्य और आनंदशून्य है, वह कभी इष्ट नहीं बन सकता। प्रत्येक आदमी उठते ही अपनी हथेलियों और दस अंगुलियों को देखता है। इसलिए देखता है कि वह जानता है 'कराग्रे वसति लक्ष्मीः' हाथ की अंगुलियों में लक्ष्मी का निवास है। लक्ष्मी कल्याणकारी है, बुरी नहीं है। लक्ष्मी शक्ति, चैतन्य और आनंद का प्रतीक है। जब लक्ष्मी नहीं होती है तो सारी शक्ति लुप्त हो जाती है, चैतन्य गायब हो जाता है और आनंद तिरोहित हो जाता है। लक्ष्मी शक्ति, चैतन्य और आनंद इस त्रयी की प्रतीक है। लक्ष्मी हमारा इष्ट है। चाहे कोई भगवान को लक्ष्मी माने, अरिहंत को लक्ष्मी माने, अपनी आत्मा को लक्ष्मी माने—ये सारी लक्ष्मियां हैं। दरिद्रता कभी इष्ट नहीं बन सकती। वह इस त्रिपदी से शून्य है।

लक्ष्मी और दरिद्रता—ये दो प्रतीक हैं संपदाओं के और विपदाओं के। लक्ष्मी संपदा की प्रतीक है और दरिद्रता आपदा की प्रतीक है। जितनी दैवी शक्तियां, आत्मिक अनुभूतियां और विशेषताएं हैं, उनका प्रतीक बना दिया लक्ष्मी को और जितनी विपत्तियां हैं, निषेधात्मक भाव हैं, बुरे विचार हैं, उनका प्रतीक बना दिया दरिद्रता को।

एक पंडित राजा के पास गया। धन चाहता था। राजा को प्रभावित करने के लिए उसने एक युक्ति ढूंढ निकाली। राजा को देखते ही उसने नमस्कार किया और वह बोला—'महाराज! मैं आपका भाई हूं और बहुत दूर से मिलने आया हूं।' राजा ने देखा। फटे-कपड़े, बुरा हाल। उसका चेहरा परिचित भी नहीं,

जाना-पहचाना भी नहीं। राजा स्तब्ध और अवाक् रह गया। पंडित बोला–'आप बोलते क्यों नहीं? क्या आपने मुझे नहीं पहचाना? मैं आपका छोटा भाई हूं। बहुत दिनों बाद आया हूं।' राजा ने उसकी उद्दंडता को नजरअंदाज करते हुए कहा–बताओ, मेरे भाई कैसे हुए? भाई हो और मैं न पहचानूं, यह कैसे हो सकता है। पंडित बोला–मैं असत्य नहीं कह रहा हूं। हूं तो आपका ही भाई। राजा ने पूछा–कैसे! पंडित बोला–राजन्! मेरी मां का नाम है आपदा और आपकी मां का नाम है संपदा। आपदा और संपदा दोनों बहिनें हैं। इसलिए मैं आपकी मौसी का बेटा हूं। अब तो पहचाना आपने?

आपदा च मम माता, तव माता च संपदा।
आपत्संपदे भगिन्यौ, तेनाहं बान्धवो नृप!॥

आपदा और संपदा–ये दोनों सगी बहिने हैं। दोनों साथ रहती हैं। संभवतः शरीर का दांया-बांया भाग भी उन्हीं का प्रतीक है। दांया भाग लक्ष्मी का है, संपदा का है और बांया भाग दरिद्रता का है, विपदा का है।

दक्षिणमार्ग और वाममार्ग

आज सारी दुनिया में दो ही मार्ग हैं–दक्षिण मार्ग और वाम मार्ग। धर्म के क्षेत्र में भी दो मार्ग हैं–दक्षिणमार्गी और वाममार्गी। तांत्रिक वाममार्गी होते हैं और दूसरे धार्मिक दक्षिणमार्गी होते हैं। राजनीति के क्षेत्र में भी दक्षिण और वाम ये दो ही मार्ग हैं। हमारे शरीर में, विचारों में और जीवन में भी ये दो मार्ग चलते हैं। एक है विधायक भावों का मार्ग और एक है निषेधात्मक भावों का मार्ग। विधायक भावों का मार्ग है दक्षिण मार्ग और निषेधात्मक भावों का मार्ग है वाम मार्ग। इस मार्ग पर बहुत भीड़भाड़ है। यह चालू रास्ता है। यह इतना व्यस्त मार्ग है कि प्रतिपल भरा रहता है। विधायक मार्ग बेचारा खाली पड़ा रहता है। वह चौड़ा रास्ता है, भीड़ भी नहीं है, पर कभी-कभी भूला-भटका उधर से गुजरते हुए देखा जाता है। खाली रहता है यह मार्ग। हम जब-जब साधना में बैठते हं, बाएं मार्ग को साफ करने का प्रयत्न करते हैं और दाएं मार्ग पर प्रस्थान करने के लिए पैर बढ़ाते हैं, तब बाएं मार्ग की भीड़-भाड़ हमारे सामने से गुजरती है। वह सीमा का अतिक्रमण भी कर देती है।

ध्यान करते समय अनेक प्रलोभन भरे विचार आते हैं। यदि साधक प्रलोभनों की चिकनी-चुपड़ी बातों में आ जाता है तो उसकी साधना का आसन प्रकंपित हो जाता है। प्राचीन समय के ऋषि-मुनियों की अनेक घटनाएं सुनते हैं। कहा जाता

है कि उनके सामने अनेक प्रलोभन उपस्थित हुए। कुछ प्रलोभन में आकर अपनी स्थिति से च्युत हो गए और कुछ ने प्रलोभन को नीचे दबाकर अपनी स्थिति को उभार कर रखा। नचिकेता को यमराज ने अनेक प्रलोभन दिए।

यमराज ने कहा–नचिकेता! तुम सत्य को जानने की बात छोड़ दो। यह आग्रह मत रखो। तुम धन, परिवार, राज्य या वैभव मांगो। मैं सब कुछ दूंगा। सत्य की बात छोड़ दो। नचिकेता ने कहा–यमदेव! मैं कुछ भी नहीं चाहता। मैं केवल अमरत्व को जानना चाहता हूं, सत्य को जानना चाहता हूं।

उपनिषदों में वर्णित मैत्रेयी और गार्गी का संवाद और उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित कमलावती का संवाद–इसी तथ्य को उजागर करता है कि सत्य को जानने के सिवाय सब प्रलोभन हैं। वे फिसलाते हैं। जो व्यक्ति प्रलोभन और भय से बचकर अपने विधायक भावों के सृजन में सक्षम होता जाता है, वह अपने आसन से कभी नहीं डोलता। वह आगे बढ़ता जाता है। जो व्यक्ति निषेधात्मक भावों के आवर्त्त में फंस जाता है, उसका आसन डोल जाता है।

जीवन का केन्द्रीय तत्त्व

हम मूल पर ध्यान दें। बहुत बार यह प्रश्न सामने आता है कि हमारे जीवन का संचालन कौन कर रहा है? केन्द्रीय तत्त्व कौन-सा है, जिसकी परिधि में जीवन का संचालन हो रहा है? हम खोजें, शांति और एकाग्रता के साथ खोजें। आखिर खोजते-खोजते हमें यह ज्ञात हो जाएगा कि केन्द्र में बैठा है लोभ। उस पर हम ध्यान केन्द्रित करें। उसने ममता और मोह को पैदा किया है। उसने ऐसा प्रपंच रचा है कि आदमी मारा-मारा फिर रहा है। वह जीवन भी उसकी परिक्रमा करता है। मैं कई बार सोचता हूं कि कोल्हू का यह बैल चक्कर क्यों लगा रहा है? कारण क्या है? अनंत काल से वह चक्कर लगा रहा है। पर परिक्रमा कभी पूरी ही नहीं होती। पर एक सुविधा है। आदमी ने उस बैल की आंख पर पट्टी बांध रखी है। यदि उसकी आंखें खुली रह जाएं तो दुविधा हो सकती है। समझदार है कोल्हू के बैल को चलाने वाला। उसकी आंखें बंद कर देता है, जिससे उसे पता न चले कि वह कहां जा रहा है। न जाने कितना लंबा रास्ता तय कर लिया है, पर उस बेचारे को क्या पता है कि कोरी परिक्रमा हो रही है, गति नहीं हो रही है। कोल्हू का बैल जीवन भर चलता है, परिक्रमा करता है, उसे यदि जीवन की संध्या में पूछा जाए कि तुम कितने चले? क्या उत्तर होगा? चला कुछ भी नहीं। उसी लकीर पर परिक्रमा देता रहा।

हम केन्द्र पर ध्यान दें। मूल वृत्ति को पकड़ें। यदि ध्यान की साधना करने वाला व्यक्ति केन्द्रिय वृत्ति को नहीं पकड़ेगा, उसकी खोज नहीं करेगा तो ध्यान साधना बहुत सफल नहीं हो सकेगी। उसी केन्द्रीय वृत्ति को पकड़कर यह जानना है कि कौन-सा तत्त्व सारे निषेधात्मक भावों का संचालन कर रहा है। ये सभी निषेधात्मक भाव कहां से आ रहे हैं? यदि वह इन भावों को पकड़ने में सक्षम हो जाता है तो साधना सफल हो जाती है। तब वह जान जाएगा कि क्रोध क्यों पैदा हो रहा है? अहंकार और भय क्यों पैदा हो रहा है। कारण समझ में आ जाएगा। जितने निषेधात्मक भाव हैं, वे सारे एकत्रित मिल जाएंगे।

चोर जेल में था। वह सीखचों से बाहर झांक रहा था। एक आदमी ने पूछा–'अरे, किसकी प्रतीक्षा कर रहे हो? क्या कोई मिलने आने वाला है?' वह बोला– 'बाहर से कौन आएगा? मेरे परिवार के सारे सदस्य यहीं हैं, जेल में ही हैं। बाहर कोई है ही नहीं।'

सारे निषेधात्मक भाव भीतर हैं। बाहर से आने वाला कोई नहीं है। जब केन्द्र में स्थित लोभ पकड़ लिया जाएगा तब पता चलेगा कि अहंकार, भय, ईर्ष्या, मात्सर्य ये सब भीतर ही बैठे हैं। बात समझ में आ जाएगी। सचाई का उद्‌घाटन हो जाएगा।

17. विधेयात्मक भाव

दुनिया में कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जो न बदलता हो। सबमें परिवर्तन होता है। हृदय में भी परिवर्तन होता है। 'हृदय-परिवर्तन' इस प्रयोग का एक विशेष तात्पर्य है। यह कोई हृदय को ही बदल देना नहीं है, चेन्ज ऑफ हार्ट नहीं है। चेन्ज ऑफ हार्ट तो आज डॉक्टर करते ही हैं। वे कृत्रिम हृदय लगाकर आदमी को लंबे समय तक जीवित रख लेते हैं।

पति और पत्नी दोनों डाक्टर के पास गए। पति का हृदय कमजोर था। उसको बार-बार हृदय-रोग हो जाता था, हार्ट ट्रबल हो जाता था। डॉक्टर को दिखाया। डॉक्टर ने कहा–'ऑपरेशन करना होगा। ऑपरेशन हो जायेगा। मैं जीर्ण-शीर्ण को बदलकर, मजबूत हार्ट लगा दूंगा।

ऑपरेशन किया। हार्ट बदल दिया। वह स्वस्थ हो गया।

एक बार वह पत्नी डॉक्टर से मिली। डॉक्टर ने पूछा–कैसे हैं तुम्हारे पति? स्वस्थ हैं? हार्ट ठीक काम कर रहा है? वह बोली–डॉक्टर महोदय! पति बिल्कुल स्वस्थ हैं। हार्ट ठीक काम कर रहा है, पर आजकल उन्हें क्या हो गया कि वे झूठे वादे बहुत करते हैं, झूठे आश्वासन बहुत देने लगे हैं। डॉक्टर बोला–'अरे' मेरे से ही भूल हो गई। मैंने जल्दबाजी में एक राजनेता का हार्ट उन्हें लगा दिया।'

हृदय परिवर्तन

हार्ट बदल देने मात्र से हृदय-परिवर्तन हो गया, ऐसा मानना अज्ञानपूर्ण है। हम जिस हृदय-परिवर्तन की चर्चा कर रहे हैं, वह एक हृदय को निकाल कर कृत्रिम हृदय लगा देना नहीं है, किसी आदमी का हृदय दूसरे आदमी पर प्रत्यारोपित करना नहीं है। हृदय-परिवर्तन से हमारा तात्पर्य है निषेधात्मक भावों को समाप्त कर विधायक भावों को जगाना। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर दो धाराएं प्रवाहित होती हैं। एक है निषेधात्मक भावों की धारा और दूसरी है

विधेयात्मक भावों की धारा। घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, राग–ये सारे निषेधात्मक भाव हैं। इनकी एक धारा प्रवाहित हो रही है। मैत्री, अहिंसा, सहिष्णुता, आर्जव, मार्दव–ये विधेयात्मक भाव हैं। इनकी एक धारा प्रवाहित हो रही है। ये दोनों धाराएं प्रत्येक आदमी में प्रवाहित रहती हैं, पर हमारी इस दुनिया में निषेधात्मक भावों की धारा को प्रकट होने का बहुत अवसर मिलता है, अनेक निमित्त मिल जाते हैं। पग-पग पर इतने निमित्त हैं कि निषेधात्मक भाव सहजता से उत्पन्न हो जाते हैं। हमारा कोई भी आचरण या व्यवहार आकस्मिक नहीं होता। किसी को गुस्सा आता है तो हम सोचते हैं कि यह आकस्मिक है, पर कोई आवेश आकस्मिक नहीं आता। वह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। कोई घृणा करता है, वह आकस्मिक नहीं है। हमारे भीतर ये भाव निरंतर प्रवाहित हैं। उनकी धारा सतत चलती रहती है। निमित्त मिलने पर भाव प्रकट होते हैं। उनकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं होती। वे मात्र अभिव्यक्त होते हैं, उत्पन्न नहीं होते। वे नये रूप से नहीं जन्मते। वे जन्मे हुए ही हैं। निमित्त मिलता है और अभिव्यक्त हो जाते हैं।

व्यक्त पर्याय है आचरण

प्रत्येक पदार्थ के साथ दो पर्याय जुड़े हुए रहते हैं–व्यक्त और अव्यक्त। अव्यक्त पर्याय व्यक्त हो जाता है और व्यक्त पर्याय अव्यक्त हो जाता है। एक भावधारा अव्यक्त है, सूक्ष्म है। उसे निमित्त मिलता है और तब एक व्यक्त हो जाती है। व्यक्त होने पर हम इसे आचरण कह देते हैं। किसी भी आचरण या व्यवहार की व्याख्या आचरण और व्यवहार के स्वरूप के आधार पर नहीं की जा सकती। भावधारा के आधार पर की जा सकती है।

आचरण से हमें पता चल जाता है कि व्यक्ति में किस प्रकार की भावधारा प्रवाहित हो रही है। जो व्यक्ति क्षण-क्षण में क्रोध करता है, उत्तेजित होता है, भयभीत होता है, अहंकार-ग्रस्त होता है तो मान लेना चाहिए कि उसमें उस समय निषेधात्मक भावधारा प्रवाहित हो रही है और वह व्यक्ति उसी के प्रवाह में प्रवाहित होकर इन आवेशों से आविष्ट हो रहा है। कोई आदमी सहिष्णु है, क्षमाशील और विनयी है, अनुशासित और अहंकारशून्य है, मैत्री और प्रेम से परिपूर्ण है तो मान लेना चाहिए कि उसमें उस समय विधायक भावधारा बह रही है। यह सारा आकस्मिक नहीं होता। यदि आकस्मिक होता तो हर कोई कर लेता। व्यक्ति ने भीतर की धारा में जाकर विधायक भावधारा को सक्रिय बनाने का प्रयत्न किया है। वह भावधारा इस दिशा में प्रवाहित है और वह

निमित्त पाकर प्रकट हो जाती है। बड़ा आश्चर्य होता है। विरोधी निमित्त में भी दोनों प्रकार की घटनाएं मिलती हैं। अनुकूल निमित्त में घटना घटित होती है, आश्चर्य नहीं होता है। जैसे निमित्त है क्षमा का और जाग जाता है क्रोध, निमित्त है क्रोध का और जाग जाती है क्षमा। बड़े आश्चर्य की बात है।

एक कहानी है। शीतला देवी का मंदिर था। एक कौआ आकर बैठ गया। शीतला देवी बोली–अरे, यहां कैसे आए? क्यों बैठे हो यहां? कौआ बोला–क्या यहां कोई नहीं आ सकता? क्या इस स्थान पर तेरा ही अधिकार है? कौआ बैठा रहा। वह बींटे करने लगा। अनेक बार बींट की। शीतला बोली–अरे भाई कौआ! आज तो बहुत ठंडी-ठंडी बींट कर रहा है। कौए ने उत्तेजित होकर कहा–जो गर्म बींट करे उसे रख, मुझे यहां नहीं रहना है। कौआ उड़ गया। शीतला देवी बहुत सीधी-साधी बात कर रही थी। वह अपने आप में शांत थी। पर कौआ उत्तेजना से भरा हुआ बात कर रहा था। ऐसा बहुत बार होता है। क्षमा का निमित्त भी क्रोध जगा देता है और कई बार निमित्त मिलने पर भी क्रोध उभरता ही नहीं। तीर्थंकरों और साधकों की अनेक घटनाएं हमारे समक्ष हैं, जिसमें क्रोध और उत्तेजना को उभारने का प्रयत्न किया गया, पर वे तीर्थंकर और साधक क्षमा की ऊर्जा बिखेरते रहे। वे कुपित हुए ही नहीं। बार-बार प्रयत्न करने पर भी, प्रयत्न करने वाले को सफलता नहीं मिली।

महाराष्ट्र के एक महान साधक संत एकनाथ नदी में स्नान कर आते। एक व्यक्ति उन पर थूक देता। संत पुनः नदी पर जाते, स्नान करते और घर की ओर प्रस्थान करते। पर फिर वह व्यक्ति उन पर थूक देता है। वे पुनः स्नान कर आते। स्नान करने और थूकने का क्रम चलता रहा। उन्हें इक्कीस बार स्नान करना पड़ा। अंत में वह व्यक्ति हार गया। जब संत इक्कीसवीं बार स्नान कर आ रहे थे, तब पैरों में लुढ़ककर क्षमा-याचना करने लगा। संत ने उसे उठाकर छाती से लगाते हुए कहा–भाई! तुम मेरे परम सखा हो। मैं मां गोदावरी की गोद में प्रतिदिन एक बार जा पाता हूं। आज तुम्हारे योग से मां की गोद में इक्कीस बार जाने का सुअवसर मिला। धन्य हो गया। तुम मेरे उपकारी हो।

उपादान है भावधारा

क्या कारण है कि विरोधी निमित्तों के होने पर भी भिन्न प्रकार की घटनाएं घट जाती हैं। इन सारी बातों से यह पता चलता है कि भीतर में जिस प्रकार की भावधारा होती है, उसी प्रकार का आचरण अभिव्यक्त होता है। वहां निमित्त

गौण और अकिंचित्कर हो जाते हैं। उपादान का स्थान पहला और निमित्त का दूसरा। भावधारा उपादान है। यदि हम भीतर की भावधारा को मोड़ देते हैं तो बाहर के निमित्त बहुत प्रभाव नहीं डाल सकते। जब तक व्यक्ति ध्यान के द्वारा भीतर प्रवेश नहीं करता, भीतरी गहराइयों में नहीं उतरता और अपने अंतःकरण को पहचानने का प्रयत्न नहीं करता तब तक निमित्त हावी रहता है और तब आदमी उसी के प्रभाव में जीने लगता है, किंतु जिस व्यक्ति ने ध्यान के द्वारा अपने भावों को पहचान लिया है, उनके साथ संपर्क स्थापित कर लिया है, वहां निमित्त गौण हो जाते हैं और भाव प्रधान बन जाते हैं।

प्राचीन साहित्य में दस प्रकार के धर्म, चार या बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाएं तथा अनेक प्रकार के आलंबन बतलाए गए हैं। उनके प्रतिपादन का कारण क्या था? वह यही तो था कि साधक इन माध्यमों से भावों के साथ सीधा संपर्क स्थापित कर सके, भावधारा तक पहुंच सके और जो शुद्ध भावधारा है, विधायक भावधारा है, उसको जगा सके।

ध्यान करने वाले और ध्यान न करने वाले व्यक्ति तथा धर्म की आराधना करने वाले और न करने वाले व्यक्ति में यदि कोई भेदरेखा खींचनी हो तो यही खींची जा सकती है कि जो अपने प्रयत्नों के द्वारा विधायक भावों की धारा को सक्रिय करता है, प्रवाहित करता है, वह ध्यानी होता है, धार्मिक होता है, आराधक होता है। जो ऐसा नहीं कर पाता, जो निषेधात्मक भावों की धारा में विशेष रस लेता है, वह अधार्मिक होता है, वह ध्यान करने वाला नहीं होता। यह बहुत ही मनोवैज्ञानिक पहचान है धार्मिक और अधार्मिक की, ध्यानी और अध्यानी की। इसी भेदरेखा के आधार पर मनुष्य के सारे आचरणों और व्यवहारों की व्याख्या की जा सकती है।

आज लोग चिंतित हैं। दुनिया में हिंसक घटनाएं बहुत घटित हो रही हैं, झूठ बहुत बोला जा रहा है, चोरियां और डकैतियां अधिक हो रही हैं, बलात्कार और व्यभिचार बढ़ा है, ईर्ष्या और द्वेष का बोलबाला है, अपराध दिनोंदिन बढ़ रहे हैं, उपद्रव और आक्रामक वृत्तियां अनियंत्रित हो रही हैं, साम्राज्यवादी मनोवृत्ति फैल रही है इसका कारण क्या है? भावधाराओं के आधार पर यह सुगमता से कहा जा सकता है कि आज निषेधात्मक भावों की अधिक सक्रियता से हिंसा आदि को सहारा मिलता है और तब समाज में ये वृत्तियां अधिक पनपती हैं। प्रश्न होता है कि मनुष्य में विधायक भाव अधिक है

या निषेधात्मक भाव? किसको कम बताएं और किसको अधिक? प्रश्न जटिल है, पर जटिल प्रश्न का उत्तर भी हमें प्राप्त हो जाता है।

अधिक हैं मलद्वार

एक शुकराज राजा के पास गया। दोनों में संवाद हुआ। शुकराज की बुद्धि पर राजा स्तब्ध रह गया। उसे बहुत आश्चर्य हुआ। उसने पूछा–शुकराज! आज बहुत विलंब से पहुंचे। शुकराज बोला–महाराज! मैं भी अपनी जाति की प्रजा का राजा हूं। मुझे उसका पालन-पोषण करना होता है। सदस्यों के मामले निपटाने होते हैं। उनका न्याय करना होता है। आज एक ऐसा ही मामला सामने आ गया था, उसे निपटाने में समय लग गया।

दो सूए लड़ते-झगड़ते मेरे समक्ष आए। मैंने उनके विवाद का कारण पूछा। एक सूए ने कहा–राजन्! हम दोनों में 'मलद्वार' के विषय में विवाद हुआ। मैंने कहा–मलद्वार अधिक हैं और मुखद्वार कम हैं। यह कहता है कि मलद्वार उतने ही हैं जितने मुखद्वार। कम या अधिक नहीं हैं। शुकराज बोला–राजन्! यह जटिल प्रश्न था, पर मैंने अपने बुद्धिबल से उसे निपटा दिया, उसका समाधान दे दिया। राजा की जिज्ञासा बढ़ी। उसने पूछा–कैसे निपटाया? सुनाओ। शुकराज बोला–राजन्! जिनके मलद्वार हैं उनके मुखद्वार हैं और जिनके मुखद्वार हैं उनके मलद्वार हैं, किंतु ऐसे आदमी भी इस दुनिया में बहुत हैं जो अपनी बात से मुकर जाते हैं, इनकार कर जाते हैं, उन आदमियों के मुखद्वार नहीं होता, मलद्वार होता है। अतः मैंने कहा–दुनिया में मलद्वार अधिक हैं। मामला निपट गया।

इसी प्रकार आज दुनिया में निषेधात्मक भाव अधिक हैं विधायक भाव कम। होना तो यह चाहिए कि विधायक भाव अधिक हों या दोनों समतुल्य हों। पूरा समीकरण हो, किंतु समीकरण है नहीं। निषेधात्मक भावधारा अधिक तेज है, गतिशील है, इसलिए वाणी की विषमता, भावों की विषमता और आचरणों की विषमता अत्यधिक मात्रा में है। जब निषेधात्मक भावों का इतना आधिपत्य है, विधायक भावों को जगा पाना बहुत कठिन हो जाता है। बड़ी समस्या है, किंतु जब हृदय-परिवर्तन की समस्या पर विचार करते हैं तो हमें प्रयत्न करना होगा कि हम ऐसे आलंबनों को स्वीकार करें, जिनके द्वारा निषेधात्मक भाव की धारा गौण बन जाए और विधायक भावों की धारा प्रधान बन जाए।

आदमी किसी भी चीज को यकायक मिटा नहीं सकता। जो स्थिर हो जाता है उसे निकालना कठिन होता है। व्यवहार में भी हम यह देखते हैं जो

अफसर गजटेड लिस्ट में आ जाते हैं, फिर सरकार भी उन्हें अवधि से पहले निकाल नहीं सकती। यदि सरकार ऐसा करती है तो न्यायालय उस अफसर की मदद करने के लिए तैयार है। निलंबित व्यक्ति की सर्विस पुनः चालू हो जाती है। सरकार को न्यायालय का आदेश मानना होता है। सरकार निलंबित नहीं कर सकती, पर इतना अवश्य कर सकती है कि अफसर को ऐसे प्रदेश या स्थान में स्थानांतरित कर देती है कि उसे बिना निलंबन, निलंबन का अनुभव हो जाता है।

निलंबन निषेधात्म भावों का

निषेधात्मक भावों की भी यही स्थिति है। वे इतनी दृढ़ता से स्थापित हो चुके हैं कि उन्हें यकायक निलंबित करना, निकाल बाहर करना, किसी के वश की बात नहीं है, पर इतना अवश्य किया जा सकता है कि उनकी मुख्यता को छीनकर, उन्हें गौणता दी जाती है। जब विधायक भाव प्रबल होता है, तब निषेधात्मक भाव निर्बल हो जाता है। विधायक भाव को प्रबल करने का एक मात्र उपाय है प्रेक्षा, देखना। वस्तुतः हम देखना नहीं जानते, साथ में मिल जाना जानते हैं। हम घटना के द्रष्टा बनना नहीं जानते, उसे भोगना जानते हैं। जब-जब हम घटना के साथ जुड़ते हैं, तब-जब घटना को भोगने लग जाते हैं और निषेधात्मक भावों को उभरने का प्रोत्साहन मिलता है। यदि हम द्रष्टा बनकर रह सकें, घटना को जान सकें, घटना को देख सकें तो निषेधात्मक भाव अपने आप कमजोर हो जाते हैं, गौण हो जाते हैं।

आचार्य वाग्भट्ट ने आरोग्य और रोग की व्याख्या करते हुए लिखा– **दोषाणां साम्यं आरोग्यम्। दोषाणां वैषम्यं रोगः।** दोषों की समावस्था आरोग्य है और दोषों की विषम अवस्था रोग है। शरीर के तीन दोष माने जाते हैं वात, पित्त और कफ। दोषों को सर्वथा मिटा देने का अर्थ है मृत्यु। साधारण आदमी यही सोचता है कि इन दोषों को मिटा देना चाहिए। गैस की बीमारी वाला सोचता है कि वायु को समूल नष्ट कर देने से बीमारी मिट जाएगी। इसी प्रकार पित्त और कफ वाला भी सोचता है। जिस दिन वायु समाप्त हो जाएगी, तब शरीर नहीं बचेगा। जिस दिन कफ और पित्त से छुटकारा मिल जाएगा, उस दिन प्राण से भी छुटकारा मिल जाएगा। वात, पित्त और कफ तीनों दोष हैं, पर इनके बिना जीवन नहीं चलता। पूरा जीवन इनके आधार पर चलता है। इनको मिटाने की आवश्यकता नहीं है। इनके मिट जाने पर जीवन का संचालन ही नहीं हो सकता। ये दोष बढ़ते हैं, घटते हैं, विषम हो जाते हैं, तब रोग उत्पन्न

होता है। जब वात बढ़ जाता है तो एक प्रकार की बीमारी सामने आ जाती है। जब पित्त बढ़ जाता है तो दूसरे प्रकार की बीमारी उभर आती है। जब कफ बढ़ जाता है तब तीसरे प्रकार की बीमारी पैदा हो जाती है। जब ये तीनों घट जाते हैं, कम हो जाते हैं, तब भी अनेक बीमारियां उभर आती हैं। इनमें से एक भी घट-बढ़ जाता है तो रोग पैदा कर देता है। इन दोषों की जितनी विषमता है, वह सारी बीमारी है और इन दोषों की जितनी समता है, वह आरोग्य है। आरोग्य का अर्थ होता है दोषों का समीकरण, न न्यून और न अधिक। शरीर संचालन के लिए जितने जरूरी हैं, उतने रहें।

दोष हैं जीवन संचालक

मानसिक दोषों के विषय में भी यह कहा जा सकता है कि जब तक हमारे जीवन का संचालन है, हम यह कल्पना नहीं कर सकते कि राग समाप्त हो जाए। यदि जीवन से राग समाप्त हो जाता है तो फिर जीवन कोई दूसरा मिलेगा ही नहीं, फिर तो जीवन-मुक्ति ही मिलेगी। राग के बिना जीवन का संचालन नहीं हो सकता। द्वेष के बिना भी जीवन का संचालन नहीं हो सकता। राग और द्वेष को, सांख्य दर्शन या चरक की भाषा में, रजस् और तमस् गुण कहा जा सकता है। रजोगुण का अर्थ है राग और तमोगुण का अर्थ है द्वेष। ये दोनों गुण हमारे जीवन के संचालक सूत्र हैं। इनके बिना जीवन संचालित नहीं हो सकता। किसी वीतराग को किसी दुकान पर बिठा दिया जाये तो एक दिन भी दुकान चल नहीं सकती। वीतराग को कोई मतलब नहीं होता कि दुकान से कोई चोरी कर माल ले जाता है या पैसे देकर ले जाता है। दुकान रहेगी ही नहीं, वह सिर्फ मकान बन जाएगा।

यदि किसी केवली को राज्य का संचालक बना दिया जाय तो राज्य दूसरे ही दिन किसी दूसरे के हाथ में चला जायेगा। केवली निष्पक्ष होता है। न किसी के प्रति राग, न किसी के प्रति द्वेष, न इधर, न उधर। ऐसे व्यक्ति से राज्य का संचालन नहीं हो सकता। उसे न आक्रमण की चिंता सताती है और न जमीन-जायदाद की चिंता सताती है। कोई हिमालय पर कब्जा कर ले तो वह चिंतित नहीं होता और कोई मूल विभाग हड़प ले तो भी वह चिंतित नहीं होता। वह सब सीमाओं से अतीत होता है। उसे राज्य की चिंता ही नहीं होती। इन सारी व्यवस्थाओं, जीवन की व्यवस्थाओं और जीवन का सारा संचालन राग और द्वेष–इन दो दोषों द्वारा होता है। यह सुनकर अचंभा हो सकता है कि एक मुनि, एक आचार्य कैसी बातें कर रहे हैं? मुझे समर्थन वीतराग का करना चाहिए

था, केवली का करना चाहिए था, किंतु यह यथार्थ है, इसीलिए जैनाचार्यों ने एक शब्द की संयोजना की-प्रशस्त राग, अप्रशस्त राग, प्रशस्त द्वेष, अप्रशस्त द्वेष। उन्होंने राग को भी प्रशस्त और अप्रशस्त तथा द्वेष को भी प्रशस्त और अप्रशस्त बना दिया। गौतम महावीर के प्रति राग रखते थे, भक्ति रखते थे। कैसे हिम्मत हो, उसे बुरा कहने की? कैसे बुरा कहा जा सकता है? दूसरे को कहा जा सकता है, पर जहां राग के पात्र हों महावीर तब कैसे बुरा बताया जा सकता है? तब आचार्य ने उसे प्रशस्तराग कहकर पुकारा। इतना मान्य हो सकता है। जीवन को चलाने के लिए इसे अस्वीकार कैसे किया जाये? इसके बिना जीवन कैसे चले? जीवन को चलाने के लिए भक्ति की जरूरत है, जीवन को प्रेरणा देने के लिए अनुराग की जरूरत है, प्रेम की जरूरत है। इन्हें अस्वीकार कैसे किया जाए? आगमों में कहा गया है कि धार्मिक व्यक्ति की अस्थि और मज्जा धर्म के प्रेम से और अनुराग से रंजित होती है। वह इनसे रंगा हुआ होता है। रंगा हुआ व्यक्ति वीतराग तो नहीं हो सकता, पर इसे प्रशस्त राग माना गया है।

एक आचार्य अपने शिष्य को उलाहना दे रहे हैं। शिष्य ने अपराध किया। आचार्य की भृकुटी तन गई, आंखें लाल हो गईं। शिष्य कांप रहा है। यह प्रशस्त द्वेष की प्रवृत्ति है।

इस प्रकार राग भी प्रशस्त और अप्रशस्त होता है। द्वेष भी प्रशस्त और अप्रशस्त-दोनों होते हैं। कोई व्यक्ति घृणा या तिरस्कारवश किसी को तर्जना, ताड़ना दे रहा है। कोई व्यक्ति वासना से अभिभूत होकर राग कर रहा है ये राग और द्वेष अप्रशस्त हैं। अनेक प्रकार की प्रवृत्तियां होती हैं। प्रशस्त राग और प्रशस्त द्वेष छोड़ना मुश्किल है, असंभव है। मैं असंभव को संभव बनाने की बात नहीं कर रहा हूं कि ध्यान के माध्यम से चेतना का ऐसा निर्माण करे, जिससे राग-द्वेष समूचा नष्ट हो जाए। यह संभव है, पर यह बहुत आगे की अवस्था है।

साधना से स्वास्थ्य

अनेक लोग सोचते हैं कि ध्यान के द्वारा वीतराग बन जाएंगे तो फिर जीवन कैसे चला पाएंगे? जीवन की चिंता करें। अभी तो चिंता वह करे कि वात, पित्त और कफ का दोष बढ़ गया है, बीमारी बढ़ गई है, उसे कम कैसे करे? दोषों का समीकरण कैसे करे? आज चिंता का विषय यह होना चाहिए कि मानसिक चिंताएं जो बढ़ी हैं, उनमें राग आदि का मुख्य हाथ है। हम उन बीमारियों को कैसे मिटाएं?

साधना, ध्यान, हृदय-परिवर्तन या विधायक भावों की चर्चा इसीलिए की जाती है कि आज मनोदोष बहुत बढ़ गया है, विषम हो गया है। राग और द्वेष में वैषम्य है। कहीं राग अधिक है तो कहीं द्वेष अधिक है। कहीं रोग से पैदा होने वाले विकार अधिक हैं, कहीं द्वेष से उत्पन्न होने वाले विकार अधिक हैं। वैषम्य, मानसिक विकार, मानसिक भय और मानसिक रोगों को पैदा कर रहा है। इस स्थिति में समीकरण आवश्यक है। यह ध्यान के द्वारा संभव है।

हम उपर्युक्त उपायों के द्वारा राग और द्वेष का साम्य करें, जिससे हमारा आरोग्य बढ़े। कम से कम हमें मानसिक आरोग्य तो प्राप्त हो, वीतरागता की प्राप्ति हो या न हो। वीतरागता की बात को हम एक बार छोड़ दें। आज साधक को जीवन चलाना है, समाज और राष्ट्र का संचालन करना है। उसका स्वयं के प्रति, समाज और राष्ट्र के प्रति मोह है। इस स्थिति में वीतरागता की बात प्राप्त नहीं होती। यह भी सत्य है कि यहां साधना के लिए आने वाले वीतराग बनने के लिए नहीं आए हैं। यद्यपि अंतिम लक्ष्य यही है, पर अभी हम प्रारंभ से चल रहे हैं।

यदि प्रेक्षाध्यान शिविर में आने वाले सभी सदस्य वीतराग बनने के लिए आते हैं तो गड़बड़ी पैदा हो जाएगी। समाज की पूरी व्यवस्था लड़खड़ा जाएगी। अपने बच्चे-बच्चियों को ध्यान शिविर में भेजने वाले माता-पिता सोचेंगे कि भेजें या न भेजें। यदि वहां से वीतराग बनकर लौटेंगे तो हमारे किसी काम के नहीं रहेंगे। न पति काम का रहेगा, न पत्नी और न माता-पिता और न लड़के-लड़कियां। सभी संबंधों से अतीत हो जाएंगे। इसका तात्पर्य यह होगा कि प्रेक्षा का मंदिर खाली हो जाएगा। यहां प्रेक्षा-प्रदीप में लोग आ रहे हैं, यह सोचकर नहीं कि हमें वीतराग बना दिया जाएगा। यह सोचकर कि हमारे दोषों की विषमता मिटेगी, आरोग्य प्राप्त होगा। विषमता मिटे, साम्य आए, रोग मिटे, आरोग्य आए—यही एकमात्र आकांक्षा है शिविर साधकों की।

सतत स्मृति से समता

आयुर्वेद विज्ञान की भाषा में जिसे आरोग्य कहा जाता है, अध्यात्म विज्ञान की भाषा में उसे समता कहा जाता है। दोनों एक ही हैं। आयुर्वेद के आचार्यों ने आरोग्य की बहुत सुंदर परिभाषा दी है दोषाणां साम्यं आरोग्यम् दोषों का समीकरण आरोग्य है, परंतु प्रश्न है कि समीकरण का उपाय क्या है? इसका एक उपाय है सतत-स्मृति, सतत जागरूकता। मानस का ऐसा निर्माण हो जाए कि विधायक भावों के स्मृति निरंतर बनी रहे। विधायक भावों

के सूत्र हैं–सत्य, क्षमा, मृदुता, ऋजुता। ये सूत्र हैं, शब्द हैं। क्या इन शब्दों को रटने मात्र से कोई ऋजु या मृदु हो जाएगा। क्रूरता या माया मिट जाएगी? ऐसा घटित नहीं होगा। ये विधायक भावों का प्रतिनिधित्व करने वाले शब्द हैं। इनका चयन बहुत मनोवैज्ञानिक हैं। ये केवल शब्द नहीं, अपितु विधायक भावों के प्रतिनिधि हैं। जो विधायक भाव अंतराल में छिपे हुए हैं, जिन्हें देखा नहीं जा सकता, जाना नहीं जा सकता, उसके साथ संपर्क स्थापित करने के लिए सत्य आदि शब्द संपर्क सूत्र बन जाते हैं। आचार्यों का यह प्रतिपादन यथार्थ है। सत्य शब्द की भावना में उतरने पर विधायक भाव जाग जाएगा। मृदुता और ऋजुता शब्द की गहराई में डुबकियां लेते ही मृदुता और ऋजुता का विधायक भाव जागृत हो जाएगा। आचार्य कोई भी बात बतलाते हैं, वह मंत्र रूप होती है। आचार्य का अर्थ है मंत्रदाता। वे मंत्रदान करते हैं। मंत्र का अर्थ होता है रहस्य, गूढ़ बात। वह छिपी रहती है। कुछ थोड़ा सामने आता है और बहुत कुछ छुपा का छुपा रह जाता है। पूरी बात समझ में नहीं आती, सामने नहीं आती। पूरी बात आचार्य ही समझा सकते हैं। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता है कि सारी बातें समझ ली गई हैं और जब रहस्य खुलता है तो प्रतीत होता है कि कुछ भी नहीं समझा गया है। उस रहस्य की चाबी आचार्य के हाथ में ही रह जाती है।

भावों को हम जान गए। उनका प्रतिनिधित्व करने वाले शब्द भी हम जान गए, पर दोनों के बीच संपर्क-सूत्र को हम नहीं जान पाए। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाला साधक उस संपर्क-सूत्र को भी जान जाता है। वह है जागरूकता, भाव क्रिया। इसका एक अर्थ है सतत स्मृति। जिस गुण या दोष को प्रकट करना चाहते हैं, उसके प्रति सतत उपयोग, सतत स्मृति होगी तो वह अवश्य ही प्रकट होगा। कभी उसकी स्मृति की और फिर दीर्घकाल तक उसे भुला दिया तो वह प्रकट नहीं होगा।

निरंतर अभ्यास

यह सतत धारा या अखंड धारा की बात बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। बूंद-बूंद से वह काम नहीं हो सकता, जो काम धारा से होता है। कभी कुछ किया, कभी नहीं किया, मन हुआ तब ध्यान करने बैठ गए। मूड नहीं हुआ तो दो महीने भी ध्यान नहीं किया, यह बूंद-बूंद की प्रक्रिया है। यह प्रक्रिया अधिक लाभप्रद नहीं होती। सफलता के लिए निरंतरता चाहिए। जिस भाव को हमें विकसित

करना है, प्रकट करना है, उसका सतत स्मृति करनी चाहिए। उसका निरंतर अभ्यास करने से वह अवश्य ही प्रकट हो जाता है।

सतत स्मृति, सतत जागरूकता। यह संपर्क-सूत्र है जो हमें भीतरी भावों से जोड़ता है।

शब्द मंत्र होता है। प्रत्येक शब्द मंत्र है। आगम का एक श्लोक है–

धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥

हमें लगता है कि यह उपदेश वाक्य है, पर यह है बड़ा मंत्र। इसी प्रकार एक और श्लोक है–

चइत्ता भारहं वासं, चक्कवट्टी महिड्ढिओ।
संती संतिकरे लोऐ, पत्तो गई मणुत्तरं॥

यह भी बहुत बड़ा मंत्र है। जैन आचार्यों ने आठ कर्मों को क्षीण करने के लिए भिन्न-भिन्न मंत्रों की रचना की। ज्ञानावरण कर्म को क्षीण करने का मंत्र है अनन्तज्ञानिभ्यो नमः। दर्शनावरण कर्म को क्षीण करने का मंत्र है अनन्तदर्शनिभ्यो नमः। अंतराय कर्म को क्षीण करने का मंत्र है अनन्तवीर्येभ्यो नमः। इस शब्द-रचना में कोई गूढ़ता नहीं लगती, पर ये सारे शब्द ज्ञान, दर्शन और शक्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। यदि अनंतज्ञान, अनंतदर्शन और अनंतवीर्य की सतत स्मृति बनी रहे तो वह इतना शक्तिशाली मंत्र बन जाएगा कि वे भाव हमारे भीतर अवश्य प्रकट होंगे।

आज सम्मोहन चिकित्सा करने वाले या मनोवैज्ञानिक चिकित्सक बीमार व्यक्ति को कुछ शब्द दे देते हैं और उनको बार-बार दोहराते रहने का निर्देश देते हैं। उठते-बैठते, सोते-जागते उन शब्दों को दोहराने की बात कहते हैं। यह इसलिए कि सतत दोहराने से स्मृति बनी रहती है और बीमारी का परिणाम कमजोर होने लग जाता है तथा आरोग्य का परिणमन प्रारंभ हो जाता है। आयुर्वेद का सूत्र है कालः परिणामः। काल का अर्थ है परिणाम। काल का परिणमन प्रारम्भ हो जाता है।

विधायक भावों को जगाने के लिए सतत स्मृति की प्रक्रिया बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका प्रयोग कर हम विधायक भावों को प्रधान बना सकते हैं और निषेधात्मक भावों को गौणता दे सकते हैं।

18. हृदय परिवर्तन का प्रशिक्षण

दो आदमी जा रहे थे। रास्ते में नदी आ गई। पानी गहरा था। एक व्यक्ति नदी के तट पर खड़ा रह गया। दूसरा व्यक्ति नदी में उतरा और देखते-देखते दूसरे तट पर पहुंच गया। ऐसा क्यों नदी को पार करना एक समस्या है? एक खड़ा रह गया, दूसरा पार कर गया। नदी पार करना उसके लिए कोई बड़ी समस्या नहीं जिसने तैरने का प्रशिक्षण ले रखा था, उसके लिए जो प्रशिक्षण शून्य है। प्रश्न है प्रशिक्षण का।

आवश्यक है प्रशिक्षण

जीवन में अनेक समस्याएं आती हैं। नदी से भी भयंकर समस्याएं आती हैं। नदी को पार करना आसान होता है। इन समस्याओं को पार करना बहुत कठिन काम है, पर प्रशिक्षित आदमी उन सभी समस्याओं का पार पा जाता है। जिसका मस्तिष्क और हृदय प्रशिक्षित नहीं है, वह तट पर ही खड़ा रह जाता है, पार नहीं पहुंच पाता। दूसरा तट उसे कभी नहीं मिल पाता। जीवन में प्रशिक्षण का बहुत महत्त्व है। जो कार्य सामान्य आदमी नहीं कर सकता, प्रशिक्षित आदमी वह कार्य कर लेता है। नाट्य, कलाएं, कौशल और शिल्प– ये सब प्रशिक्षण-सापेक्ष हैं। सारे कार्य प्रशिक्षण के द्वारा संपन्न हो जाते हैं। प्रशिक्षण नहीं होता है तो सूई में धागा पिरोना भी समस्या बन जाती है। हर कोई व्यक्ति सूई नहीं पिरो सकता। हर बात समस्या बन जाती है। बड़ी-छोटी, सभी समस्याओं का पार प्रशिक्षण के द्वारा ही पाया जा सकता है। जो आदमी रोटी बनाना नहीं जानता, उसे रोटी बनाने रसोई में बिठा दिया जाए तो खाने वालों को रोटी भी नहीं मिलेगी।

केवल मनुष्य ही नहीं हाथी, घोड़े, बंदर और कुत्ते भी प्रशिक्षित किए जाते हैं। इनके करतबों को देखकर आदमी चकित रह जाते हैं। हम इस बात को अस्वीकार नहीं करेंगे कि प्रशिक्षण हमारे समूचे जीवन पर एकाधिकार जमाए

हुए है। कोई व्यक्ति धार्मिक बन जाता है और प्रशिक्षण नहीं लेता है तो बड़ी आश्चर्य की बात होती है। जैसे मंत्री बनने का अधिकार भी बिना प्रशिक्षण के है, वैसे ही लगता है कि धार्मिक बनने का अधिकार भी बिना प्रशिक्षण के है। माना जाता है कि धार्मिक के लिए प्रशिक्षण की कोई आवश्यकता ही नहीं, यह भ्रांति है। अप्रशिक्षित धार्मिक धर्म का भी बहुत भला नहीं करता और अपना भी भला नहीं करता।

हृदय परिवर्तन की चर्चा हो रही है, पर प्रशिक्षण के बिना हृदय-परिवर्तन कैसे होगा। इसके लिए बहुत कठोर प्रशिक्षण की जरूरत है। इस प्रशिक्षण के अभाव में हृदय-परिवर्तन की बात संभव नहीं हो सकती। प्रशिक्षण के बिना अहिंसा जीवन में सफल हो सके, यह संभव नहीं है।

प्रशिक्षण अहिंसा का

एक व्यक्ति ने कहा–जब युद्ध होता है, तब अहिंसा विफल हो जाती है। युद्ध में अहिंसक क्या करेगा?

मैंने कहा–अहिंसक कभी विफल नहीं होता। अहिंसा कभी विफल नहीं होती। विफल होता है पुरुषार्थ का अभाव। हमने अहिंसा का प्रशिक्षण कब दिया? आज तक हमने इस ओर प्रयत्न किया ही नहीं। यदि अहिंसा का प्रशिक्षण मिलता है तो व्यक्ति में करने की शक्ति विकसित होती है। युद्ध के स्तर पर या जीवन के किसी भी द्वंद्व के स्तर पर जिस व्यक्ति के मन में मरने की चेतना जाग जाती है, मरने का भय समाप्त हो जाता है, वह कभी असफल नहीं हो सकता। असफलता का मूल कारण है–जीवन का मोह और मृत्यु का भय। जिस व्यक्ति में जीने का मोह है, मरने का भय है, वह आदमी युद्ध में ही क्या, सर्वत्र असफल रहता है। जिस व्यक्ति में जीने का मोह समाप्त हो जाता है और मरने की विभीषिका नहीं रहती, वही आदमी अहिंसक हो सकता है। कभी विफल नहीं होता।

युद्ध में जाने वाला सैनिक क्या कभी जीवन की गारंटी लेकर जाता है? वह तो यह सोचकर जाता है कि मरना तो बहुत संभव है, बच गया तो बड़ी बात है। वह मौत को सामने रख कर चलता है। बच जाता है तो भाग्य है। ऐसा क्यों होता है? क्यों लड़ता है वह? हिंसक साधनों से लड़ने वाला व्यक्ति इसीलिए लड़ता है कि उसे उस कला का प्रशिक्षण मिला है। वह जिस दिन सेना में भर्ती होता है, उस दिन से लेकर जीवन भर प्रशिक्षण का क्रम चलता ही रहता है।

रोज अभ्यास, सिद्धांत का प्रशिक्षण, अभ्यास का क्रम–ये बराबर चलते हैं। हिंसा का जितना प्रशिक्षण दिया जाता है, अहिंसा का उससे आधा प्रशिक्षण प्राप्त हो तो युद्ध भी अहिंसकों द्वारा लड़ा जा सकता है और पूर्ण निर्भीकता के साथ लड़ा जा सकता है, पर आज स्थिति ऐसी है कि न अहिंसा का प्रशिक्षण ही दिया जा रहा है और न अहिंसकों को प्रशिक्षण देने की कोई चिंता ही है। सामान्यतः यह मान लिया गया कि अहिंसा पर हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। हिंसा तो ऊपर से थोपी जाती है, इसलिए उसकी प्रशिक्षण देने की आवश्यकता होती है। अहिंसा के लिए किसी भी प्रशिक्षण की जरूरत नहीं है। यह भ्रांति है। प्रशिक्षण के अभाव में सत्य विफल हो रहा है, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य विफल हो रहा है। यह कहा जा सकता है कि जीवन की सारी सचाइयां, जीवन के सारे सत्य इसलिए विफल हो रहे हैं कि इनका कोई प्रशिक्षण नहीं मिल रहा है।

प्रशिक्षण के घटक तत्त्व

प्रेक्षाध्यान का शिविर प्रशिक्षण का शिविर है। इसमें अध्यात्म का प्रशिक्षण होता है। प्रशिक्षण के तीन घटक तत्त्व हैं–

1. आस्था का निर्माण। 2. उपाय-बोध। 3. अभ्यास।

आदमी जो काम करता है या करना चाहता है यदि उस कार्य के प्रति आस्था नहीं बनी है तो वह अपने कार्य में कभी सफल नहीं हो सकता। सफलता की पहली शर्त है आस्था का निर्माण। जिस कार्य के प्रति आस्था निर्मित हो जाती है, उस कार्य में हम सफल हो जाते हैं। जिस कार्य के प्रति आस्था का निर्माण नहीं होता, उसमें हम विफल हो जाते हैं। विफलता का पहला चिह्न है आस्था का न होना।

प्रशिक्षण का दूसरा सूत्र है–उपाय-बोध। सफलता के लिए यह भी अनिवार्य तत्त्व है। आस्था है, पर उपाय नहीं है, मार्ग उपलब्ध नहीं है, ज्ञान नहीं है, युक्ति का अवबोध नहीं है तो कार्य निष्पन्न नहीं होगा। अनेक लोग ऐसे होते हैं, जो यह अनुभव ही नहीं करते कि वे क्या कर रहे हैं? उन्हें क्या होना है? वे अपनी उलझनों में ही उलझे रहते हैं।

एक आदमी बस में खड़े-खड़े सफर कर रहा था। पास में बैठे लोगों ने कहा–'अरे, बैठ जाओ। अभी गांव दूर है।' वह बोला–कैसे बैठ जाऊं? तुम्हें पता नहीं है, मुझे जल्दी पहुंचना है। मेरे पास बैठने का समय ही नहीं है।

आदमी अपनी ही उलझनों में और अज्ञान में उलझा रहता है। उसमें ऐसा दृष्टिमोह और दृष्टिभ्रम पैदा हो जाता है कि वह सचाई को पकड़ ही नहीं पाता।

उपाय-बोध

उपाय-बोध के बिना प्रशिक्षण का क्रम सफल नहीं हो सकता। हमें उपाय चाहिए।

मगध के सम्राट श्रेणिक के पास सेचनक नामक गंधहस्ती था। उसकी गंध मात्र से दूसरे सारे हाथी निवीर्य हो जाते थे। एक बार वह हाथी नदी पार कर रहा था। एक मगरमच्छ ने उसे पकड़ लिया। हाथी बहुत शक्तिशाली था, पर वह फंस गया। हमारी इस दुनिया में कोई एक प्राणी ही शक्तिशाली नहीं होता। चारों ओर शक्तिशाली प्राणी भरे पड़े हैं। नदी में मगरमच्छ बहुत शक्तिशाली होता है।

राजा को ज्ञात हुआ। अनेक उपाय किये गए, पर मगरमच्छ ने हाथी को नहीं छोड़ा। राजा ने महामंत्री अभयकुमार से उपाय पूछा। उसने कहा—महाराज! यदि जलकांत मणि मिल जाए तो छुड़ाया जा सकता है, अन्यथा नहीं। जलकांत मणि का यह प्रभाव है कि पानी में उसे डालते ही रास्ता बन जाता है, पानी हट जाता है। राजा ने घोषणा कराई कि यदि कोई व्यक्ति जलकांत मणि प्राप्त करायेगा तो मैं उसे अपनी कन्या ब्याह दूंगा। बड़ी घोषणा थी।

संयोग की बात है उसी दिन एक हलवाई के पास एक लड्डू आया था। उसमें से एक मणि निकली थी। हलवाई ने उसे पानी में डाला, साफ करने के लिए। पानी फट गया। घोषणा सुनकर वह उस मणि को लेकर दौड़ा-दौड़ा उस राजा के पास गया। अभयकुमार ने उस मणि को पहचान लिया। तत्काल उसे नदी के पानी में डाला, पानी फट गया, स्थल बन गया। फलतः मगरमच्छ कमजोर पड़ गया। उसकी पकड़ ढीली हो गई। हाथी की शक्ति बढ़ गई। वह छूट गया।

समस्या की पकड़ कितनी ही गहरी हो, समस्या कितनी ही विकट हो, हमारे जीवन के सेचनक को पकड़े हुए हो, गंधहस्ती को कितना ही विकराल मगरमच्छ पकड़े हुए हो, यदि उचित युक्ति मिल जाती है तो समाधान मिल जाता है।

प्रशिक्षण का महत्त्वपूर्ण सूत्र है उपाय-बोध, उपाय की जानकारी। मन बड़ा जटिल है। उसकी चंचलता कम समस्या नहीं है। बड़े-बड़े विकट काम करने वाले भी अपने मन पर काबू नहीं रख पाते। विश्व में जितनी भी बड़ी

समस्याएं हैं, उनमें मन की चंचलता भी एक है। मन की चंचलता को कम करना, मन को स्थिर करना, एकाग्र करना, मन रहित स्थिति का निर्माण करना, निर्विचार और निर्विकल्प स्थिति का निर्माण करना बहुत बड़ी समस्या है। सब समस्याओं से आगे की समस्या है, पर उपाय-बोध के कारण इसका भी समाधान हो जाता है।

प्रेक्षाध्यान के शिविरों में आस्था का निर्माण होता है, आस्था का बोध होता है और उपाय की जानकारी होती है। एक घंटा ध्यान करते हैं। ध्यान पूरा होने पर साधक पूछते हैं क्या आज ध्यान दस मिनट का ही कराया था? ध्यान-काल में काल-बोध समाप्त हो जाता है। जहां गहन एकाग्रता होती है वहां काल-बोध समाप्त हो जाता है। देश और काल का बोध चंचलता में अधिक होता है। गहरी एकाग्रता में ये दूरियां मिट जाती है।

लेश्याध्यान

लेश्याध्यान रंगध्यान हृदय-परिवर्तन के लिए महत्त्वपूर्ण ध्यान है। यह हमारे अंतःकरण को प्रभावित करता है। लेश्याध्यान के प्रयोग से गुजरने के पश्चात् अनेक साधक-साधिकाओं ने कहा—आज तो मन ऐसा जमा कि उसे अपने बिंदु से हटाने की इच्छा ही नहीं हुई। मैंने सोचा—एक ओर समस्या है कि मन जमता ही नहीं तो दूसरी ओर यह समस्या है कि मन हटता ही नहीं। कभी तो समस्या होती है कि दूध जमता ही नहीं और कभी इतना गाढ़ा जम जाता है कि उसे काटना पड़ता है। दोनों ओर समस्याएं हैं।

हम पर्यायों के जगत में जीते हैं। द्रव्य के जगत में हमारा प्रवेश नहीं है। हमारा सारा जीवन पर्याय का जीवन है। पर्यायें अनंत हैं। उनका कहीं अंत नहीं आता। इन पर्यायों में आदमी खो जाता है। एक के बाद दूसरा पर्याय उभरता रहता है। दूध के बाद दही, दही के बाद मक्खन। तरलता के बाद सघनता और सघनता के बाद प्रगाढ़ता का पर्याय। ये सारे पर्याय आते हैं, पर ये सारे पर्याय निमित्त से होते हैं। ये पर्याय उपाय के द्वारा, युक्ति के द्वारा होते हैं।

उपाय-बोध के द्वारा सबकुछ हो सकता है। उपाय नहीं होता तो दूध दही नहीं बनता।

हम प्रेक्षा-ध्यान के अभ्यास से युक्तिबोध करते हैं, युक्तियों को जानते हैं कि मन को गाढ़ा कैसे बनाया जा सकता है? मन को कैसे जमाया जा सकता है? उसकी तरलता को कैसे समाप्त किया जा सकता है? अनेक उपाय है।

रंगध्यान एक उपाय है। चैतन्यकेन्द्र प्रेक्षा एक उपाय है। शरीर प्रेक्षा एक उपाय है। देखना एक बहुत बड़ा उपाय है। सोचना उतना बड़ा उपाय नहीं है, जितना बड़ा उपाय है देखना। सोचना मन का एक कार्य है। सोचने का अर्थ है चिंतन करना, चंचल होना।

चंचलता और चिंतन दोनों एक साथ होते हैं। चंचलता के बिना चिंतन नहीं होता और चिंतन के बिना चंचलता नहीं होती। सोचना एक पर्याय है, देखना दूसरी पर्याय है। देखने में चंचलता अपने आप समाप्त हो जाती है। देखना और जानना संवेदन से मुक्त होना है। संवेदन चंचलता पैदा करता है। ज्ञान और दर्शन, जानना और देखना चंचलता को समाप्त करते हैं।

दर्शन बहुत बड़ा तत्त्व है। आज का दर्शन बुद्धि के सहारे चलने वाला दर्शन है। यह बुद्धि और तर्क के जाल में लिपटा हुआ दर्शन है। वह आदमी को भटकाता है, पहुंचाता नहीं। दर्शन का मूल अर्थ है–साक्षात्कार। जहां साक्षात्कार होता है, वहां सारी दूरियां समाप्त हो जाती है, सारे व्यवधान समाप्त हो जाते हैं, ज्ञेय और ज्ञाता के बीच की दूरी मिट जाती है। ज्ञाता ज्ञेय को साक्षात् जान लेता है, अव्यवहित जान लेता है, निकटता से जान लेता है। दोनों में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। दर्शन का मूल अर्थ यह है।

मैं इसी दर्शन की चर्चा कर रहा हूं। प्रेक्षाध्यान दर्शन का प्रयोग है, साक्षात्कार करने की प्रक्रिया है। रंगों के ध्यान में हम सुझाव देते हैं–ज्योतिकेन्द्र पर श्वेत रंग का साक्षात्कार करें, आनंदकेन्द्र पर हरे रंग का साक्षात्कार करें, विशुद्धिकेन्द्र पर नीले रंग का साक्षात्कार करें। आप सोच सकते हैं कि बंद आंखों से रंगों का साक्षात्कार कैसे होगा? हमारी आस्था आंखों पर है। हमारी आस्था का नया आयाम खुलना चाहिए। आस्था का विस्तार होना चाहिए कि आंखों से देखना एक छोटी बात है। हमारी शक्ति बहुत अधिक है। हम आंखों के बिना भी देख सकते हैं, अनुभव कर सकते हैं। इस समूचे आकाशमंडल में रंग भरे हुए हैं। जितने रंग इस दुनिया में हैं, उन सारे रंगों के घटक परमाणु समूचे आकाशमंडल में व्याप्त हैं। हम जब आंखें बंद कर गहरी तन्मयता और एकाग्रता के साथ अनुभव करना शुरू करते हैं तो हमें नाना प्रकार के रंग दिखाई देते हैं। आंखें बंद होने पर भी ऐसे चमकीले रंग दिखाई देते हैं, ऐसे सुंदर और आकर्षक रंग दिखाई देते हैं कि जिनका दर्शन आंखें कर ही नहीं सकतीं। वे सारे रंग हमारे साक्षात् होते हैं।

दर्शन के द्वारा अनुद्घाटित पर्याय उद्घाटित होते हैं और आवृत पर्याय अनावृत होते हैं। ऐसा चक्र चलता है कि सारी घटनाएं सामने घटित होती चली जाती हैं। वस्तु-जगत की घटनाएं और अंतर-जगत की घटनाएं दोनों हमारे सामने साक्षात् होती चली जाती हैं। जो घटनाएं हमारे अंतर-जगत में घटित हो रही हैं, जिनका हमने कभी साक्षात्कार नहीं किया, वे सारी घटनाएं आंखों को बंद करने के बाद, मन की एकाग्रता सधने के बाद अव्यक्त से व्यक्त होकर सामने मूर्त होती रहती हैं। वस्तु-जगत की घटनाएं भी बंद आंखों के सामने नाचने लग जाती हैं।

हम अनुभव करें कि हमारी चेतना मात्र इन्द्रियों से सिमटी हुई चेतना ही नहीं है। ज्ञान उतना ही नहीं है जितना इन्द्रियों के द्वारा उपलब्ध हो रहा है। हमारी चेतना अनंत है। उसका कहीं अंत नहीं है। उसकी कोई सीमा नहीं है। अनंत और असीम चेतना को सीमित कर आदमी अज्ञान पूर्ण जीवन जी रहा है। यह प्रेक्षाध्यान इस अज्ञान के निरसन की प्रक्रिया है। अज्ञान के निरस्त होने पर चेतना को नया आयाम मिलता है और तब उसका विस्तार होता है। यह चेतना का विस्तार हमें उपाय से उपलब्ध होता है।

प्रशिक्षण का तीसरा सूत्र है अभ्यास। आस्था निर्मित हो गई, उपाय भी जान लिया गया, पर यदि अभ्यास नहीं किया तो बात अधूरी रही जाएगी। प्रशिक्षण के लिए यह बहुत महत्त्वपूर्ण बात है–उपाय को अभ्यास में लाना, अभ्यास के द्वारा उसे पुष्ट करना। जो लोग अभ्यास नहीं करते, वे पा नहीं सकते। उपाय और अभ्यास–ये दोनों जुड़ें हुए हैं। इन दोनों का प्रयोग अलग नहीं किया जा सकता। उपाय के अभाव में अभ्यास सफल नहीं हो सकता और अभ्यास के अभाव में उपाय सफल नहीं हो सकता।

एक आदमी गाय खरीदने निकला। एक दुकान पर विश्राम करने बैठा। वह दुकान थी साइकिलों की। दुकानदार ने कहा–'साइकिल खरीद लो। गाय खरीदकर क्या करोगे? साइकिल पर चढ़कर आराम से गांव पहुंच जाओगे। यदि तुम गाय पर चढ़कर जाओगे तो लोग मजाक करेंगे। तुम्हारे पास पैसा है, मेरे पास साइकिल। खरीद लो।' वह ग्रामीण बोला–'बात तो तुम ठीक कह रहे हो, पर जब गांव जाकर, साइकिल को दुहाने बैठूंगा तो कितना मूर्ख लगूंगा?'

उपाय सही होना चाहिए। दूध यदि पाना है तो वह साइकिल से नहीं पाया जा सकता। दूध गाय से ही प्राप्त किया जा सकता है। गाय है और यदि उसे

दूहा न जाए तो दूध नहीं मिलेगा। दूध के लिए गाय भी चाहिए और दोहने की प्रक्रिया भी चाहिए। दोनों होते हैं, तब दूध मिलता है। दोनों के अभाव में दूध नहीं मिलता। उपाय और अभ्यास है दोनों साथ जुड़े हुए हैं।

अभ्यास से सफलता

प्रशिक्षण तभी सफल होता है जब वह अभ्यास से जुड़ जाता है। आज दृष्टि बहुत स्पष्ट हो गई है। मध्यकाल में सारी पढ़ाई बुद्धि की पढ़ाई थी। शिक्षण कोरा ज्ञानात्मक था, बोधात्मक था, क्रियात्मक नहीं था, किंतु विज्ञान के विकास के पश्चात् शिक्षण में सिद्धांत और प्रयोग–दोनों जुड़ गए। सैद्धांतिक शिक्षण और प्रैक्टिकल-क्रियात्मक-शिक्षण दोनों चलते हैं। बिना प्रयोग के कोई बात सफल नहीं होती, विद्यार्थी को अनुभव भी नहीं होता। विद्यार्थी निपुण बनता है प्रयोग और प्रशिक्षण के द्वारा।

प्रशिक्षण का महत्त्वपूर्ण अंग है अभ्यास। अभ्यास से अनेक तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं। जो सिद्धांत के द्वारा समझ में नहीं आती, वह बात अभ्यास के द्वारा समझ में आ जाती है।

पहले सिद्धांत बताना होता है, फिर आसेवन की बात आती है। आचार्य ने अपने शिष्य को पाठ पढ़ाया–अणुसासिओ न कुप्पेजा–गुरु के अनुशासन करने पर शिष्य कुपित न हो। यह पाठ था। केवल इस पंक्ति को याद करना मात्र ही। पाठ पढ़ने का तात्पर्य होता तो सब पढ़ जाते। ग्रहण करने या जान लेने मात्र से सफलता मिल जाती तो इस दुनिया में कोई विफल नहीं होता। सभी सफलता का आलिंगन कर लेते, किंतु अभ्यास के बिना सूक्त फलता नहीं।

अनुशासन का पाठ

आचार्य ने पाठ पढ़ाया। पढ़ने वाला शिष्य था कूरगडूक करने। उसमें खाने की बड़ी कमजोरी थी। वह न उपवास कर सकता था और न एकासन। प्रातः होते ही वह खाने के लिए तड़प उठता, पर उसने इस सूक्त का अभ्यास प्रारंभ कर दिया। अभ्यास चलता रहा। कभी मन में उच्चावच भाव आया, रोष आया, अन्यथाभाव आया, फिर भी सम्हलता हुआ चलता रहा। अभ्यास पुष्ट होता गया। अनुशासन के समय शांत रहा जा सकता है, ऐसी स्थिति बन गई। अनुशासन आग है। जहां-जहां अनुशासन होता है वहां-वहां आग भभकती है। अभ्यास से ही उसके ताप को सहा जा सकता है।

कूरगडूक का अभ्यास चालू था। पर्व का दिन आया। सभी साधुओं ने उपवास किया। आचार्य ने भी किया। प्रातःकाल होते ही कूरगडूक मुनि भिक्षा के लिए तैयार होकर आज्ञा लेने के लिए आचार्य के सामने आया। आचार्य ने समझाया। उपदेश दिया। कठोरता से कहा। वह शांत रहा। उसने हाथ जोड़कर शांत भाव से कहा–'गुरुदेव! आपकी शिक्षा अमूल्य है, पर मैं विवश हूं।' आज्ञा लेकर वह गया। खीचड़ी ले आया। आचार्य को दिखाई। आचार्य का पारा उतरा नहीं था। वे पुनः बोले–सभी साधु उपवासी हैं और तू खाएगा? आवेश में उन्होंने बहुत कड़ी-कड़ी बातें कह दीं। कूरगडूक शांत था। अंत में आचार्य ने गुस्से में आकर उसके पात्र में थूक दिया। कूरगडूक फिर भी शांत था। वह अपने स्थान पर गया। शांतभाव से, बिना घृणा किए, भोजन कर लिया। उसका मन संतुलित था। उसने सोचा, कितने महान हैं गुरु। उसने गुरु का दोष नहीं देखा। उनके वाक्यों को गुण रूप में स्वीकारा। कहा जाता है कि भोजन करते समय उसमें समताभाव का इतना उत्कर्ष हुआ कि कूरगडूक केवली बन गया। गुरु अकेवली ही रह गए।

उपवास करना कोई बड़ी बात नहीं है और खाना कोई छोटी बात नहीं है। हमारा मापदंड भिन्न है। न खाने वाले को बड़ा मान लेते हैं और खाने वाले को छोटा मान लेते हैं। ये सब गौण बातें हैं। मुख्य तथ्य यह है कि अभ्यास के द्वारा समता का कितना विकास हुआ, चेतना को समता में कितना प्रतिष्ठित किया, आंतरिक चेतना का जागरण कितना हुआ? मुख्य बात है कि राग-द्वेष कितना कम हुआ, गर्मी-सर्दी कितनी घटी? अनुकूलता हमारे जीवन की सर्दी है और प्रतिकूलता हमारे जीवन की गर्मी है। जो इनसे बच जाता है वह महान चेतना का जागरण कर लेता है, किंतु यह अभ्यास के बिना संभव नहीं है।

प्रशिक्षण के तीन घटक तत्त्वों–आस्था का निर्माण, उपाय-बोध और अभ्यास की जब एक धारा बनती है, तब ऐसी कोई समस्या नहीं, जिसका पार न मिल सके। ऐसी कोई दुस्तर नदी नहीं, जिसे तैरा न जा सके।

19. हृदय-परिवर्तन : एक महान उपलब्धि

कुछ समय पहले की बात है। एक चर्चा पढ़ी थी। उसका विषय था सबसे बड़ी उपलब्धि क्या है? जहां चर्चा होती है, वहां अनेक मत होते हैं। समाज में अनेक धाराओं के लोग हैं और अनेक मतों द्वारा विचारों का पोषण होता है। नृवंश-शास्त्रियों का मत है कि संतति का विकास मनुष्य समाज की सबसे बड़ी उपलब्धि है। मनुष्य ही एक ऐसा बुद्धिमान प्राणी है–जिसने अपनी संतति का विकास किया है। प्राणियों की अनेक जातियां आज लुप्त हो चुकीं, जबकि मनुष्य की आबादी लगभग पांच अरब तक पहुंच गयी। संतति का विकास मनुष्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है।

मानव-विकासशास्त्रियों का मत है कि दो पैरों पर खड़ा होना, दो हाथों को खाली रखना, मनुष्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है। रीढ़ के आधार पर खड़ा होना, दोनों हाथों को काम करने का अवसर देना, वास्तव में एक महान उपलब्धि है। यदि मनुष्य चौपाया (चार पैरों वाला) होता तो उसका मूल्य गाय-भैंस से अधिक नहीं होता।

मनुष्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है–अन्यान्य ग्रहों पर मनुष्य जाति की खोज। इस पूरे ब्रह्मांड में मनुष्य कहां-कहां है, यह खोज हो रही है और यदि यह खोज हो गई तो यह सबसे बड़ी उपलब्धि होगी।

प्रश्न एक था, पर उसके समाधान में नाना विचार, नाना धारणाएं सामने आईं। इन सारी धारणाओं के संदर्भ में मैं अपना अभिमत प्रगट करना चाहता हूं कि मनुष्य की जो प्रतिमा बनी है, मनुष्य और पशु के बीच जो भेद-रेखा खींची गई है, उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण धारणा है हृदय का परिवर्तन। कोई भी अन्य प्राणी हृदय-परिवर्तन करना नहीं जानता। बड़े से बड़ा और अक्लमंद पशु भी हृदय-परिवर्तन करना नहीं जानता। मात्र मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो हृदय-परिवर्तन करना जानता है। उसने हृदय-परिवर्तन के सिद्धांत की स्थापना की है और उसका प्रयोग किया है। उसमें वह सफल हुआ है।

मौलिक मनोवृत्तियां और अनेक संवेग

मनोविज्ञान ने कुछ मौलिक मनोवृत्तियां मानी हैं। उनकी संख्या में मतभेद है, फिर भी दो-चार मनोवृत्तियां सर्वसम्मत हैं। आहार की खोज, काम की तृप्ति, पलायन और युयुत्सा–ये मौलिक मनोवृत्तियां हैं।

आहार की खोज मौलिक मनोवृत्ति है। इसका संवेग है भूख। आदमी को भूख लगती है, तब वह आहार की खोज करता है।

काम की तृप्ति मौलिक मनोवृत्ति है। इसका संवेग है मैथुन। मनुष्य संतति पैदा करता है। हर प्राणी करता है।

पलायन मौलिक मनोवृत्ति है। इसका संवेग है भय। आदमी डरता है और डर से पलायन कर जाता है, भाग जाता है।

युयुत्सा मौलिक मनोवृत्ति है। इसका संवेग है मान। युयुत्सा का अर्थ है लड़ने की इच्छा। आदमी लड़ने-झगड़ने में रस लेता है।

ये कुछ मौलिक मनोवृत्तियां हैं। इनका परिष्कार आदमी ही कर सकता है, दूसरा कोई प्राणी नहीं कर सकता। काम की वृत्ति का परिष्कार ब्रह्मचर्य में होता है। किसी भी प्राणी या पशु ने ब्रह्मचर्य का विकास नहीं किया। उसमें उतनी ही काम-भावना है, जितनी पहले थी। भय का परिष्कार अभय में होता है। किसी भी प्राणी ने अभय का विकास नहीं किया। पशु आज भी उतने ही डरते हैं, जितने पहले डरते थे। उनमें युयुत्सा का परिष्कार सहिष्णुता में होता है। किसी भी प्राणी ने यह परिष्कार नहीं किया। पशु जितने पहले लड़ते थे, आज भी उतने ही लड़ते हैं। भौंकने वाला भौंकता है, लड़ने वाला लड़ता है। किसी भी देश के कुत्ते ने यह विकास नहीं किया कि उसने भौंकना बंद कर दिया हो, परस्पर लड़ना बंद कर दिया हो। एक मुहल्ले का कुत्ता जब दूसरे मोहल्ले में जाता है तब लड़ाई न होती हो, ऐसा न सुना न देखा। संभव ही नहीं है। अमेरिका का हो या रूस का हो, सबकी यह, मनोवृत्ति समान है। इसमें कोई अंतर नहीं है।

मनुष्य ने अपनी मौलिक मनोवृत्ति का परिष्कार किया है। मनोविज्ञान के संदर्भ में हृदय-परिवर्तन का अर्थ हो सकता है–मौलिक मनोवृत्तियों का परिष्कार। जो मौलिक मनोवृत्तियों का परिष्कार है, वह चेतना का परिवर्तन है, हृदय का परिवर्तन है। दिशा बदल जाना साधारण बात नहीं। आदमी एक ही दिशा में चलता है तो एक ही प्रकार का आचरण और व्यवहार होता है। जब

दिशा बदलती है तब सारी स्थितियां बदल जाती हैं, आचरण और व्यवहार बदल जाता है।

दिशा बदलीः दशा बदली

हिम्मतसिंह पटेल सौराष्ट्र का निवासी था। वह हृष्ट-पुष्ट और स्वस्थ था। उसे अपने शारीरिक बल पर गर्व था। वह मानता था, ऐसा कोई भी कार्य नहीं है, जो मैं न कर सकूं। एक दिन एक व्यक्ति ने कहा–'हिम्मत सिंह! तुम शक्तिशाली हो। सब कुछ कर सकते हो तो एक काम कर दिखाओ। वह काम है स्वयं की छाया को पकड़ना। सूरज उदय हो रहा है। जाओ, अपनी छाया को पकड़ो।' उसने कहा–'अभी पकड़ता हूं। यह भी कोई काम है।' वह दौड़ा छाया को पकड़ने। जैसे-जैसे दौड़ता है, छाया आगे बढ़ती जाती है। अपनी छाया को पकड़ने की दौड़ में वह पसीने से तरबतर हो गया। श्रम बहुत किया, पर सफल नहीं हुआ। ज्यों दौड़ता है छाया आगे सरक जाती है। निराश हो गया।

अकस्मात् सामने से संत आ गए। उन्होंने पूछा–'अरे हिम्मत! यह क्या? इतने परेशान क्यों हो रहे हो?' वह बोला–महाराज! आज तक मैं कभी अपने काम में असफल नहीं हुआ। आज सफलता दूर भाग रही है। परेशान हूं। मार्गदर्शन करें। मैंने अपनी छाया को पकड़ने का वादा किया है, पर अभी तक इसे पकड़ नहीं पाया हूं। आप उपाय बताएं। संत बोले–'बहुत सीधी बात है। तुम अपना मुंह मोड़ लो।' उसने मुंह मोड़ा। दिशा बदल गयी। जैसे ही दिशा बदली, छाया पकड़ में आ गयी। जहां खड़ा है, वहीं उसकी छाया स्थिर है।

जब दिशा बदलती है, तब छाया पकड़ में आ जाती है। आदमी छाया और माया के लिए दौड़ता है, पर न छाया पकड़ में आती है और न माया पकड़ में आती है। सब आगे से आगे बढ़ती हैं। ऐसी मरीचिका है, जिसे कभी पकड़ा नहीं जा सकता। जैसे ही दिशा का परिवर्तन होता है, छाया भी पकड़ में आ जाती है, माया भी पकड़ में आ जाती है और काया भी पकड़ में आ जाती है। सब कुछ पकड़ में आ जाता है।

मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जिसने दिशा को बदला है, मौलिक वृत्तियों का परिष्कार किया है, हृदय का परिवर्तन किया है, चेतना का रूपांतरण किया है। इस सारे संदर्भों में कहा जा सकता है कि मनुष्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है–हृदय का परिवर्तन, चेतना का रूपांतरण और मौलिक मनोवृत्तियों का परिष्कार।

हृदय-परिवर्तन के आधार पर समाज में नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा हुई। मनुष्येतर प्राणियों के लिए जगत में नैतिक मूल्य जैसा कोई तत्त्व नहीं होता। आवश्यक भी नहीं है, क्योंकि उनके पास बुद्धि का इतना विकास नहीं है। जहां बुद्धि का विकास नहीं होता, वहां नैतिक मूल्यों की स्थापना हो ही नहीं सकती। साथ ही अनैतिक मूल्यों की भी स्थापना नहीं होती। बेचारे दूसरे प्राणियों में बौद्धिक विकास नहीं है तो अनैतिक मूल्य भी नहीं हैं। वे कभी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। वे सदा बंधी-बधाई मर्यादा में चलते हैं, अतिक्रमण नहीं होता। न नैतिकता और न अनैतिकता। मनुष्य ने अपनी बुद्धि के द्वारा ऐसे मूल्यों की स्थापना की, जो समाज के लिए कल्याणकारी नहीं हैं, अकल्याणकारी हैं। दिशा-परिवर्तन हुआ और उसने नैतिक मूल्यों की स्थापना की।

दंडशक्ति

अनेक प्राणी दंडशक्ति का प्रयोग करते हैं। प्राणियों की बात छोड़ दें, वनस्पति जगत में भी दंडशक्ति का प्रयोग चलता है। चींटियों में भी यह प्रचलित है। मधुमक्खियां दंडशक्ति का प्रयोग करती हैं। खोज करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्राणीमात्र में दंडशक्ति का प्रयोग और बलप्रयोग दोनों चलते हैं। ऐसे वृक्ष होते हैं, जो दंडशक्ति का प्रयोग कर प्राणियों को फंसा लेते हैं। ऐसे वृक्ष हैं, जिनकी पत्तियां पहले खुली होती हैं, फिर ज्योंहि कोई प्राणी आकर उन पर बैठता है, वे सिकुड़ जाती हैं, प्राणी उसमें फंस जाता है। वे पत्तियां प्राणी को निचोड़ कर, निस्सार खोल को बाहर फेंक देती हैं। एक नहीं, अनेक ऐसे वृक्ष हैं, पौधे हैं, जो बल प्रयोग करते हैं। वे अन्य जीवों को चूसते हैं, उनका शोषण करते हैं, इसी तरह चीटियां सामुदायिक व्यवस्था का पालन करती हैं। चींटियों की रानी सारी व्यवस्था का संचालन करती है। जो चींटियां काम करने से जी चुराती हैं, आलसी हो जाती हैं, उन्हें समाज से बाहर निकाल दिया जाता है। मधुमक्खियों की भी यही व्यवस्था है। रानी मधुमक्खी काम न करने वाली मधुमक्खियों को दंड देती है, उनका बहिष्कार करती है और दंडस्वरूप उनसे अधिक काम कराती है।

समूचे प्राणीजगत में दंड की और बल-प्रयोग की व्यवस्था चलती है। मनुष्य ने दंडशक्ति के स्थान पर आत्मानुशासन का विकास किया है। उसकी धारणा यह रही कि बल-प्रयोग कम हो, दंडशक्ति का प्रयोग कम हो और आत्मानुशासन जागे।

आत्मानुशासन

हृदय-परिवर्तन का पहला सूत्र है आत्मानुशासन। जब तक आत्मानुशासन का विकास नहीं होता, तब तक नहीं माना जा सकता कि हृदय-परिवर्तन घटित हुआ है। हृदय-परिवर्तन एक अमूर्त क्रिया है हमारी चेतना की। उसे देखा नहीं जा सकता, किंतु आत्मानुशासन के विकास को देखकर जान जाते हैं कि इस व्यक्ति का हृदय-परिवर्तन हो गया है।

आत्मानुशासन का विकास समाज और सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा का एक महत्त्वपूर्ण अवदान है। आत्मानुशासन के बिना अहिंसा की कल्पना नहीं की जा सकती। अहिंसा का पूरा विकास आत्मानुशासन के आधार पर हुआ है।

हृदय-परिवर्तन का दूसरा सूत्र है अभय का विकास। अभय के बिना अहिंसा की कल्पना नहीं की जा सकती। भय मौलिक मनोवृत्ति है। आदमी डरता है। डर समूचे जीवन में व्याप्त है। आदमी को अतीत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों का भय सताता रहता है। आदमी अतीत के भय से त्रस्त हो जाता है। जो घटना घट चुकी, जो घटना चली गई, उसका भी भय आदमी के संस्कारों में अंकित हो जाता है और आदमी जीवन भर उस भय से डरता रहता है।

आदमी के जीवन में एक घटना घटी। आदमी उससे भयाक्रांत हो गया। उसने भय को मिटाने के उपाय किए, पर सफलता नहीं मिली। एक व्यक्ति से पूछा। उसने कहा–सबसे सरल और अचूक उपाय यह है कि तुम घटना को भूल जाओ। उसे याद मत करो। उसे यह उपाय अच्छा लगा। अब वह निरंतर यह सोचने लगा 'मुझे उस घटना को भूलना है', 'मुझे उस घटना को भूलना है।' भूलने-भूलने के बहाने स्मृति की पकड़ इतनी मजबूत हो गई कि वह घटना निरंतर तरोताजा रहने लगी। अतीत का भय रहता है। भय की स्मृतियां बहुत सताती हैं।

आदमी को वर्तमान का भय भी सताता है। यह न हो जाए, वह न हो जाए, चोर न आ जाए, अफसर न आ जाए–वर्तमान का यह भय भी बहुत पीड़ादायक होता है।

भविष्य का भय है कल्पनाजनित भय। वह भी कम भयानक नहीं होता। आदमी बार-बार सोचता रहता है कि अवस्था आ रही है, बूढ़ा हो जाऊंगा

तो क्या होगा? क्या बच्चे सेवा करेंगे? क्या भोजन सुख से मिल पाएगा? धन नहीं रहेगा तो क्या करूंगा? अस्वस्थ हो जाऊंगा तो क्या होगा? इस प्रकार एक के बाद दूसरी चिंता उसे घेरे रहती है। डर मनुष्य के जीवन के क्षण-क्षण में साथ चलता है, किंतु मनुष्य ने विकास किया अभय का। साधना करते-करते इतना विकास हो जाता है कि भय शब्द ही समाप्त हो जाता है। आदमी ने उन सांपों के साथ भी मैत्री की स्थापना की, जिनका नाम सुनते ही आदमी कांप उठता है। उसने ऐसे हिंसक पशुओं के साथ भी मैत्री स्थापित की, जो आदमी को मारकार खा जाते हैं। आदमी ने मैत्री का विकास किया, अभय का विकास किया। जैसे-जैसे जीवन में अहिंसा, अभय और मैत्री का विकास होता है, सभी प्राणी मित्र बन जाते हैं।

हिंसा : भूख और भय

कोई भी प्राणी किसी दूसरे प्राणी को सताता है तो उसके मुख्य कारण दो होते हैं भोजन और भय। या तो भोजन के लिए सताया जाता है या भय के कारण सताया जाता है। गाय, भैंस, बैल आदि पशु आदमी को मारने के लिए दौड़ते हैं। विकराल मुद्रा बना लेते हैं। इसका क्या कारण है? इसका एक ही कारण है कि वे डर जाते हैं जब उन्हें डर लगता है, तब वे ऐसा करते हैं। यात्रापथ में हमने अनेक बार देखा कि आगे चलने वाले झंडे को देखकर गायें और भैंस चमक उठती हैं, भागती हैं और विकराल रूप बना लेती हैं। हमने सोचा ऐसा क्यों होता है? खोज करने पर ज्ञात हुआ कि ये पशु कपड़ों से नहीं डरते, रंगों से डरते हैं। पशु रंगों से बहुत भयभीत होते हैं। पशुओं में रंगों की पहचान नहीं है। जब रंगीन वस्तु सामने आती है, तब उन्हें लगता है कि कोई विकराल जीव सामने आ गया। उसको देखते ही उनके प्राण कांप उठते हैं। वे घबराकर दौड़ने लग जाते हैं। उनके पलायन का और भयंकर मुद्रा का मूल कारण है भय। दूसरा कारण है भोजन। जब भूखे होते हैं, तब आक्रमण करते हैं।

मनुष्य ने अपनी साधना और अभय की वृत्ति के द्वारा ऐसी तरंगों को निर्मित्त किया है, वह ऐसी तरंगें फैला सकता है कि उनकी सन्निधि में भूखे पशु भी आक्रमण नहीं करते और भयाक्रांत पशु भी आक्रमण नहीं करते। वे स्वयं अभय बनकर पास में आकर बैठ जाते हैं। जब ध्यान की रश्मियां, राग-द्वेष मुक्त चेतना की रश्मियां विकीर्ण होती हैं, तब सामने वाले व्यक्ति का भय समाप्त हो जाता है। अनेक चित्रों में हम शेर और बकरी को एक घाट पर साथ-

साथ पानी पीते हुए देखते हैं। यह अभय का प्रतीक है। यह प्रतीक है निर्मल चित्त धारा का। जब चित्त की धारा निर्मल होती है, वीतरागता का विकास होता है, तब ऐसी घटनाएं स्वाभाविक बन जाती हैं। ऐसी स्थिति में शेर और बकरी को एक ही पिंजड़े में बंद देख सकते हैं।

एक आदमी प्रतिदिन चिड़ियाघर में जाता और देखता कि एक ही पिंजरे में शेर और बकरी दोनों बंधे हुए हैं। एक दिन उसने वहां के कर्मचारी से पूछा—कितनी बड़ी मैत्री? कैसा आश्चर्य! कैसे विकास हुआ इसका? उसने कहा—बाबूजी! मैत्री कुछ नहीं है। इस पिंजरे में रोज एक नई बकरी बांधी जाती है। जब तक शेर को भूख नहीं लगती, तब तक वह सुरक्षित बंधी रहती है जब भूख लगती है तब दूसरी ही बकरी बंधती है। ऐसी मैत्री नहीं चाहिए मैत्री वह होती है जहां भूख होने पर शेर बकरी पर नहीं झपटता और एक ही पिंजरे में एक साथ रह जाता है। विरोधी प्राणी एक साथ रहें, यह वास्तविक मैत्री है। आदमी ने इस चेतना का विकास किया है। उसने अपनी विकसित चेतना के द्वारा ऐसी तरंगों का निर्माण किया है, जहां पूरा अभय है। उसे देश, काल, व्यक्ति, वस्तु और अपने मन में उठने वाली तरंगों का भय नहीं है। सबसे अधिक भय अपनी तरंगों का होता है। जब मन की तरंगें विकराल रूप धारण करती हैं, मन में जब बवंडर या तूफान उठता है तब चेतना का पूरा समुद्र मथित हो जाता है, उद्वेलित और क्षुब्ध हो जाता है। उस समय व्यक्ति संतुलन खो देता है। कल्पना का भय सबसे भयंकर होता है। ध्यान के अभ्यासी व्यक्ति में भय की तरंगें पैदा ही नहीं होती। उसकी चेतना जब इस स्थिति तक पहुंच जाती है तब वह अभय के क्षेत्र में प्रवेश कर जाता है। वह सर्वतः अभय हो जाता है।

सहिष्णुता की चेतना

हृदय-परिवर्तन का तीसरा सूत्र है—सहिष्णुता का विकास। एक बहिन ने पूछा—पारिवारिक जीवन में शांति कैसे रह सकती है? मैंने कहा—शांति की बात बाद में सोचना। पहले सहिष्णुता की बात सोचो। सहिष्णुता का फलित है शांति। यदि सहिष्णुता नहीं है तो शांति हो ही नहीं सकती। सहिष्णुता का अर्थ है एक दूसरे को सहन करना। भिन्न विचार, भिन्न आचार, भिन्न संस्कार, भिन्न रुचि सबकुछ भिन्न है। न विचार मिलते हैं, न आचार मिलता है, न संस्कार मिलते हैं और न रुचि मिलती है। इतनी भिन्नता होने पर भी शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व हो जाता है। कहीं कोई कठिनाई नहीं है। सर्दी और गर्मी, अंधकार

और प्रकाश का सह-अवस्थान हो सकता है। अनेकांत सिद्धांत की सबसे बड़ी फलश्रुति है। विरोधी युगलों का एक साथ रहना। यह अनेकांत की मूल आधारभूमि है। जब पदार्थ-जगत में विरोधी युगल एक साथ रह सकते हैं तो क्या विरोधी विचार वाले या विरोधी व्यवहार वाले दो आदमियों का सहावस्थान हो नहीं सकता? उनका सहावस्थान हो सकता है, शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व हो सकता है। सहिष्णुता का विकास हो तो कलह का निवारण हो जाता है। यही शांति का बहुत बड़ा आलंबन है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृष्टि से सोचता है, विचार करता है। मैं अपनी दृष्टि से सोचता हूं, विचार करता हूं। क्या मेरा विचार अंतिम है? क्या मैंने ही सचाई का ठेका ले रखा है? क्या दूसरे आदमी को सोचने का अधिकार नहीं है? क्या दूसरा सही नहीं सोच सकता? क्या उसका विचार और व्यवहार सही नहीं हो सकता? नीतिज्ञ आचार्यों ने कहा कि एक बूढ़ा या अनुभवी आदमी भी भूल कर सकता है और एक बालक भी सही परामर्श दे सकता है। सही बात, चाहे किसी की हो, वह मान्य होनी चाहिए। ऐसी अनेक कहानियां प्रचलित हैं, जिनका सार तत्त्व है कि जहां बड़े-बूढ़े सब विफल हो गए वहां या तो छोटे लड़के ने समाधान किया या सबसे छोटी लड़की ने समाधान प्रस्तुत किया।

एक कहानी है—राजा ने एक परिवार के मुखिया से कहा—तुम्हें हमारे प्रश्न का उत्तर देना है, अन्यथा सारे परिवार वालों को फांसी दे दी जाएगी। परिवार का मुखिया निराश हो गया, कोई समाधान उपजा नहीं। गांव के छोटे लड़के ने समाधान ढूंढ निकाला और सारा परिवार बच गया। इसी प्रकार एक अन्य कहानी में राजा ने कहा—मुझे बालू रेत की रस्सी की आवश्यकता है। उसे तुम जल्दी भेजो। यदि नहीं भेजोगे तो समूचे गांव को नष्ट कर दूंगा। बड़ी अजीब बात थी। बालू की रेत की रस्सी कैसे बने? न कभी ऐसी रस्सी के बारे में सुना न जाना। सारे लोग घबरा गए। छोटे से एक बालक ने समस्या सुनी। उसने कहा—'मैं जानता हूं इसका समाधान। बड़े-बड़े लोग उसके पास पहुंचे। उसके सामने समस्या रखते हुए कहा—यह असंभव कार्य है। मौत सामने दीख रही है। क्या इसका समाधान हो सकता है? बालक ने कहा सब हो जाएगा। डरने की बात नहीं है। चिंता मत करो। सब बचे रहेंगे। मैं अकेला ही इस प्रश्न से निपट लूंगा। तत्काल उसने एक पत्र लिखा और दूत के हाथों राजा के पास भिजवा दिया। राजा ने पत्र पढ़ा। उसमें लिखा था—महाराज! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। आप जैसा चाहेंगे, वैसा ही होगा, वैसा ही करेंगे। एक अनुरोध

है कि आपकी राजधानी बहुत बड़ी है। वहां सभी प्रकार के शिल्पी, कलाकार और अन्यान्य विद्याओं में निष्णात व्यक्ति रहते हैं। हमारा गांव छोटा है। आप कृपा कर बालू की रेत की रस्सी का नमूना भिजवाएं। हम उसी के अनुसार, आप जितनी रस्सियां चाहेंगे, उतनी बनाकर भेज देंगे।

बालक की इस सूझ-बूझ ने सारे गांव के प्राण बचा लिए।

हम क्यों ठेकेदार बनें कि हम सोचते हैं, वही ठीक है। दूसरे जो सोचते हैं वह सारा गलत है। इस ठेकेदारी को छोड़ें। सहिष्णुता का विकास अपने आप होगा। घर का मुखिया जब सही चिंतन का ठेकेदार बन जाता है, तब यह ठेकेदारी असहिष्णुता पैदा करती है। इससे कलह और कदाग्रह बढ़ता है। यदि बुद्धि या अक्ल की इस ठेकेदारी को समाप्त कर देते हैं तो सहिष्णुता का विकास हो सकता है। तब यह सोचने का अवसर मिलता है, मैं उसे समझूं, वह मुझे समझे। मैं उसे सहन करूं, वह मुझे सहन करे। जब एक-दूसरे को सहने का विकास होता है, तब शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व फलित होता है। मनुष्य समाज ने सहिष्णुता और शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का विकास किया है।

करुणा का विकास

हृदय-परिवर्तन का चौथा सूत्र है–करुणा का विकास। पशु समाज में क्वचित् करुणा का उदाहरण मिल जाता है, पर सभी पशुओं में करुणा का विकास नहीं देखा जाता।

एक घटना पढ़ी थी। एक विदेशी व्यक्ति के पास कुत्ता था। वह बहुत समझदार था। वह प्रतिदिन थैला लेकर बाजार में जाता और एक निश्चित दुकानदार से बारह डबलरोटियां थैले में डलवाकर ले आता और मालिक को सौंप देता। यह प्रतिदिन का क्रम था। कुछ दिन बीते। अब मालिक ने देखा कि बारह डबलरोटियों के बदले ग्यारह ही आ रही है। मालिक ने सोचा, एक रोटी कहीं गिर जाती होगी। प्रतिदिन ऐसा ही होने लगा। एक रोटी की कमी की खोज की तो पता चला कि रास्ते में एक बीमार कुतिया बैठी रहती थी। वह चल-फिर नहीं सकती थी। कुत्ता बारह रोटियां में से एक रोटी उसे दे आता और शेष ग्यारह रोटियां मालिक को सौंप देता।

पशुओं में कहीं-कहीं ऐसे करुणा के उदाहरण मिलते हैं। अपने बच्चों के प्रति वात्सल्य भी पशुओं में प्राप्त होता है। कहीं-कहीं मां की ममता का उत्कृष्ट उदाहरण पशुओं में प्राप्त होता है।

एक शिकारी हरिणी को मारने लगा। उसने अपने धनुष पर बाण चढ़ाया। निशाना साधा। इतने में ही हरिणी ने कहा

आदाय मांसमखिलं स्तनवर्जमंगाद्,
मां मुञ्च वागुरिक! यामि कुरु प्रसादम्।
अद्यापि सस्यकवलग्रहणानभिज्ञाः,
मन्मार्गवीक्षणपराः शिशवो मदीयाः॥

हे शिकारी! तुम मेरे पूरे शरीर के मांस को ले लो, पर दोनों स्तनों को छोड़ दो। शिकारी ने पूछा क्यों? वह हरिणी बोली 'देखो, मेरे दोनों बच्चे आज भी इतने छोटे हैं कि वे अभी घास नहीं खा सकते। वे केवल मेरे स्तनों का दूध पीकर ही जी रहे हैं। स्तनों के दूध के अभाव में वे बेचारे मर जाएंगे। अतः मेरे पर कृपा करो। दो स्तनों को छोड़कर, पूरे शरीर का मांस ले लो।'

कितनी मार्मिक उक्ति है! वात्सल्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। वात्सल्य के अभाव में ऐसी बात नहीं कही जा सकती। पशुओं में वात्सल्य है, करुणा है, पर उसका सामाजीकरण नहीं हुआ, सामाजिक विकास नहीं हुआ। मनुष्य की यह विशेषता है कि उसने करुणा का विकास किया है, करुणा की प्रतिष्ठा कर उसको महान मूल्य दिया है।

हृदय-परिवर्तन की चर्चा के संदर्भ में हमने इस विषय के अनेक पहलुओं को छुआ है। हृदय-परिवर्तन के घटक तत्त्व और फलित भी जान लिये हैं। इन सारे संदर्भों में कहा जा सकता है कि मनुष्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है हृदय का परिवर्तन।

भय-मुक्ति

20. अभयदान

णमोत्थुणं अभयदयाणं–मैं अभय देने वाले तीर्थंकरों को नमस्कार करता हूं।

शक्रस्तुति में तीर्थंकरों को नमस्कार किया है। नमस्कार इसलिए किया गया है कि वे अभय का दान करते हैं, प्राणी मात्र को अभय देते हैं। किसी को भयभीत नहीं बनाते। स्वयं डरना या दूसरों को डराना, स्वयं भय की अनुभूति करना और दूसरों को भय का अनुभव कराना–दोनों भौतिकवादी प्रक्रियाएं हैं। दोनों अध्यात्म के प्रति प्रतिकूल आचरण हैं।

हम धर्म और अध्यात्म की चर्चा करते हैं, किंतु धर्म या अध्यात्म की अंतरात्मा का अनुभव नहीं करते। कोई भी व्यक्ति अभय बने बिना आध्यात्मिक नहीं हो सकता। भय और भौतिकवाद दोनों पर्यायवाची हैं। अभय और अध्यात्म दोनों पर्यायवाची हैं। अपने आपको अध्यात्मवादी मानने वाला डरता है तो वह बाहर से अध्यात्मवादी है और अंतःकरण से भौतिकवादी। जो व्यक्ति अभय है, डरता नहीं, वह अपने आपको भौतिकवादी मानता हुआ भी सही अर्थ में अध्यात्मवादी है।

भय का हेतु

भय हमारे शरीर-दर्शन के साथ जुड़ा हुआ है। दर्शन के दो कोण हैं–शरीर-दर्शन और शरीरातीत दर्शन। भय उसी व्यक्ति में पैदा होता है, जो शरीर को देखता है। सारे भयों का मूल कारण है–शरीर-दर्शन। जिसकी दृष्टि शरीर से परे नहीं जाती, शरीरातीत नहीं होती, वह अभय का सही अर्थ समझ नहीं सकता। सारी मूर्च्छा पैदा होती है शरीर से और मूर्च्छा ही भय का मूल कारण है। यदि मूर्च्छा नहीं है तो भय नहीं है।

मनोविज्ञान की दृष्टि से संवेगात्मक व्यवहार और संवेगात्मक अनुभव–ये दोनों हाइपोथेलेमस से पैदा होते हैं। ये दोनों इमोशनल हैं। हमारे शरीर में

ऐसे केन्द्र हैं, जहां से नाना प्रकार की प्रवृत्तियों का संचालन होता है। संवेग का संचालन शरीर से होता है। सारे संवेग हाइपोथेलेमस में पैदा होते हैं। भय का यही स्थान है।

कर्मशास्त्रीय दृष्टि से मूल कारण है मूर्च्छा-मोह, इसलिए भय पैदा होता है। मोह की अनेक प्रकृतियों में एक प्रकृति है–भय। मोह के कारण ही मनुष्य यथार्थ को नहीं समझ सकता। सचाई को न समझ सकने के कारण वह जाने अनजाने भय की स्थिति में चला जाता है। उसे लगता है कि यदि शरीर छूट गया तो सबकुछ छूट गया। शरीर चला गया तो सबकुछ चला गया। उसका आदि-दर्शन है शरीर, मध्य-दर्शन है शरीर और अंत-दर्शन है शरीर। शरीर के अतिरिक्त उसका कोई दर्शन नहीं है। शरीर के प्रति जब इतनी प्रगाढ़ आस्था होती है, तब भय पैदा होना स्वाभाविक है।

संपूर्ण प्रक्रिया

वर्तमान की दुनिया में, विशेषतः वर्तमान की चिंतनशील दुनिया में एक आंदोलन चल रहा है–'गरीबी हटाओ' यह बहुत सुनहला और स्वच्छ लगता है। थोड़े गहरे में उतर कर देखें तो पता लगेगा कि यह गरीबी की समस्या को उलझाने वाला आंदोलन है। 'गरीबी हटाओ' इस आंदोलन से आज तक गरीबी नहीं मिटी। रोटी की समस्या है, रोटी दो। बात बहुत अच्छी लगती है, किंतु यह आंदोलन भी रोटी की समस्या को समाहित करने वाला नहीं, उसे उभारने वाला ही है। इस आंदोलन से न रोटी मिली है न मिलने वाली ही है। बहुत बार ऐसा होता है कि आदमी समग्र को नहीं पकड़ता, एक खंड को पकड़कर उलझ जाता है। अखंड की प्रक्रिया में खंड स्वयं उपलब्ध होता है और खंड की प्रक्रिया में खंड स्वयं खंडित हो जाता है।

अदालत में चोरी का केस चल रहा था। चोर के वकील ने अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा–'जज महोदय! चोरी तो हाथ ने की है, इसलिए समूचे शरीर को क्यों दंड दिया जाए? दंड उसी को दिया जाए जिसने चोरी की है। इसलिए दंड का भाग हाथ है, न कि शरीर।' न्यायाधीश को यह तर्क अच्छा लगा। उसने अपना निर्णय सुनाते हुए कहा–'मैं वकील के इस तर्क को स्वीकार करता हूं और हाथ को दंड देना चाहता हूं। जिस हाथ ने चोरी की है, उसे दस वर्ष के सश्रम कारावास की सजा भुगतनी पड़ेगी।'

तत्काल चोर आगे आया और बोला–'मैं न्यायप्रिय न्यायाधीश के निर्णय

को सहर्ष स्वीकार करता हूं। मेरे बाएं हाथ ने चोरी की थी। उसे सजा मिलनी ही चाहिए।' यह कहकर चोर ने अपना कृत्रिम हाथ जो लकड़ी का बना था, निकाल कर जज के टेबल पर रख दिया। सब देखते रह गए। जज स्वयं अवाक् रह गया।

जब हम खंड में उलझ जाते हैं, समग्रता को भुला देते हैं, वहां निर्णय गलत हो जाता है। हाथ ने चोरी की, दंड हाथ को ही मिलना चाहिए–यह तर्क सुनने में बहुत अच्छा लगता है, पर सही नहीं है। यहां अखंड कर विस्मृति का खंड में उलझना पड़ता है।

ऐसा ही नारा या तर्क है–'गरीबी हटाओ।' चेतना नहीं जागेगी तो गरीबी मिटेगी कैसे? इतना प्रयत्न करने पर भी जब गरीबी नहीं मिट रही है, रोटी की समस्या नहीं मिट रही है तो इसका भी कारण यह है कि हम खंड में उलझ गए, अखंड को भुला दिया।

चेतना एक और अखंड है। चेतना के द्वारा ही ये सारी प्रवृत्तियां संचालित होती हैं। गरीबी का निर्माण भी चेतना के किसी कोण से हो रहा है तो गरीबी की समस्या का समाधान भी चेतना के किसी कोण से ही निकलेगा। हम मूल बात को भुला कर केवल बाहर सामने आने वाली समस्या को ही सुलझाने का प्रयत्न करें तो मूल समस्या का समाधान नहीं होगा। आज सबसे बड़ी समस्या है चेतना को जगाने की। चेतना को जगाने वाले आंदोलन बहुत मंद गति से चलते हैं, उनका स्वर कहीं सुनाई ही नहीं देता, किंतु गरीबी और रोटी की समस्या को सुलझाने वाले आंदोलन बड़ी तीव्र गति से चलते हैं और अपनी नारेबाजी से सारे आकाश को गुंजा देते हैं, पर होता कुछ भी नहीं।

जिन लोगों ने रोटी की समस्या को सुलझाने के लिए जीवन प्रणालियों का परिवर्तन किया है, फिर चाहे वह समाजवादी प्रणाली हो या साम्यवादी प्रणाली हो, प्रथम दर्शन में लगता है कि रोटी की समस्या सुलझ गई है, किंतु जब भीतर में प्रवेश करते हैं तो ऐसा अनुभव होता है कि रोटी की समस्या और उलझ गई है। आदमी रोटी खाते हुए भी अनुभव नहीं कर रहा है कि रोटी खा रहा है। उसे केवल यांत्रिक चेतना का-सा अनुभव हो रहा है। ऐसा लगता है कि संवेगात्मक व्यवहार मंद पड़ गए हैं।

जो व्यक्ति शराब पीता है, उसके संवेगात्मक व्यवहार मंद पड़ जाते हैं। शरीर लड़खड़ाने लग जाता है। उसके सारे सेन्सरी सेंटर (ोशपीीू लशपींशी) निष्क्रिय हो जाते हैं। उसकी सारी सक्रियता समाप्त हो जाती है। जब तक शराब

का नशा बना रहता है, प्रभाव बना रहता है, तब तक सक्रियता नहीं रहती या मंद पड़ जाती है। चेतना की सक्रियता को मंद करने वाली जितनी समाधान की प्रक्रियाएं हैं, वे शायद एक बार आदमी को प्रलोभन में डाल देती हैं, किंतु अंत तक उनका कोई प्रभाव होता दिखाई नहीं देता। ऐसी स्थिति में चारों ओर भय का सृजन होता है और समूचे वातावरण में भय ही भय दीखने लगता है।

पलायन का कारण

भय का एक संवेग है। मनोविज्ञान की भाषा में पलायन एक मनोवृत्ति है और उसका संवेग है भय। आदमी डरता है तो पलायन करता है। पलायन और भय–दोनों जुड़े हुए हैं। भय का सीधा काम है पलायन करना। जब भय की स्थिति पैदा होती है तब आदमी दौड़ना चाहता है, बचना चाहता है। कभी-कभी नींद की अवस्था में आदमी किसी स्वप्न के कारण डरता है और तब उठकर भागने लग जाता है।

मुझे अपनी बात याद आ रही है। मेरी अवस्था छोटी थी। मैं मुनि बन चुका था। एक दिन मैं रात को बैठे-बैठे नींद ले रहा था। भींत का सहारा ले रखा था। अचानक एक मुनि आए, मुझे जगाया। मैं डर गया और वहां से दौड़ कर आंगन में जा पहुंचा। जानते हुए या जागृत अवस्था में नहीं दौड़ा, नींद में ही दौड़ पड़ा।

नींद में भी आदमी डरता है और उस भय से बच निकलना चाहता है। भय की स्थिति में रहना कभी नहीं चाहता। वह भय से पार चला जाना चाहता है। भय की स्वाभाविक प्रतिक्रिया पलायन है।

यही कारण है कि बहुत बार सुनते-पढ़ते हैं कि अमुक का लड़का या भाई घर से पलायन कर गया, अमुक की स्त्री या पति भाग गया। इस पलायन के पीछे भय ही मुख्य कारण बनता है, फिर चाहे वह भय मान-प्रतिष्ठा का हो या धन-दौलत का या प्रेम-परीक्षा का हो।

पलायन करना प्रवृत्ति है। कुत्ते को देखकर आदमी दौड़ता है और आदमी को देखकर कुत्ता दौड़ता है। दोनों दौड़ते हैं। वह इससे और यह उससे डरता है। दोनों एक दूसरे से डरते हैं। कुत्ता इसलिए काटता है कि वह आदमी से डरता है और आदमी इसलिए दौड़ता है कि वह कुत्ते से डरता है।

भय का काम है पलायन कर जाना। भय के समय में कुछ विशेष प्रकार की प्रतिक्रियाएं होती हैं। भय के प्रतिरोध के लिए अधिक शक्ति जरूरी होती

है। जिस समय भय का संवेग जागृत होता है, उस समय एड्रीनल बहुत सक्रिय हो जाता है। अधिक शक्ति चाहिए। एड्रीनल का स्राव अतिरिक्त नहीं होता है तो शक्ति नहीं होती। जैसे-जैसे भय का संवेग बढ़ता है, एड्रीनल का स्राव भी ब़ढ़ता है, उससे शक्ति बढ़ती है और तब दौड़ने की, प्रतिरोध करने की भावना आ जाती है। यह अनुकूल तथ्य है कि भय की स्थिति में जितनी शक्ति होती है, सामान्य अवस्था में उतनी शक्ति नहीं होती। एक डरा हुआ आदमी जितना अपनी शक्ति का प्रदर्शन कर सकता है, सामान्य अवस्था में नहीं कर पाता। उस समय एक विचित्र शक्ति जाग जाती है।

भय की प्रतिक्रिया

एक व्यक्ति बैठा था। रात का समय था। अंधेरा गहरा हो रहा था। वह नींद लेने लगा। अचानक डर लगा। डर का आघात हुआ मस्तिष्क पर। दौरा पड़ गया। वह कहने लगा 'देखो, देखो, उस कोने में भूत खड़ा है, इस कोने में भूत है। वे सब मेरी ओर आ रहे हैं।' दूसरों ने समझाया 'कुछ नहीं है। शांत रहो।' वह समझा नहीं। उसी प्रकार भूत दीखने की बात करता रहा। उसका हाथ पकड़कर उठाने का प्रयत्न किया, किंतु उस समय उसके शरीर में इतनी शक्ति आ गई थी कि दस आदमी भी उसे उठाने में असमर्थ थे।

शक्ति कहां से आई? न वहां कोई भूत था और न प्रेत। कुछ भी नहीं था। उस व्यक्ति का एड्रीनल ग्लैंड इतना सक्रिय हो गया कि उसका अतिरिक्त स्राव हुआ और उस व्यक्ति की शक्ति बढ़ गई। इतनी बढ़ी कि वह दस व्यक्तियों के वश में भी नहीं रहा। कोई व्यक्ति हिस्टीरिया की बीमारी से ग्रस्त होता है और जब उसे दौरा पड़ता है, तब अत्यधिक शक्ति आ जाती है। उसे देखकर लोग मान बैठते हैं कि यह सारा कार्य किसी अदृश्य छाया का है। कोई भूत प्रेत शरीर में आविष्ट हुआ है, अन्यथा इतनी शक्ति नहीं होती। यथार्थ में न कोई छाया पड़ी है और न कोई भूत लगता है। यह सारा चमत्कार एड्रीनल के स्राव का है। एड्रीनल बहुत बड़ी छाया है, बहुत बड़ा प्रेत है। जब तक एड्रीनल नियंत्रण में रहता है, तब तक ठीक-ठीक काम देता है, जब एड्रीनल का स्राव नियंत्रित नहीं होता, वह भूत का काम करता है। प्रारंभ में उस अतिरिक्त स्राव से जितनी शक्ति का अनुभव होता हे, बाद में उतनी ही अधिक शिथिलता आती है। एड्रीनल सक्रिय होता है, तब तक शक्ति का अनुभव होता है और जब वह निष्क्रिय होता है, तब व्यक्ति निढाल हो जाता है, सुस्त हो जाता है।

भय उत्पन्न होने के चार मुख्य कारण हैं–

1. प्राकृतिक नियमों को न जानने के कारण।
2. शरीर के नियमों को न जानने के कारण।
3. मन के नियमों को न जानने के कारण।
4. चेतना के नियमों को न जानने के कारण।

जिस व्यक्ति ने प्रकृति के, शरीर के, मन के और चेतना के नियमों को जानने का प्रयत्न किया है, वह भय से मुक्त हुआ है। जो व्यक्ति इन जागतिक नियमों को नहीं जान पाता, वह हर बात से डर जाता है। बच्चा जितना डरता है, बड़ा नहीं डरता और वह इसलिए नहीं डरता कि वह अनेक नियमों को जानता है। उसका भय कम हो जाता है।

ध्यान है अभय का प्रयोग

ध्यान का प्रयोग इन नियमों को जानने का अच्छा माध्यम है। प्रेक्षाध्यान से हम शरीर के, मन के और चेतना के नियमों को जान लेते हैं। यह नियमों को जानने की प्रक्रिया है।

आज के वैज्ञानिकों को मैं बहुत महत्त्व देता हूं क्योंकि उनकी खोजों के द्वारा शरीर और मन के जटिल नियमों की व्याख्या हुई है। प्राचीन ग्रंथों में इतनी विशद व्याख्या प्राप्त नहीं है। शरीर के एक-एक कण के विषय में जितनी स्पष्ट अवधारणा आज हमें प्राप्त है, वैसी पहले कभी नहीं हुई थी। जिसकी जो विशेषता है, उसे हमें सहर्ष स्वीकार करना चाहिए।

मैं भौतिकवाद और अध्यात्मवाद को भिन्न कोण से देखता हूं। उनको परंपरागत दृष्टि से देखना न्यायसंगत नहीं होगा। प्रश्न पूछा जाता है कि आत्मा को मानते हैं या नहीं मानते? ईश्वर को मानते हैं या नहीं मानते? मैं न इस प्रश्नों को पूछना चाहता हूं और न इन प्रश्नों के उत्तर देने में ही मुझे रस है। मैं तो यह प्रश्न पूछना चाहता हूं कि आप शरीर को मानते हैं या नहीं मानते? शरीर को जानते हैं या नहीं जानते? आत्मा को मानने-जानने की बात छोड़ दें। आप सबसे पहले शरीर को जानने-मानने का प्रयत्न करें। जब तक आपने शरीर को नहीं जाना, आप आत्मा को कैसे जान पाएंगे? आपने जब तक शरीर को ही नहीं जाना, आप कैसे जान पाएंगे ईश्वर या परमात्मा को। हमारी कुछ बंधी-बंधाई परिभाषाएं हैं। हमने शब्दों को इस प्रकार रट लिया, पकड़ लिया कि हम

स्वयं उलझते हैं और दूसरों को उलझाते हैं। मैं पूछना चाहता हूं कि क्या आपके पास कोई शक्ति है, जिससे आप आत्मा को जान सकें? क्या आप इन इन्द्रियों के द्वारा ही आत्मा को, ईश्वर और परमात्मा को जानना चाहते हैं? आपके पास साधन कहां है? बहुत गरीब स्थिति में जी रहे हैं। इतनी दयनीय स्थिति है कि आदमी के पास साधन तो बहुत कमजोर है और वह आकाशीय उड़ान भरना चाहता है। कमजोर साधनों से ऊंची उड़ान नहीं भरी जा सकती। पहले हमारे साधन मजबूत होने चाहिए। पैरों में ताकत तो है नहीं जमीन पर चलने की और हिमालय पर चढ़ना चाहते हैं। हमारी इन्द्रियां जिनके आधार पर हम अपनी ज्ञानात्मक प्रवृत्तियों का संचालन करते हैं, कितना कमजोर साधन है। हम आत्मा या ईश्वर के बारे में जानते हैं या तो पुराने ग्रंथों के आधार पर या आपस में चर्चा करके, तर्क-वितर्क करके। ये दो ही तो साधन हैं–शास्त्र या तर्क। जिस ग्रंथकार ने लिखा, उसकी गहराई में पहुंचे बिना कैसे कहा जा सकता है कि वह सचाई है? सचाई को मापने का कोई साधन ही नहीं है। दूसरी बात है कि सभी ग्रंथकार एकमत नहीं हैं। एक कहता है आत्मा है, दूसरा कहता है कि आत्मा नहीं है। एक कहता है, ईश्वर है, दूसरा कहता है ईश्वर नहीं है, एकरूपता नहीं है, एकवाक्यता नहीं है। इस स्थिति में कैसे प्रमाणित किया जा सकता है कि अमुक ग्रंथ सही है और अमुक ग्रंथ सही नहीं है। क्या कोई सबल साधन है? आदमी के पास एकमात्र साधन है तर्क। तर्क का आधार क्या है? इन्द्रियों के द्वारा विषयों का संग्रहण होता है। मन के द्वारा व्याप्ति बनती है। व्याप्ति और प्रत्यक्ष दर्शन के आधार पर तर्क और अनुमान का महल खड़ा किया जाता है। इतना कमजोर है हमारा आधार, हमारा साधन कि एक तर्क दूसरे तर्क को काट देता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्ति स्वयं अपने ही तर्कों को काटता चला जाता है। आज एक तर्क प्रस्तुत करता है तो कल दूसरा तर्क सामने ला देता है। आखिर यह माना हुआ ही तो है। जब तक हमने साक्षात्कार नहीं किया, किसी मान्यता के आधार पर किसी प्रासाद को खड़ा कर दिया तो वह निर्माण केवल बालू की नींव पर किया हुआ निर्माण होगा। उसका कोई अस्तित्व नहीं होगा।

करें साक्षात्कार

तर्क पुष्ट आधार नहीं बनता। पुष्ट आधार बनता है प्रेक्षा, दर्शन। प्रेक्षा एक मार्ग है साक्षात्कार का। साक्षात्कार पर कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। प्रेक्षा है–जानो और देखो। इसमें कोई मान्यता नहीं, कोई तर्क नहीं,

कोई हाइपोथिसिस नहीं, कोई विकल्प नहीं, केवल जानना, केवल देखना। जितना जाना-देखा है वह सही है। नहीं जाना वह शेष अनंत है। सही और शेष-उसे जानना देखना है। आचार्य भिक्षु ने कहा था–मन में जिज्ञासा या संदेह उभरे, उसका समाधान कर लो। दूसरों को पूछो और वे जो कहें उसे समझने का प्रयत्न करो। बुद्धिगम्य हो तो स्वीकार कर लो और यदि बुद्धि में न बैठे तो उसे यह समझ कर छोड़ दो कि यह बात अभी मेरी समझ से परे है। मेरे गले नहीं उतर रही है। मेरी बुद्धि में नहीं समा रही है, पर मैं कोई सत्य का ठेकेदार तो नहीं हूं। 'मैं सोचता हूं, वही सही है'–यह ठेकेदारी सत्य के जगत में नहीं चलती। छोड़ दो उस बात को। आग्रह मत करो। यह कहो, मेरी छोटी बुद्धि में तुम्हारी बात नहीं समा रही है। तुम कहते हो, वह ठीक हो सकता है, पर अभी मैं उसे स्वीकार नहीं कर सकता। यह ऋजु मार्ग है।

हम सही मार्ग को स्वीकार करें। सही मार्ग है शरीर को जानना, शरीर के नियमों को जानना, मूर्च्छा के नियमों को जानना। मूर्च्छा के दो माध्यम हैं कर्म–शास्त्रीय भाषा में सूक्ष्म शरीर और शरीर-शास्त्रीय भाषा में ग्रथियां, ग्रंथितंत्र। सूक्ष्म शरीर में ऐसे संस्कार एकत्रित हैं, मूर्च्छा के इतने परमाणु संकलित हैं, इतने घने परमाणु हैं कि जब-जब वे सक्रिय होते हैं, तब-तब संवेग की विभिन्न अवस्थाएं निर्मित होती हैं। कभी क्रोध, कभी अहंकार, कभी वासना और कभी घृणा का भाव, कभी ईर्ष्या और आसक्ति का भाव, कभी अप्रियता और भय का भाव–ये रूप निर्मित होते हैं। ये सारे मूर्च्छा, संवेग और आवेग हैं। ये सारे इमोशनल व्यवहार हैं। ये संवेगात्मक व्यवहार पैदा होते रहते हैं, इनका हमें अनुभव होता रहता है। यह है कर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण।

शरीर शास्त्रीय दृष्टिकोण यह है–बाह्य निमित्तों और उद्दीपनों की स्थिति में शरीर में जो प्रतिक्रियाएं होती हैं, उनसे संवेग जागते हैं, कभी भय का, कभी क्रोध का तो कभी लड़ने का।

शरीर को जानें

हमें समझना है स्थूल शरीर को और सूक्ष्म शरीर को। इन दोनों शरीरों को समझे बिना आत्मा को समझने की बात हास्यास्पद लगती है। मैं नहीं कहता आप आत्मा या परमात्मा को न मानें, किंतु मैं तो यह कहना चाहता हूं कि आप मानने तक ही सीमित न रहें, वहीं अटके न रहें, उससे आगे जानने की सीमा में भी प्रवेश करें। मानने की बात बचपन की बात हो सकती है। सदा बचपन

में ही जीना सार्थक नहीं कहा जा सकता। बच्चा यदि सदा-सदा के लिए बच्चा ही बना रहे, कभी युवा या प्रौढ़ न बने, तो कैसा लगेगा? बच्चा मां की बात मानता है, पिता और भाई की बात को मानता है, बड़े-बूढ़ों की बात मानता है, किंतु जब वह बड़ा हो जाता है तो मानना कम हो जाता है, और जानने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाती है। मानना पीछे छूट जाता है, जानना आगे आ जाता है।

दर्शन और धर्म के क्षेत्र में भी ऐसा होना चाहिए। किंतु आश्चर्य है कि ऐसा नहीं हो रहा है। इस क्षेत्र में आदमी मानने में ही अधिक विश्वास करते हैं, जानने का प्रयत्न कम करते हैं। लगता है कि जीवन भर वे मानते ही चले जाएंगे। यह कैसा बचकानापन! इससे होगा क्या? आदमी को मानने की भूमिका से हट कर जानने की भूमिका में भी आना चाहिए।

प्रेक्षा का प्रयोग जानने का प्रयोग है, मानने का नहीं। सबसे पहले शरीर के नियमों को जानें। स्थूल शरीर के नियमों को जान लेने के बाद सूक्ष्म शरीर के नियमों को जानें। इसलिए साधक को एनेटॉमी का भी सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। कर्म-सिद्धांत का भी अध्ययन करना चाहिए। सूक्ष्म शरीर की संरचना और घटकों को भी जानना चाहिए। जब हम स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के नियमों को जान लेंगे, जब हम कर्म-सिद्धांत को जान लेंगे, तब उस भूमिका में एक सही जिज्ञासा पैदा होगी। तब हमारे मन में प्रश्न उभरेगा—क्या आत्मा है? क्या शरीर से परे भी कोई तत्त्व है? क्या परमात्मा का अस्तित्व है? यह वास्तविक जिज्ञासा होगी और अनेक जिज्ञासाओं का द्वार खुलेगा। इससे पूर्व द्वार खुलता ही नहीं, द्वार बंद होता है। 'मानने' का परिणाम है द्वार को बंद करना। मानने से छुटकारा तो शीघ्र हो जाता है। मैंने कहा और आपने मान लिया। इससे हुआ क्या? परिणाम तो शून्य ही रहा। जानने के लिए हजारों वर्ष बिताने पड़ते हैं। सीधा रास्ता है मानना और टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता है जानना। जानने के लिए बहुत श्रम और तपस्या करनी पड़ती है, खपना पड़ता है, तपना पड़ता है और जपना पड़ता है। मानने के लिए श्रम नहीं करना पड़ता, कोई तपस्या नहीं करनी पड़ती। न खपना पड़ता है, न तपना और जपना पड़ता है। कहा और मान लिया। करना-धरना कुछ भी नहीं है। मानने वाले वहीं अटक गए, किंतु जिन लोगों ने जानने का प्रयत्न किया, उन्होंने दुनिया को बहुत बड़ा अवदान दिया है। जानने वाले हजारों-लाखों व्यक्तियों के लिए भ्रम पैदा कर जाते हैं, क्योंकि जानने वाला एक होता हैं, उसको मानने वाले भी हजारों लोग मिल जाते हैं,

लाखों लोग भी मिल जाते हैं, यह भी एक कठिनाई है। केन्द्र छोटा होता है, परंतु परिधि बहुत बड़ी बन जाती है। सारी कठिनाई परिधि में ही पैदा होती है, केन्द्र में नहीं। यदि सारे के सारे जानने वाले हों तो कोई कठिनाई नहीं होती।

ज्ञाता द्रष्टा बनें

महावीर ने कहा—सारी बाधाएं और विघ्न उस व्यक्ति के सामने बार-बार उपस्थित होते हैं जो ज्ञाता और द्रष्टा नहीं है। जो स्वयं नहीं जानता और स्वयं नहीं देखता, वह इन विघ्नों से आक्रांत होता है। अपने ज्ञान से जो स्वयं नहीं जानता, अपनी आंखों से जो स्वयं नहीं देखता, उस व्यक्ति को पग-पग पर बाधाओं का सामना करना पड़ता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि जानने और देखने का प्रसंग आता है, ज्ञाता और द्रष्टा भाव का प्रसंग आता है, पर आदमी जानबूझ कर आंखें मूंद लेता है, दृष्टि को समाप्त कर देता है और तब वह विघ्नों से घिर जाता है। हमारा प्रयत्न हो कि हम स्वयं जानें, देखें। इस प्रयत्न में शरीरातीत स्थिति का अनुभव करना होगा।

साधना का परम सूत्र है—शरीरातीत स्थिति का अनुभव। शरीर-दर्शन को एक बार छोड़ना पड़ता है। शरीर-दर्शन के साथ दो बातें जुड़ी हुई होती हैं—जीवन और दूसरी है मृत्यु। दोनों साथ जुड़े हुए हैं। जब हम जीवन को देखते हैं, तब आसक्ति पैदा होती है और जब मौत को देखते हैं तो भय पैदा होता है। मूर्च्छा के ये दोनों पहलू—आसक्ति और भय शरीर से जुड़े हुए हैं। शरीर को बनाए रखते हैं तो आसक्ति पैदा होता है। भय है ही क्या? उत्तराध्ययन सूत्र का एक प्रसंग है। राजा संप्रति शिकार करने गया। सामने हिरण आया। बाण छोड़ा। वह मर गया। राजा हिरण के पास गया। इधर-उधर देखा। उसकी दृष्टि एक वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग के मुद्रा में स्थित एक मुनि पर पड़ी। मुनि को देखते ही राजा भयभीत हो गया। उसने सोचा, अन्याय हो गया। लगता है यह हिरण साधु का था। मैंने इसे मार डाला। साधु क्या कहेगा? यह तपस्वी है। यदि क्रुद्ध होकर मुझे शाप दे देगा तो मैं मारा जाऊंगा।

मारने वाला भी मौत से बहुत घबराता है, डरता है। मारने वाला भी मरना नहीं चाहता, बहुत भयभीत रहता है। वह बहुत सारे लोगों को मारता है, पर मरने के भय से अपनी सघन सुरक्षा की व्यवस्था करता है। भय इतना घनीभूत हो जाता है कि वह अपनी सुरक्षा के लिए हजारों व्यक्तियों को लगाता है। मरने वाले से मारने वाला अधिक डरता है।

राजा भयभीत हो गया। घोड़े से उतरा और मुनि के चरणों में जा गिरा। मुनि ने कायोत्सर्ग पूरा किया। राजा ने हाथ जोड़ कर कहा 'महाराज'! क्षमा करें। मुझे पता नहीं था कि यह हिरण आपका है। अनजाने में मैंने इसको मार डाला। अब आप मुझे क्षमा का दान दें।

मुनि शांत थे। उन्होंने मृदु स्वरों में कहा–

अभओ पत्थिवा तुब्भं, अभयदाया भवाहि य।
अणिच्चे जीवलोगम्मि, किं हिंसाए पसज्जसि ?॥

राजन्! मैं तुम्हें अभयदान देता हूं, किंतु दान को स्वीकार करने की क्षमता होनी चाहिए। यह क्षमता तब जागेगी जब तुम स्वयं अभयदान देने लग जाओगे। सब तुमसे भयभीत हैं। यह मत समझो कि एक हिरण ही तुमसे डरा है, सारा संसार तुमसे डर रहा है। तुम भी अभय देना सीखो। तुम दूसरों को अभय का दान करोगे तो मेरा अभय का दान तुमको प्राप्त होगा। राजन्! मैं नहीं समझ पाया कि इस अनित्य जीवन के लिए तुम इतनी हिंसा क्यों कर रहे हो? क्या तुम शाश्वत हो? क्या तुम अमर रहोगे? क्या तुम नहीं मरोगे? सोचो और समझो। कोई शाश्वत और अमर रहने वाला नहीं है, फिर तुम क्यों इतनी हिंसा करते हो?

अभय का दान वही व्यक्ति दे सकता है, जिसने स्वयं अभय प्राप्त किया है और जिसमें से अभय की तरंगें निकलती हैं। वे तरंगें आस-पास के सारे वातावरण में अभय का विकिरण करती हैं। वही व्यक्ति अभय हो सकता है, जो अभय का दान करता है। वही व्यक्ति अभय का दान कर सकता है, जो अभय होता है।

भय बहुत बड़ा संवेग है। इससे छुटकारा पाना बहुत आवश्यक है। अभय के द्वारा ही भय को समाप्त किया जा सकता है।

21. भय के स्रोत

समूचा संसार गतिशील है। सब कुछ प्रकंपन ही प्रकंपन है, गति ही गति है। गति का अर्थ है स्थान-परिवर्तन। हम एक स्थान में होते हैं और जब गति होती है तब स्थान बदल जाता है। अचेतन और चेतन—दोनों जगत में गति का यह सिद्धांत चल रहा है।

हमारा चित्त भी गतिशील है। वह भी बदलता है। वह एक स्थान में होता है, थोड़े समय बाद दूसरे स्थान में चला जाता है। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास इसलिए होता है कि चित्त एक स्थान पर स्थिर रह सके। चित्त बहुत गतिशील है। एक स्थान पर टिकता ही नहीं।

प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक 'ग्लैंड' ने अनेक परीक्षण किए और निष्कर्ष की भाषा में कहा कि ध्यान का स्थल एक मिनट में पंद्रह बार बदल जाता है। तात्पर्य यह हुआ कि चार सेकंड में ध्यान का स्थल बदल जाता है। चार सेकंड के पश्चात् अवधान का स्थल बदल जाता है। मनोवैज्ञानिक 'विलिंग्ज' ने भी लगभग यही निष्कर्ष निकाला था कि 1 से 5 सेकंड के मध्य ध्यान का स्थल बदल जाता है।

ध्यान करने वाला प्रत्येक साधक यह अनुभव करता है कि एक विषय पर चित्त लंबे समय तक एकाग्र नहीं होता। किसी विषय को लेकर बैठते हैं और वह ध्यान बदल जाता है, स्थान बदल लेता है। विषय परिवर्तन या स्थूल परिवर्तन स्वाभाविक प्रक्रिया है। विचार बदलता है, विषय बदलता है, अवधान बदलता है, सब कुछ बदलता रहता है।

जीवन : एक चलचित्र

हमारा जीवन बहुत बड़ा चलचित्र है। जितने चलचित्र हमने देखे हैं, वे सब इसके सामने छोटे पड़ते हैं। दूसरे चलचित्र ढाई-तीन घंटे के होते हैं, किंतु जीवन का यह चलचित्र जीवन भर रहता है, क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है। दृश्य का परिवर्तन होता रहता है। उसका कभी अंत नहीं आता।

दो व्यक्ति बातें कर रहे थे। दोनों गप्पी थे। एक ने कहा–मेरा दादा इतना बड़ा तैराक था कि वह अपने गांव के तालाब पर तैरने गया और तीन दिन तक, रात-दिन तैरता रहा। कितना कुशल तैराक! दूसरा बोला–बस, इतनी-सी बात है! मेरे दादा की बात सुनो। वह समुद्र में तैरने के लिए गया। उसको गए पचास वर्ष हो गए। आज तक वह घर नहीं आया। लगता है पचास वर्षों से निरंतर समुद्र में तैर रहा है। कितना निपुण तैराक है। हमारे जीवन का यह चलचित्र भी निरंतर हवा में तैरता रहता है। कभी पूरा होता ही नहीं।

चित्त वृत्तियों का यह चक्र भी निरन्तर गतिशील रहता है कभी क्रोध, कभी भय, कभी वासना, कभी राग, कभी घृणा, कभी द्वेष, कभी लिप्सा, कभी महत्त्वाकांक्षा एक के बाद दूसरी वृत्ति उभरती रहती है और अपना पूरा चित्र प्रस्तुत करती है। इन सारी वृत्तियों में भय का स्थान प्रमुख है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने तीन प्राथमिक संवेग माने हैं भय, क्रोध और स्नेह। ये तीनों बड़े हैं और आदमी के जीवन के साथी हैं, सदा साथ रहने वाले हैं। ये ही अधिक उभरते हैं।

भय : एक संवेग

भय बहुत बड़ा संवेग है। आदमी को हर बात में भय लगता है भय के बाद भय, भय छूटता ही नहीं। कोई न कोई भय बना ही रहता है। एक भय को छोड़ने का प्रयत्न करते हैं तो दूसरा भय सामने उभर आता है।

एक आदमी को डर बहुत सताता था। वह एक समझदार आदमी के पास गया और बोला–मुझे डर बहुत लगता है कभी भूत का, कभी प्रेत का डर सताता ही रहता है। ऐसा कोई उपाय बताओ कि मेरा डर छूट जाए। उसने एक उपाय किया। एक ताबीज बना कर दिया और कहा 'इसे हाथ में बांध दो, डर नहीं लगेगा।' उसने ताबीज को हाथ पर बांध दिया। कुछ महीने बीते। वह फिर मिला। उसने पूछा–क्या तुम्हारा भय समाप्त हो गया? अब डरते तो नहीं? उसने कहा–अब न भूत का डर सताता है और न प्रेत का भय सताता है। भय सारे समाप्त हो गए हैं, पर एक भय सदा बना रहता है कि कहीं यह ताबीज गुम न हो जाए। यह डर निरंतर बना का बना रहता है।

एक भय मिटा तो दूसरा भय पैदा हो गया। भय को मिटाने का भी भय पैदा हो गया। मनुष्य की ऐसी ही प्रकृति है कि वह उसे छोड़ नहीं सकता, क्योंकि भय उसका चिरसाथी है।

हमें भय के स्रोत को खोजना होगा। यह क्यों होता है? इसका मूल कारण क्या है? मूल स्रोत क्या है? हम उद्दीपक स्थितियों को जानते हैं, उत्तेजना की स्थितियों को हम जानते हैं। जब भय की उद्दीप्त करने वाली स्थिति सामने आती है, आदमी डर जाता है। तेज आवाज हुई, एक धमाका हुआ, आदमी डर जाता है। बादल गरजता है आकाश में और आदमी डर जाता है पृथ्वी पर। बिजली कौंधती है आकाश में और आदमी डर जाता हैपृथ्वी पर। बिजली कड़कती है और आदमी के प्राण छूटने लग जाते हैं। तेज आवाज एक उद्दीपक स्थिति है भय की ।

रात का समय है। दो साथी मार्ग से गुजर रहे हैं। एक साथी पीछे रुक जाता है। दूसरा अपनी ही धुन में चला जा रहा है। उसे जब ज्ञात होता है कि मैं अकेला ही हूं, साथी पीछे छूट गया है तो वह डरने लग जाता है। उसके पांव कांपने लग जाते हैं। अकेलापन भय को उद्दीपन करने वाली परिस्थिति है।

ये भय को उद्दीप्त करने के कुछेक कारण हैं। ये उद्दीपन हैं, भय के मूल स्रोत नहीं हैं। हमें खोजना होगा कि भय के मूल स्रोत क्या हैं?

भय के चार मूल स्रोत बतलाए हैं– 1. सत्त्वहीनता। 2. भय की मति। 3. भय का सतत चिंतन। 4. भय के परमाणुओं का उत्तेजित होना।

1. सत्त्वहीनता

व्यक्ति में पराक्रम नहीं है, बल नहीं है, शक्ति नहीं है, सत्त्व नहीं है। जब शक्ति, पराक्रम और सत्त्व का अभाव होता है तब अकारण ही भय पैदा होता है। सत्त्व अंतःकरण के संबद्ध पराक्रम है। जिस व्यक्ति को अपने अस्तित्व का निरंतर बोध होता रहता है, जिस व्यक्ति में अपने अस्तित्व के प्रति ग्लानि या हीनता का भाव नहीं है, वह चेतना सत्त्व-चेतना होती है। अपने अस्तित्व का बोध होते रहना, यह सत्त्व-चेतना है। जिसमें इसका अभाव होता है, वह दूसरों को देखते ही डर जाता है, दूसरों से प्रभावित हो जाता है। प्रभावित होना भी एक प्रकार का भय है। सत्त्व की कमी ही इसका कारण बनती है। स्वयं की दुर्बलता ही इसका कारण बनती है। इस दुनिया में शक्ति-अशक्ति, दुर्बलता-सबलता का नाटक होता रहता है। शक्तिहीन और दुर्बल व्यक्ति की कोई सहायता नहीं करता। शक्तिशाली की सहायता में अनामंत्रित लोग आ जाते हैं। एक संस्कृत कवि ने लिखा है–सखा भवति मारुतः।

जब दावानल सुलगता है, आग सारे जंगल को भस्मसात् करती है तब हवा उसका सहयोग करती है। वायु की सहायता के बिना आग फैलती नहीं। आग को फैलाने में वायु सखा का काम करती है। प्रश्न है सहयोग क्यों करती है? आग और हवा में विरोध होना चाहिए, किंतु आग को सहयोग देती है हवा, क्योंकि आग शक्तिशाली है, वह फैलने लगती है, तब हवा अनामंत्रित ही उसे सहयोग देने आ जाती है। जब आग दुर्बल होती है तब हवा उसे बुझाने लग जाती है। जब दीप टिमटिमाने लगता है तब हवा का झोंका आता है और उसे बुझा डालता है। हवा आग प्रज्वलित करती है, हवा आग बुझाती है। दीप बेचारा दुर्बल था, हवा ने उसको बुझा दिया। दावानल शक्तिशाली था, हवा ने उसको सहयोग दिया फलतः वह आग अधिक भभक उठी।

विश्व का यह नियम है। सब शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति का सहयोग करते है। जो स्वयं सत्त्वहीन और शक्तिशून्य होता है, उसका कोई सहयोग नहीं करता, उसके मन में सदा डर बना रहता है।

भय की उत्पत्ति का पहला स्रोत है–सत्त्वहीनता, शक्ति-शून्यता।

2. भय की मति

जब बुद्धि में भय समा जाता है, जब आदमी मान लेता है कि भय है तब भय ही भय दिखता रहता है। एक मकान को 'भूतहा' घोषित कर दिया गया। लोगों ने मान लिया कि इस घर में भूत रहते हैं, यह भूतों का निवास-स्थान है। भूत किसी को दिखे या नहीं, पर मन पर भूत सवार हो जाता है। बुद्धि में भय जम जाता है। 'भूतहा' मकान को कोई खरीदना नहीं चाहता, भले फिर वह कितना ही सुंदर हो, कितना ही सस्ता मिलता हो। इसका मूल कारण है कि आदमी में भय की बुद्धि निर्मित हो गई। जब एक बार ऐसा होता है तब भय पैदा होता ही रहता है।

3. भय का सतत चिंतन

डर की बातें करना, डर के विषय में सोचते रहना, बार-बार भय उत्पन्न करने वाला साहित्य पढ़ना, उसी का श्रवण करना, उसी का मनन करना, उसी का निदिध्यासन करना–ये सारे भय की उत्पत्ति में सहायक बनते हैं। आज क्या होगा? कल क्या होगा? बुढ़ापे में क्या होगा? भय की इतनी तरंगें और धाराएं प्रसारित होती हैं कि भय के अतिरिक्त कुछ दिखाई नहीं देता। भय का चिंतन करने से भय पैदा होता है।

अनेक लोग ऐसे होते हैं जो भय की कहानियां सुनाने में बहुत रस लेते हैं। वे कहने लगते हैं—मेरे पिता ने एक रात चुडैल को देखा था। उसके पंजे पीछे की ओर मुड़े हुए थे। मेरे पिता ने एक दिन भूत को देखा। मेरे मित्र ने प्रेतात्मा से साक्षात्कार किया और यह भयंकर घटना घटी। ऐसी घटनाओं का अंत ही नहीं आता। एक के बाद दूसरी घटना सुनाते चले जाते हैं, घटी हो या न घटी हो, यथार्थ हो या काल्पनिक हो। आख्यान या कहानी में कल्पना की जा सकती है, इसे दोष नहीं माना जाता। भूत-प्रेत की घटनाएं सुनाने वाले सुना देते हैं, किंतु सुनने वालों के लिए सोना हराम हो जाता है। रात भर करवटें बदलते रहते हैं, नींद आती ही नहीं। चारों ओर भूत ही भूत या प्रेत ही प्रेत दिखाई देने लगते हैं। सारा शरीर भय से कांप उठता है। कभी कुछ हुआ होगा या नहीं हुआ होगा, पर सुनने वाले के मन में सारे चित्र उभरते रहते हैं।

भय की उत्पत्ति का तीसरा स्रोत हैं भय का सतत चिंतन करना, भय की बातें सुनना।

4. भय के परमाणुओं का उत्तेजित होना

भय की उत्पत्ति का यह चौथा स्रोत बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। व्यक्ति के समक्ष कोई उद्दीपक स्थिति नहीं है, कोई भय की स्थिति नहीं है, न कोई भय का चिंतन चलता है, न भय देने वाली वार्ता ही हो रही है, न बुद्धि में भय समाया हुआ है, कुछ भी नहीं है, फिर भी भय वेदनीय कर्म के परमाणु सक्रिय होते ही भय लगने लग जाता है। यह बाहरी कारणों से होने वाला भय नहीं है। इसकी उत्पत्ति का मूल कारण आंतरिक है। बाह्य कारणों की अपेक्षा से इसे अहेतुक या अकारणिक भय कहा जाता है। यह केवल अपने भीतर संचित भय के परमाणुओं की सक्रियता से उत्पन्न होता है। अकारण ही भय की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, अकारण ही डर बरसने लग जाता है।

हम परिस्थितिवाद से बहुत परिचित हैं। बाहरी निमित्तों और परिस्थितियों को हम जानते हैं, किंतु आंतरिक वातावरण को नहीं जानते, उससे अधिक परिचित नहीं हैं।

मनोविज्ञान ने इस विषय पर अवश्य ही चिंतन किया था कि हमारे जो ज्ञान के विषय हैं, वे कभी चेतन मन में होते हैं, कभी अवचेतन मन में होते हैं और कभी अचेतन मन में होते हैं। तीनों मानसिक प्रक्रियाओं में ये चलते रहते हैं। एक बात अभी चेतन मन में हैं, ध्यान बदलते ही वह बात अवचेतन मन में चली जाती है और दो मिनट बाद भुला दी जाती है। वह कहां चली जाती है?

अभी हम एक विषय पर बात या ध्यान कर रहे थे, दो मिनट बीता, बात का विषय बदल गया, मन दूसरे बिंदु पर जा टिका। क्या बात समाप्त हो गयी? नहीं, वह चेतन मन से उतर गयी, समाप्त नहीं हुई। वह भीतर में चली गई, गहरे में चली गई। वह अवचेतन मन में चली गई। वह वहां अंकित हो गयी, उसका प्रतिबिंबन हो गया। अवचेतन और चेतन के विषय बदलते रहते हैं। एक चक्र चलता रहता है। अवचेतन की बात चेतन में जाती है और चेतन की बात पुनः अवचेतन में चली जाती है। यह चक्र रुकता नहीं, इसलिए भूली हुई बातें भी कभी-कभी याद हो जाती हैं। बात के याद आते ही आदमी कभी डर जाता है, कभी कुपित हो जाता है, कभी स्नेह से अभिभूत हो जाता है।

सूक्ष्म जगत

अवचेतन की बात अस्पष्ट होती है और चेतन की बात स्पष्ट होती है। जो बात चेतन मन में उतरती है, उसका स्पष्ट अवबोध होता है और जो बात अवचेतन मन में चली जाती है, वह अस्पष्ट हो जाती है। चेतन की बात सीमित होती है, अवचेतन में जाकर वह फैल जाती है, बड़ी बन जाती है। अध्यात्म विज्ञान में इस विषय पर सूक्ष्म पर्यालोचन किया गया था, मनोविज्ञान से भी बहुत आगे बढ़कर। पूरा का पूरा कर्म-सिद्धांत इसी आधार पर खड़ा हुआ था कि चेतन मन की प्रत्येक घटना सूक्ष्म शरीर में जाती है। उसका प्रकंपन सूक्ष्म शरीर में होता है।

सूक्ष्म शरीर दुनिया का बहुत बड़ा तंत्र है। इतना बड़ा तंत्र दुनिया में दूसरा है ही नहीं। संसार के सारे तंत्रों राज्य तंत्र, समाज तंत्र, उद्योग तंत्र को तुला के एक पल्ले पर रखा जाए और सूक्ष्म शरीर के तंत्र को दूसरे पल्ले पर रखा जाए तो सूक्ष्म शरीर के तंत्र वाला पल्ला भारी होगा। वह इतना बड़ा तंत्र है कि जहां असंख्य वृत्तियों के असंख्य स्थान अलग-अलग बने हुए हैं। असंख्य-असंख्य वृत्तियां हैं और असंख्य-असंख्य स्थान हैं। एक विचार, एक चिंतन और एक अध्यवसाय में असंख्य गुना तारतम्य होता है। इतना बड़ा तारतम्य इसलिए है कि सूक्ष्म स्पंदन का अपना पूरा तंत्र बन जाता है। कोई भी स्पंदन या प्रकंपन व्यर्थ नहीं जाता। उसके अंकन होते हैं। वे सारे अंकन भीतर पड़े रहते हैं। भीतर में यह इतना बड़ा कम्प्यूटर है कि वह प्रत्येक छोटे-बड़े स्पंदन का रिकार्ड कर लेता है और समय का परिपाक होने पर उसका फल भी प्रस्तुत कर देता है।

उस सूक्ष्म शरीर में, कर्म-शरीर में सारे तंत्रों के बीच भय का भी एक पूरा तंत्र है। मोह के परमाणु उस पर अपना अधिकार जमाए हुए हैं। वे परमाणु

उद्दीपनों के आधार पर उद्दीप्त होते हैं और यदि कोई उद्दीपन प्राप्त नहीं होता है तो अपने काल का परिपाक होते ही वे उद्दीप्त हो जाते हैं। वे इस बात की अपेक्षा नहीं रखते कि उद्दीपन मिले, तब ही उद्दीप्त होना है। वे उद्दीपनों के बिना भी अपना काम प्रारंभ कर देते हैं।

कर्म का तंत्र बड़ा दायित्वशील है। वह अपने दायित्व के प्रति इतना जागरूक है कि वह इस बात की अपेक्षा नहीं रखता कि उद्दीपक सामग्री मिली या नहीं मिली, वह तो अपना काम शुरू कर देता है। विपाक होते ही वह अपना काम प्रारंभ कर देता है। भय प्रगट हो जाता है। कई बार आदमी को महसूस होता है कि वह शांत बैठा है, पर अचानक उदास हो जाता है। कोई परिस्थिति नहीं होती, पर आदमी हर्षित हो जाता है, हर्ष की तरंगें उठने लग जाती हैं। कोई अशुभ समाचार नहीं सुना, फिर भी आदमी का मन अचानक विषाद से भर जाता है। अकस्मात् क्रोध क्यों आ जाता है? अकस्मात् भय क्यों उत्पन्न हो जाता है? ऐसा अनुभव एक का नहीं प्रत्येक को कभी-कभी होता है और वह इसी भाषा में बोल भी पड़ता है यह अकस्मात् क्यों हो गया? कैसे हो गया?

यह सारा होता है भय के परमाणुओं की सक्रियता के कारण। यह सब से बड़ा स्रोत है, मूल स्रोत है, महास्रोत है।

मूल स्रोत है मूर्च्छा

हमारे भीतर मूर्च्छा के परमाणु हैं। मूर्च्छा एक गंगोत्री है। उसकी अनेक धाराएं हैं। गंगोत्री एक है, पर उसकी अनेक धाराएं, जगह-जगह फैली हुई हैं। भय उसकी एक धारा है। भय-उत्पत्ति के कारण हमारे भीतर विद्यमान हैं। हम आंतरिक कारणों के विषय में बहुत कम जानते हैं। हम परिस्थिति के परिवेश में ही सब कुछ सोचते हैं। हम परिस्थितिवादी हो गए हैं। हमारी यह दृढ़ धारणा बनी हुई है कि जैसी परिस्थिति होती है, आदमी वैसा ही बन जाता है। इस धारणा में कुछ सचाई है, इसलिए आदमी इसी भाषा में सोचता है, बोलता है कि मैं क्या करूं, जैसी परिस्थिति होती है, आदमी को वैसा बनना ही पड़ता है। इस अवधारणा से मुक्ति पाना भी कठिन हो गया है। यह अवधारणा पूरी सचाई नहीं है। पूरी सचाई तब हो, जब हम दोनों बातों को मिला दें। पहली बात है जैसी परिस्थिति होती है, आदमी वैसा ही बन जाता है। दूसरी बात है जैसा कर्म का विपाक होता है, आदमी वैसा ही बन जाता है। इन दोनों तथ्यों को मिला देने से सचाई का बोध हो सकता है। इसके साथ तीसरी बात और

जोड़नी होगी। तीन बातें होंगी परिस्थिति, कर्म-संस्कार और परिणमन। ये तीनों बातें जुड़ती हैं, तब पूरी सचाई बनती है।

आत्मा में कर्म का योग भी है और वह परिस्थिति से प्रभावित भी होती है, फिर भी आत्मा का अस्तित्व स्वतंत्र बना हुआ है, वह सर्वथा दबी हुई नहीं है। अगर वह परिस्थिति और कर्म से सर्वथा प्रभावित हो जाए तो आत्मा अनात्मा बन जाए, उसका अस्तित्व समाप्त हो जाए, परंतु जिसका अस्तित्व एक क्षण के लिए भी हो गया, वह कभी समाप्त नहीं हो सकता। अस्तित्व स्थायी होता है, ध्रुव होता है। आत्मा का अस्तित्व अपने स्वयं के परिणमन के आधार पर होता है। परिणमन दो प्रकार का होता है–एक है स्वाभाविक परिणमन और दूसरा है वैभाविक परिणमन। एक है अपने अस्तित्व के साथ चलने वाला पर्याय और दूसरा है बाहरी निमित्तों और कारणों के साथ बदलने वाला पर्याय। ये दो प्रकार के पर्याय या परिणमन होते हैं। आत्मा के अस्तित्व का जो स्वाभाविक परिणमन है, वह भी निरंतर सक्रिय रहता है और अपने अस्तित्व को बनाए रखता है। परिणमन बराबर काम कर रहा है, निरंतर गतिशील हो रहा है कि कहीं अस्तित्व समाप्त न हो जाए। यह परिणमन अस्तित्व की बार-बार स्मृति दिला रहा है।

अंधकार आता है, तब भी प्रकाश बराबर बना रहता है। दोपहर का समय है। आकाश में गहरे बादल उमड़ आए हैं। घनघोर घटा। अंधकार हो गया है, फिर भी दिन है इसकी विस्मृति नहीं होती। रात की घटा और दिन की घटा में अंतर होता है। दिन में गहरी घटा होने पर भी दिन का बोध बना का बना रहता है। यह नहीं मान लिया जाता कि अंधेरा है तो रात हो गई। दिन और रात के बीच की जो एक विभाजक रेखा है, वह है हमारे अस्तित्व का परिणमन। अस्तित्व का परिणमन कभी विस्मृति नहीं होने देता स्वयं के अस्तित्व की। 'मैं चेतन हूं', 'मैं अचेतन नहीं हूं' यह स्मृति सदा बनी रहती है। इस परिणमन के साथ-साथ कर्म का विपाक भी चलता है और परिस्थिति भी चलती है। इन तीनों का प्रतिफलन होता है हमारा व्यक्तित्व।

भय का आंतरिक कारण

भय का चौथा बड़ा स्रोत है आंतरिक कारण।

भय के चार स्रोत हैं। उनसे फलित होता है–परिस्थितिवाद, कर्मवाद और परिणमनवाद।

आदमी अधिक समय परिस्थितियों के साथ जीता है, उद्दीपनों के साथ

जीता है। परिस्थितियां आदमी को बहुत बाधित करती हैं। परिणमन उसमें हस्तक्षेप नहीं करता। परिणमन का हस्तक्षेप वहां होता है, जहां अस्तित्व को विलीन करने की बात सामने आती है। उस स्थिति में परिणमन बहुत सक्रिय हो जाता है, अन्यथा वह मध्यम गति से चलता है।

अधिकांश भय परिस्थितिजन्य होते हैं। एक परिस्थिति बनी, बीमारी फैली और मन में रोग का भय व्याप गया। बुढ़ापे को देखा और बुढ़ापे का भय मन में व्याप गया। घटना को देखते हैं और मन में भय अंकुरित हो जाता है।

ताओ धर्म के प्रवर्तक महान दार्शनिक लाओत्से जा रहे थे। सामने घोड़े पर बैठा एक आदमी मिल गया। लाओत्से ने पूछा–'तुम कौन हो, भाई?'

'मैं प्लेग हूं।'

'कहां जा रहे हो?'

'संधाई नगर में जा रहा हूं।'

'क्या करोगे वहां जाकर?'

'मुझे दस हजार आदमियों को मारना है।'

लाओत्से आगे बढ़ गए। अश्वारोही भी तेजी से आगे बढ़ गया। कुछ दिन बीते।

लाओत्से घूम-फिर कर आ रहे थे। रास्ते में पुनः वही अश्वारोही मिला।

लाओत्से ने पूछा–'आ गए तुम?'

'हां, मेरा काम पूरा हो गया।'

'तुमने झूठ क्यों कहा मुझसे कि दस हजार आदमी मारने हैं?'

'नहीं, मैंने झूठ नहीं कहा था।'

'झूठ कैसे नहीं कहा? संधाई में प्लेग से पचास हजार आदमी मरे हैं।'

'तुम सच कहते हो, संघाई में पचास हजार आदमी मरे हैं, किंतु महाशय! मैंने दस हजार आदमी ही मारे थे। शेष चालीस हजार आदमी मौत के भय से मर गए? मैं क्या करता? मैंने झूठ नहीं कहा है। यह सही है कि आदमी भय को पकड़ लेता है परिस्थिति के कारण। कहीं एक घटना घटती है, कहीं धमाका होता है और हार्टफेल किसी दूसरे का हो जाता है। एक घटना घटित होती है, सामने रहने वाला उससे प्रभावित होता है या नहीं, मरता है या नहीं, पर सुनने वाला मर जाता है यह है परिस्थिति के घेरे में जीना।

हमें भय की चर्चा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि भय की सतत चर्चा करते रहने

से सुनने वाले में भय व्याप्त हो जाता है। हमें डरना नहीं है, भय से मुक्ति पानी है।

उपाय है प्रेक्षा

भय की उत्पत्ति के कारणों की चर्चा हमने की। अब भय-निवारण के उपायों की चर्चा करनी है। ऐसे कौन-से उपाय और स्रोत हैं, निमित्त हैं, जिनका अवलंबन लेकर आदमी भय मुक्त हो सकता है? क्या यह भी संभव हो सकता है कि भय की परिस्थिति होने पर भी आदमी डरे नहीं? भय का निमित्त होने पर भी विचलित न हो, विक्षुब्ध न हो? भय का वातावरण रहने पर भी आदमी अप्रकंप रहे? रोग उत्पन्न होने पर भी आदमी घबड़ाए नहीं? हां, ऐसा हो सकता है। प्रेक्षा उसका एक उपाय है। कायोत्सर्ग अभय बनने का उपाय है। प्रेक्षा-ध्यान करने वाले उपाय की साधना करते हैं। अपाय और उपाय दोनों परस्पर जुड़े हुए हैं। अपाय को जाने बिना उपाय को नहीं जाना जा सकता और उपाय को जाने बिना अपाय को निरस्त नहीं किया जा सकता। यदि अपाय को निरस्त करना है तो उपाय का आलंबन लेना ही होगा। बुराई को निरस्त करना है तो उसे भी जानना पड़ेगा। बुराई अज्ञेय नहीं, ज्ञेय है। बुराई हेय हो सकती है, पर ज्ञेय तो है ही। अच्छाई भी ज्ञेय है और बुराई भी ज्ञेय है। हम जिसे जानते ही नहीं, उसे समाप्त कैसे करेंगे? जहां ज्ञेय का प्रश्न है, वहां बुराई और अच्छाई में कोई अंतर नहीं है। जहां हेय और उपादेय का प्रश्न आता है वहां बुराई हेय है और अच्छाई उपादेय है। हमें दोनों को जानना है, हेय को छोड़ना है और उपादेय को स्वीकार करना है।

मनोवैज्ञानिक परीक्षण का निष्कर्ष है कि ध्यान एक विषय पर चार सेकंड से अधिक नहीं टिकता। ध्यान का एक सिद्धांत इसे स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार एक ही विषय पर ध्यान 5-10 घंटा या अधिक भी स्थिर रह सकता है, किंतु जिसने ध्यान का अभ्यास ही नहीं किया है, उसका ध्यान विचलित हो सकता है, जल्दी-जल्दी बदल सकता है। इस दृष्टि से मनोविज्ञान के ध्यान-विचलन के सिद्धांत से हमारी अस्वीकृति नहीं है। जो ध्यान करने का अभ्यस्त नहीं होता, उसका ध्यान चार-पांच सेकंड से अधिक एक स्थान पर नहीं टिक सकता। संभव है प्रत्येक सेकंड में वह बदलता रहे। इससे भी कम समय में परिवर्तन हो सकता है। मन की गति बड़ी तीव्र है। न जाने एक सेकंड में वह कितनी बार कहां-कहां चला जाता है। यह अंकन गलत नहीं है, किंतु कोई भी अंकन या परीक्षण अंतिम नहीं हो सकता। यदि हम अंतिम मान लेते हैं तो भूल

होती है ध्यान की प्रक्रिया ही समाप्त हो जाती है, निरंतरता की बात ही समाप्त हो जाती है, फिर सारा का सारा ध्यान सांतर होगा, निरंतर कुछ भी नहीं होगा। प्रेक्षा करते-करते हमारी ऐसी स्थिति का निर्माण होता है कि हम एक विषय पर लगातार अवधान करने में सफल हो सकते हैं। अवधान स्थायी बन जाता है। यह मनोविज्ञान के परीक्षण का विषय नहीं बन सकता। इसका कारण भी है। जब तक लेश्या का सिद्धांत स्पष्ट नहीं होता, तब तक ध्यान-विचलन का सिद्धांत भी आगे नहीं बढ़ सकता। भाव परिवर्तन होता है और भाव परिवर्तन के आधार पर विचार परिवर्तन होता है। विचार परिवर्तन का अंकन हो सकता। भाव परिवर्तन का अंकन नहीं किया जा सकता। विचार का कोई स्वतंत्र मूल्य नहीं है। सारे विचार भावतंत्र के आधार पर पैदा होते हैं और विलीन होते हैं।

तीन तंत्र है विचार का तंत्र, भाव का तंत्र और अध्यवसाय का तंत्र। ये तीनों जुड़े हुए हैं। अध्यवसाय से भाव पैदा होते हैं और भाव से विचार पैदा होते हैं। विचार का अर्थ है विचरण, गतिशील। गति का अर्थ है चलना। जो चलता है वह है विचार और जो नहीं चलता वह है अविचार। विचार स्थिर नहीं होता, मन स्थिर नहीं होता। मन का काम है विचरण करना, चलना, गतिशील होना। मन का स्वरूप यही है। ऐसी स्थिति में हम मन को कैसे स्थिर करेंगे? मन की दो अवस्थाएं हैं–या तो मन होगा या मन नहीं होगा। जब भाव होता है, तब मन नहीं होता। यह अमन की स्थिति पैदा होती है भाव की स्थिरता के द्वारा। जब अमन होता है तब भय की स्थिति सर्वथा समाप्त हो जाती है।

भय से मुक्त होने का एक उपाय है भाव-तंत्र का परिष्कार, लेश्या का विशुद्धिकरण। जब लेश्याएं शुद्ध होती हैं, भाव-तंत्र निर्मल होता है तो भय अपने आप विलीन हो जाता है।

22. भय की परिस्थिति

प्रसन्नता हमारी जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि है। आदमी हर्ष और शोक–दोनों से गुजरता है। हर्ष कोई बड़ी उपलब्धि नहीं है और इसलिए नहीं है कि हर्ष के पीछे शोक जुड़ा हुआ है। कभी हर्ष होता है और कभी ऐसी परिस्थिति आती है कि आदमी शोक में डूब जाता है। शोक भी बहुत बुरी बात नहीं है। आदमी शोक में होता है तो कभी हर्ष भी आ सकता है।

हर्ष और शोक से परे है प्रसन्नता। प्रसन्नता हमारे चित्त की निर्मलता है। उसमें न हर्ष होता है और न शोक होता है। आकाश प्रसन्न होता है, तब न बादल होते हैं, न वर्षा होती है, न अंधड़ होता है, कुछ भी नहीं होता, आकाश साफ होता है। केवल निर्मलता, केवल उज्ज्वलता, केवल प्रकाश। प्रसन्नता हमारे चित्त की निर्मलता की स्थिति है, किंतु उसमें बाधाएं बहुत हैं। जो बड़ी उपलब्धि होती है, वह बाधाशून्य नहीं होती। विशेष प्राप्ति के लिए बाधाएं आती हैं, विघ्न और संकट आते हैं। बिना बाधाओं के यदि बड़ी उपलब्धि हो जाए तो वह उपलब्धि भी बड़ी नहीं, छोटी बन जाती है। बड़ी उपलब्धि का अर्थ है कि उसकी प्राप्ति में कितनी घाटियां पार की हैं। कितने आरोह और अवरोह आए हैं? चलते-चलते जब चरण थक जाते हैं तब जो मंजिल मिलती है, वही बड़ी मंजिल होती है।

भय क्यों?

प्रसन्नता एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। अभय और प्रसन्नता का जोड़ा है। दोनों साथ-साथ रहते हैं। ऐसा नहीं होता कि अभय हो और प्रसन्नता न हो या प्रसन्नता हो और अभय न हो। भय आते ही प्रसन्नता मिट जाती है।

मनुष्य का जीवन परिस्थितियों के चक्र से जुड़ा हुआ है। उसकी बहुत लंबी श्रृंखला है। उसको तोड़ा नहीं जा सकता। प्रसन्नता को समाप्त करने वाली या भय पैदा करने वाली कुछेक परिस्थितियां हैं। उनको जानना बहुत आवश्यक है।

वे परिस्थितियां सात हैं–1. इहलोक भय 2. परलोक भय 3. आदान भय 4. अकस्मात् भय 5. वेदना भय 6. मरण भय 7. अश्लोक (अयश) भय।

भय की पहली परिस्थिति है इहलोक भय। इहलोक का अर्थ है मनुष्य जगत। आदमी आदमी से डरता है। आदमी आदमी के लिए भय पैदा करता है। यह भय की इहलोक भय है। आदमी को आदमी से नहीं डरना चाहिए, क्योंकि दोनों समान जातीय और समानधर्मा हैं, दोनों आत्मवान (चेतनावान) हैं, (बुद्धिमान) हैं। आदमी को आदमी से नहीं डरना चाहिए, यह एक तथ्य है, किंतु प्रत्येक आदमी एक व्यूह से घिरा हुआ है। आदमी में लोभ है, इसलिए वह भय पैदा करता है। यदि आदमी में लोभ नहीं होता तो आदमी से डरने की जरूरत नहीं होती। भय का मूल सर्जक है लोभ। कुछ आवेग हैं, कुछ उप-आवेग हैं। लोभ एक आवेग है और भय उसका उप-आवेग है। लोभ है तो भय है और लोभ नहीं है तो भय नहीं है। लोभी आदमी अपना स्वार्थ साधना चाहता है और जब व्यक्तिगत स्वार्थ की बात आती है तब दूसरों के लिए भय पैदा करता है। यह कभी नहीं होता कि स्वार्थ-सिद्धि हो और दूसरों के लिए भय की सृष्टि न हो। यह असंभव बात है। जहां-जहां स्वार्थ-साधना की बात होती है, वहां-वहां भय की सृष्टि होती ही है। आक्रमण किसलिए होता है? साम्राज्यवादी मनोवृत्ति किसलिए होती है? चोरी, डकैती, लूट-खसोट, विश्वासघात और धोखाधड़ी क्यों होती है? जितने भी ये असद् आचरण और व्यवहार हैं, ये सारे लोभ के केन्द्र से निकलने वाली रश्मियां हैं। ये वे उत्ताल तरंगें हैं, जो लोभ के महासागर में उछालें भरती रहती हैं और आकाश को चूमती हैं। लोभ का महासमुद्र है, उसमें से ये उछलती हैं।

भरोसा किसका?

जब तक लोभ है, तब तक स्वार्थ है और जब तक स्वार्थ है, तब तक आदमी दूसरे आदमी के लिए खतरा और भय है। कभी खतरे से परे की बात नहीं सोची जा सकती, कभी भरोसा नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि इस दुनिया में कोई आदमी किसी का भरोसा नहीं करता। अपने बाप का भी भरोसा नहीं करता। भरोसा अपने बेटे का भी नहीं करता और पत्नी का भी नहीं करता। सर्वथा संदेह की स्थिति है। हर व्यक्ति के पास अपने रहस्य हैं, मंत्र हैं, गुप्त योजनाएं हैं, क्रिया-कलाप और व्यवहार हैं। वह अंतरंग बात को कहीं बताना नहीं चाहता, उद्घाटित करना नहीं चाहता। औरों की बात ही क्या, गुरु भी अंतिम गुर किसी को नहीं बताता, अपने पास ही रखना चाहता है। यही

कारण है कि भारत की अनेक विद्याएं लुप्त हो गईं। गुरु अपने प्रिय शिष्य को भी रहस्य नहीं बताते और गुरु की मृत्यु के साथ वह विद्या भी लुप्त हो जाती है। इसका कारण है कि कोई किसी पर भरोसा नहीं करता। बात भी सही है कि भरोसा किया कैसे जाए?

एक मंत्रवादी कहीं जा रहा था। रास्ते में उसने देखा कि एक चूहा तड़प रहा था। मंत्रवादी का दिल पिघला। उसने उसे शेर बना दिया। कहां एक छोटा-सा चूहा और कहां महान शक्तिशाली शेर! कहां वह चूहा जो प्रतिपल बिल्ली से डरता और कहां शेर जो जंगल का राजा है, जिससे सब डरते हैं। इतना बड़ा बना दिया। जैसे ही चूहा शेर बना, पेट भी बड़ा बना, भूख भी ज्यादा बढ़ी। भूख से वह अकुलाया, छटपटाहट हुई। पेट कैसे भरा जाए? उसने सोचा–क्या खाऊं, कहां से लाऊं। सामने वही मंत्रवादी खड़ा था, जिसने चूहे को शेर बनाया था। शेर ने सोचा–भूख को मिटाने के लिए इसे ही क्यों न खा लूं। तत्काल वह उस पर झपटा और खाने को दौड़ा। मंत्रवादी ने सोचा–अरे इतना कृतघ्न! मैंने इसे डरपोक चूहे से शक्तिशाली शेर बनाया, छोटे से बड़ा बनाया और यह मुझे ही खाने आ रहा है? तत्काल मंत्रवादी ने विपरीत मंत्र पढ़ा और वह शेर पुनः चूहा हो गया।

यह है संसार की स्थिति। विश्वास कैसे किया जाए? इस दुनिया में चूहे को शेर बनाने वाला क्या शेर पर भरोसा कर सकता है?

पिता अपने पुत्र को छत पर खड़ा कर स्वयं नीचे आकर आंगन में खड़ा हो गया। नीचे से उसने अपने पुत्र से कहा–'बेटे! ऊपर से कूद पड़ो। मैं अपनी बांहों में तुम्हें झेल लूंगा।' पिता ने अपनी बाहें फैला दी। बेटे ने विश्वास कर लिया। वह ऊपर से कूदा। पिता ने बाहें तत्काल समेट लीं। वह नीचे फर्श पर गिर पड़ा। बेटे ने कहा–'पिताजी! यह क्या किया आपने? आपने तो कहा कि बाहों में थाम लूंगा, पर ज्योंहि मैं कूदा आपने बाहें समेट लीं। यह क्यों?' पिता बोला–'बेटे! तुझे मैं एक महत्त्वपूर्ण पाठ पढ़ाना चाहता था। आज अच्छा अवसर मिला। मैं यह पाठ पढ़ाना चाहता था कि संसार ऐसा है, जहां विश्वास सगे बाप का भी नहीं करना चाहिए।'

यह दुनिया ही ऐसी है इस स्वार्थपूर्ण और लोभपूर्ण दुनिया में आदमी आदमी का विश्वास कैसे कर सकता है? दो व्यक्तियों के बीच में चाहे उनमें कितनी ही निकटता हो, आपस में कितना ही जुड़ाव हो, एक छिपाव है, अलगाव है और परस्पर भय का सूत्र जुड़ा हुआ है। दो व्यक्ति साथ रहते हैं,

चाहे वे पति-पत्नी हों, पिता-पुत्र हों, माता-पुत्र हों उन के बीच में संदेह का सूत्र बराबर काम करता है। पास में बैठे हुए भी वे अलग हैं, निकटम संबंधी होने पर भी विश्वास नहीं हैं। यह एक स्थिति है इहलोक भय की।

परलोक भय

भय की दूसरी परिस्थिति है परलोक भय। परलोक का अर्थ है पशुजगत्। आदमी पशु से बहुत भय खाता है। रात को हाथ में लाठी लेकर चलता है, क्योंकि उसे भय है, रास्ते में कहीं कुत्ता न काट खाए, गाय या अन्य पशु कुछ कर न दे, टक्कर न मार दे। कुछ लोग बिल्ली और चूहों से भी डरते हैं। सांप और बिच्छू से न डरने वाले तो बहुत ही कम हैं, सब डरते हैं। कुत्ता काटे या न काटे, गाय-भैंस सींग लगाये या न लगाये, उनका भय बराबर बना रहता है। कहीं बैल और सांड खड़े हों तो आदमी बचकर निकलता है क्योंकि उसके मन में यह भय है। काटने, सींग लगाने और टक्कर लगाने की कल्पना बनी रहती है, इसलिए भय भी बराबर बना का बना रहता है।

परलोक भय का एक अर्थ भूत-प्रेत का भय भी है। यह बड़ा विचित्र भय है। बहुत ही अद्भुत कहानियां हैं भूत और प्रेत के भय की। इस प्रसंग में भय की दो स्थितियां और जान लेनी चाहिए। भय दो प्रकार का होता है—काल्पनिक भय और वास्तविक भय। कहीं-कहीं भय केवल काल्पनिक होता है, वास्तविक भय नहीं होता। मैंने देखा है एक आदमी को। उसका नाड़ी-संस्थान इतना दुर्बल था कि कोई आदमी सामने आता तो वह डर जाता, सामने वाला व्यक्ति कहीं मुझे मार पीट न दे इस काल्पनिक भय से वह चिल्लाने लग जाता। जैसे-जैसे नाड़ी-संस्थान की दुर्बलता बढ़ती है, वैसे-वैसे काल्पनिक भय की मात्रा भी बढ़ने लग जाती है। काल्पनिक भय का और नाड़ी-संस्थान की दुर्बलता का बहुत बड़ा संबंध है। कमजोर नाड़ी-संस्थान वालों को जाने-अनजाने, दिन-रात, भय सताता ही रहता है। उन्हें यह जान लेना चाहिए कि उनके नाड़ी-संस्थान में दुर्बलता आ गई है और मस्तिष्कीय ज्ञान-तंतु ठीक काम नहीं कर रहे हैं। कभी-कभी भय यथार्थ होता है, वास्तविक होता है, भय की घटनाएं होती हैं। भूत और प्रेत की अधिकांश बातें काल्पनिक होती हैं, पर कभी-कभी उनमें कुछ वास्तविकता भी पाई जाती है। मन में एक अवधारणा बनी हुई है कि अंधेरे में भूत और प्रेत होते हैं। जैसे ही अंधेरा सामने आता है, भूत और प्रेत नाचते हुए दिखने लग जाते हैं। जिस को अंधेरे में डर लगता है वह अंधेरे में अकेला हो तो उसे लगता है कि इस संसार में भूत-प्रेत के सिवाय किसी का

भी अस्तित्व नहीं है। सीढ़ियों में देखता है तो भूत खड़ा दिखाई देता है, भींत की ओर देखता है तो भूत भींत पर चढ़ते-उतरते दिखाई देता है। आमने-सामने देखता है तो भूत ही भूत दिखाई देते हैं। बड़ी अजीब परिस्थिति हो जाती है। भय कल्पनागत हो जाता है, मन में समा जाता है।

लाडनूं में वृद्ध साध्वियों का स्थिरवास है। वे जिस मकान में रहती हैं, वह पीरजी का स्थान माना जाता है। यह भी माना जाता है कि पीरजी वहां यदा-कदा आते हैं। यह सच भी है। एक बार साध्वियां कहीं दूसरे मकान में रह रही थीं। उस (मूल) मकान में साधु थे। एक साधु रात को 12-1 बजे कार्यवश बाहर जाने के लिए उठा और अपने स्थान से चला। एक कमरे से ज्योंही वह बाहर आया, उसने देखा कि सामने कोई बैठा है। उसके कपड़े सफेद हैं। उस साधु ने सोचा–इस समय कौन हो सकता है? पीरजी आकर बैठे हैं। थोड़ा भय लगा, घबराहट हुई, पर सोचा, यदि डर जाऊंगा तो डर सदा के लिए कायम हो जाएगा। डरना तो नहीं है। देखूं क्या है? कल्पना में तो पीरजी आ गए, निकट जाने का साहस बटोर कर उस दृश्य के पास गया और देखा कि वहां कोई पीरजी नहीं हैं। एक पट्ट पड़ा है और उस पर सफेद कपड़ा रखा हुआ है। दूर से वह पुरुषाकृति-सी लग रही थी, पर यथार्थ नहीं थी। कल्पना का भूत समाप्त हो गया।

ऐसी अनेक छायाएं, अनेक प्रतिबिंब प्रतिदिन हमारे सामने आते रहे हैं, फिर कल्पना की तस्वीर बन जाती है, एक आकृति बन जाती है और तब लगता है कि जरूर कोई न कोई खड़ा है। आदमी डर जाता है। यह है भूत और प्रेत का काल्पनिक भय।

कभी-कभी कोई आवाज सुनाई देती है और आदमी डर जाता है। श्मशान में दीया दीख जाए तो भूत की कल्पना साकार हो जाती है। कहीं प्रकाश दीख जाए बड़ी परेशानी हो जाती है। यदि हम काल्पनिक भय को समाप्त कर सकें तो नब्बे प्रतिशत भय से मुक्ति मिल जाती है। केवल दस प्रतिशत भय शेष रहता है। मैं यह नहीं कहता कि भूत और प्रेत से संबंधित भय की कहानियां सारी काल्पनिक हैं, वास्तविक भी हो सकती हैं, पर हैं वे विरल, परंतु यथार्थ भय से डरना भी अच्छा नहीं है। उससे स्थिति और अधिक कमजोर बन जाती है।

यदि आदमी का मनोबल दृढ़ रहता है तो भूत कुछ भी नहीं कर सकता। भूत और प्रेत का भय वहीं होता है, जहां भय पहले से व्याप्त होता है। बिना भय व्याप्त हुए कोई किसी का कुछ बिगाड़ नहीं सकता। भगवान महावीर ने कहा–भीतो भूतेहिं घेप्पइ–भूत उसी को लगता है जो डरता है। जो नहीं डरता,

भूत उसका कुछ भी नहीं बिगाड़ पाते। भूत और प्रेत की मर्यादाएं होती हैं, सीमाएं होती हैं, वे हर किसी को सता नहीं सकते, पीड़ित नहीं कर सकते। वे उसी में समा जाते हैं, जहां उन्हें पात्र मिलता है। अपात्र में वे कभी नहीं जाते। जो डरा हुआ है, वह उसका सही पात्र होता है, यही कारण है कि स्त्रियों को जितने भूत लगते हैं, पुरुषों को उतने नहीं लगते, क्योंकि उनमें पराक्रम की कमी होती है। वे बहुत शीघ्र भयभीत हो जाती हैं, इसलिए प्रेतात्माओं से जल्दी ग्रस्त होती हैं। यह अधिक मूल्यवान और महत्त्वपूर्ण सूत्र है कि भूत भीत आदमी को ही पकड़ते हैं। अभीत आदमी कभी भूत-ग्रस्त नहीं होता।

आदान भय

भय की तीसरी परिस्थिति है–आदान भय। इसका अर्थ है संयोग और वियोग का भय। यह इतना बड़ा भय है कि इसका तनाव निरंतर बना रहता है। प्राप्त प्रिय वस्तु बिछुड़ न जाए, चली न जाए और अप्रिय वस्तु का संयोग न हो जाए–यह तनाव बना ही रहता है। अपना प्रिय व्यक्ति जब यात्रा पर प्रस्थान करता है, तब यह विकल्प अनायास ही आ जाता है कि कहीं दुर्घटनाग्रस्त न हो जाए। संयोग और वियोग का चक्र निरंतर घूमता रहता है। आदमी इष्ट का वियोग या अनिष्ट का संयोग कभी नहीं चाहता। आदमी कहीं भी जाए, वह अनेक भयों का भार लेकर जाता है। कुछ लोग शिविर में आते हैं, तो भयों को लादकर ले आते हैं। दो-चार दिन बाद कहते हैं 'शिविर में आने से पूर्व तो इतना भय था, पर अब नहीं रहा। भय मिटा है।' जो भय के पात्र को भरा हुआ लेकर आए हैं तो उन्हें अभय की पूरी बात समझ में कैसे आ सकेगी।

आदमी शरीर को बहुत आराम देना चाहता है। थोड़ा-सा कष्ट होता है, वह घबड़ा जाता है। क्या इतना आराम, इतनी असहिष्णुता और शरीर का इतना लालन-पालन हितकर हो सकता है? यह बहुत बड़ा प्रश्न है।

आयुर्वेद के आचार्य कहते हैं–इन्द्रियों को बहुत सताना भी नहीं चाहिए और उनका बहुत लालन-पालन भी नहीं करना चाहिए। जो माता-पिता बच्चे का बहुत उत्पीड़न करते हैं, उनके बच्चे बिगड़ जाते हैं और यदि बच्चे का अधिक लालन-पालन करते है तो भी बच्चे बिगड़ जाते हैं। इन्द्रियां भी बच्चे की तरह हैं। इनमें संतुलन होना चाहिए। संतुलन होने पर इन्द्रियां ठीक काम करती हैं। शरीर की अधिक सार-संभाल, साज-सज्जा, ज्यादा संवारना, सतत उसका चिंतन करना बहुत खतरनाक स्थिति पैदा कर देता है, शारीरिक दृष्टि से भी और मानसिक दृष्टि से भी। हमने देखा कि जो श्रम करना नहीं चाहते,

ज्यादा आरामतलबी चाहते हैं, वे चीनी की बीमारी से ग्रस्त हो जाते हैं। आयुर्वेद में इस रोग का नाम ही है 'सुखासिका'। हार्ट ट्रबल भी उन्हीं लोगों को अधिक होता है जो श्रम नहीं करते, आराम से पड़े रहते हैं। उनकी धमनियां मोटी पड़ जाती हैं, रक्त का संचार पूरा नहीं होता। पुराने लोग हृदय की बीमारी होने पर विश्राम की सलाह देते थे, किंतु आज के डॉक्टर यह सलाह देते हैं कि घूमो, हल्का व्यायाम करो, जिससे कि रक्त-संचार ठीक हो सके। आज-कल डॉक्टर आराम की सलाह नहीं देता। ऐसा लगता है कि आधुनिक डॉक्टर जाने-अनजाने अध्यात्म के निकट आ रहे हैं।

वस्तु की अधिक सार-संभाल भी भय की उत्पादक है। वस्त्रों की स्वच्छता और पहनने-ओढ़ने की चतुराई आवश्यक होती है, पर कपड़ों में इतना उलझ जाना कि सारा ध्यान उसी में अटक जाए, वांछनीय नहीं है। इससे मूर्च्छा गहरी होती जाती है और फिर भय ही भय लगने लगता है। यह भय की बीमारी को पालने का साधन है। अधिक आराम, अधिक साज-सज्जा, कपड़ों पर अधिक ध्यान देना ये साधन हैं भय को पालने के। इनसे भय को अधिक सुरक्षा मिलती है।

अकस्मात् भय

भय की चौथी परिस्थिति है अकस्मात् भय। अकस्मात् भय की घटनाएं काल्पनिक भी होती हैं और वास्तविक भी होती हैं। कभी-कभी कोई घटना घटती है और भय उत्तर आता है। कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं होगा, जिसने दुर्घटना का सामना न किया हो। बिना सोचे, बिना जाने अकस्मात् कोई न कोई परिस्थिति जीवन में उतर आती है। यह आकस्मिक भय की स्थिति है। आदमी चला, सब ठीक था। अकस्मात् ठोकर लगी, डर बैठ गया। आदमी तैरने गया, अकस्मात् पैर फिसला, डूबने लगा, डर गया। अकस्मात् कोई घटना होती है और आदमी इतना सहम जाता है कि दूर भागने लग जाता है। ये सारी पलायनवादी वृत्तियां आकस्मिक घटनाओं के कारण होती हैं। आकस्मिक दुर्घटनाएं आकाश में हो सकती हैं, भूमि पर हो सकती हैं, वायुयान में चढ़ने वालों के साथ हो सकती हैं, भूमि पर चलने वालों के साथ हो सकती हैं, सबके साथ हो सकती हैं।

वेदना भय

भय की पांचवीं परिस्थिति है वेदना भय। रोग, बुढ़ापा आदि वेदना का मूल है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा, जिसने अपने जीवन में रोग न भोगा हो। आजकल तो बच्चा गर्भ से रोगी बनकर आता है। जिस दिन भ्रूण बनता है, उस

दिन से ही रोग को पाल लेता है, या माताएं पलवा देती हैं। वह उसी अवस्था में रोगी बन जाता है। रोग का सामना करना कोई बड़ी बात नहीं है। बड़ी बात यह है कि आदमी रोग के नाम से ही डर जाता है। रोग होना एक बात है और रोग का भय होना बिल्कुल दूसरी बात है। हम इस विवेक को बहुत साफ-साफ समझें कि भय की परिस्थिति होना और भय होना—दोनों एक बात नहीं हैं। दोनों में दूरी भी है, निकटता भी है दोनों समानांतर रेखा की भांति साथ-साथ चलती हैं, किंतु परस्पर कहीं नहीं मिलतीं। इनका संगम कभी होता ही नहीं। हमने दोनों को एक मान रखा है अपने ही मिथ्या दृष्टिकोण के कारण। हम उनकी संकरी-सी भेद-रेखा को समझ नहीं पाते।

रोग, बुढ़ापा और मरण—ये तीनों दुःख माने गए हैं, किंतु दुःख मान लेने से भी डर की कोई बात नहीं है।

हर आदमी रोगी बनता है, पर वह रोगी असाध्य नहीं होता, जो रोग को रोग जानता है, रोग को रोग मानता है, कष्ट देने वाला मानता है, किंतु उससे डरता नहीं। वह रोगी असाध्य होता है, जो रोग से डर जाता है। जो रोग से डरता है, उसका रोग हजार गुना बढ़ जाता है और जो नहीं डरता, उसका रोग बहुत कम हो जाता है। कभी-कभी शून्य बिंदु पर भी चला जाता है।

संसार में अनेक चिकित्सा पद्धतियां चलीं रोग को मिटाने के लिए। उनका प्रयोजन है—बीमारी मिटे, दुःख मिटे, आदमी को वेदना का सामना न करना पड़े। बीमारियों को मिटाने के लिए औषधियां, यंत्र, मंत्र, रसायन, खनिज आदि का उपयोग चला, किंतु ऐसा भी हुआ कि कोई चिकित्सा नहीं, कोई औषधि नहीं, कोई मंत्र नहीं, केवल रोग को देखना, उसे जानना और सहन करना, उससे डरना नहीं। ऐसा होने पर वे मनुष्य रोग के होने पर भी अरोग रहे हैं, बिल्कुल स्वस्थ रहे हैं। जिन लोगों ने डर के साथ दवाइयों का सेवन किया है, चिकित्सा पद्धति की शरण ली है, वे नीरोगता की कामना करते हुए भी रोगी बने रहे।

सनत्कुमार चक्रवती थे। सार्वभौम साम्राज्य के स्वामी। कोई ऐसा योग हुआ कि उनके सुंदर शरीर में एक साथ सोलह बड़े रोग उतर गए। सारे रोग एक से एक भयंकर थे। शरीर के सौंदर्य का सारा गर्व चूर-चूर हो गया। साम्राज्य को छोड़ मुनि बन गए। साधना में लग गए। प्रखर साधना की। शरीरातीत स्थिति का अनुभव करने लगे। अनेक विशिष्ट योगज लब्धियां प्राप्त हुईं। रोग बने रहे, पर वे सता नहीं रहे थे, भय पैदा नहीं कर रहे थे। मुनि सनत्कुमार रोगों से आक्रांत होते हुए भी अपने आप में अभय बने हुए थे। ऐसा लग रहा था कि

रोग और स्वास्थ्य दोनों साथ-साथ चल रहे हैं और मुनि दोनों के बीच खड़े हैं। उनका ध्यान न रोग की ओर है और न स्वास्थ्य की ओर। वे अभय की मुद्रा में स्थित हैं। जो ऐसा करता है उसकी रोग निरोधक शक्ति इतनी तीव्र हो जाती है कि रोग रहता है, पर सताता नहीं, अपने आप में निष्क्रिय-सा पड़ा रहता है।

एक दिन एक वैद्य आकर मुनि सनत्कुमार से बोला—मुनिवर! आपके शरीर का संस्थान देखकर लगता है कि आप बहुत बड़े घराने के हैं। आपकी शरीर की श्रीविहीनता देखकर लगता है कि अनेक रोग आपके साथ चल रहे हैं। मेरे पास उन रोगों को मिटाने की अचूक दवा है। आप औषधि का सेवन करें और नीरोगता से साधना में और तीव्रता लाएं। मुनि ने चिकित्सा को सर्वथा अस्वीकार कर दिया। वैद्य ने आग्रह करते हुए कहा—आप अस्वीकार न करें। मैं सेवाभावना से आपकी चिकित्सा करना चाहता हूं। औषधि-सेवन में आपको कोई कष्ट नहीं होगा। उन कीमती और अचूक औषधियों से आप शीघ्र ही स्वस्थ हो जाएंगे। वैद्य आग्रह करता रहा और मुनि अस्वीकार करते रहे। बहुत समय बीत गया। मुनि बोले—'तुम मेरी क्या चिकित्सा करोगे? कहां है ऐसी औषधि तुम्हारे पास जो मेरे पास है?' मुनि ने अंगुली अपने मुंह में डाली। थूक को अपने शरीर से झरते हुए कुष्ठ रोग पर चुपड़ा और वैद्य ने फटी आंखों से देखा कि मुनि का सारा शरीर कंचनमय बन गया है। उसके आश्चर्य का आर-पार नहीं रहा। वह मुनि के सौंदर्य को देखता ही रह गया।

मुनि बोले—'तुम क्या चिकित्सा करोगे? कहां है तुम्हारे पास ऐसी औषधियां, जो मेरे पास हैं, मेरे शरीर में हैं? साधना और तपस्या के द्वारा अनेक लब्धियां मुझे स्वतः प्राप्त हैं। उनमें पांच ये हैं—जल्लौषधि, आमर्षौधि, क्ष्वेलौषधि, विप्रौषधि, स्वेदौषधि। साधना करते-करते ये शक्तियां जाग जाती हैं। इनमें इतनी बड़ी शक्ति होती है कि बाहरी औषधियां इनके समक्ष व्यर्थ हो जाती हैं। श्लेष्मा का थोड़ा-सा भी स्पर्श होता है और शरीर स्वर्णमय बन जाता है। उस लब्धि-संपन्न व्यक्ति के पसीने से छूकर जो हवा जाती है और दूसरे के शरीर का स्पर्श करती है तो वह व्यक्ति स्वस्थ हो जाता है, बीमारी मिट जाती है। ऐसी स्थिति में तुम मुझे क्या दवा दोगे? तुमने आकर साधना में विघ्न डाला है। मैं तो साधना में था। मुझे बीमारी का भान ही नहीं था। तुमने आकर अहंकार दिखाया कि मेरी दवाएं अचूक हैं। देख लिया तुमने?'

वैद्य बेचारा निरुत्तर था। वह क्या बोलता? चरणों में गिरकर बोला—'मुनिवर! मैने बड़ा अपराध किया है। आप क्षमा करें।'

मरण भय

भय की छठी परिस्थिति है–मरण भय। आदमी बीमारी से नहीं मरता, आदमी मरता है डर से। किसी को कह दिया जाए कि तुम्हारे भीतर केंसर पल रहा है। यह सुनते ही वह मरना शुरू कर देता है। अगर न मरे तो संभव है केंसर भी उतना कष्ट न दे। किसी को कह दिया जाए कि तुम हृदय-रोग से ग्रस्त हो तो वह उसी क्षण में तिल-तिल कर मरना प्रारंभ कर देता है। आदमी डर से ही मरता है, मृत्यु से नहीं।

एक भोला आदमी था। कृत्रिम दांत लगाए हुए थे। रात को सोते समय दांतों को एक कटोरे में रख दिया। उसमें पानी भरा हुआ था। एक बच्चा कहीं से आया और दांतों को खिलौने समझ ले भागा। वह आदमी सुबह उठा। पास में दांतों को ढूंढा। वे नहीं मिले। उसके मन में कल्पना जागी कि हो सकता है, रात को नींद में दांतों को निगल गया। तत्काल उसके पेट में असह्य पीड़ा होने लगी। पीड़ा से छटपटाने लगा। घर के लोगों ने डाक्टर को बुलाया। डाक्टर ने कहा–ऑपरेशन होगा। कल्पना-कल्पना में सारी स्थिति बिगड़ गई। उसे यथार्थ का सा बोध होने लगा। पेट में असह्य पीड़ा हो रही थी। वह यथार्थ थी, पर थी वह कल्पनाजनित। कुछ देर बाद वही बच्चा हाथ में दांतों की जोड़ी लिए आ पहुंचा। दांतों को देखते ही आदमी का दर्द गायब हो गया। वह स्वस्थ हो गया। घर वाले देखते ही रह गए।

यह हमारे जीवन में प्रत्यक्ष-अनुभव होता है कि रोग नहीं मारता, रोग का भय मारता है। वैसे ही मृत्यु से अधिक मृत्यु का भय मारक होता है।

अश्लोकभय

भय की सातवीं परिस्थिति है अश्लोक भय। अश्लोक का अर्थ है अपयश। आदमी अपयश से डरता है। वह सदा यह चाहता है कि उसकी साख बनी रहे, उसकी मान-प्रतिष्ठा बनी रहे, उसका यश खंडित न हो। वह अपने यश को बनाए रखने के लिए झूठे मानदंडों को अपनाता है, कष्ट भी सहता है, अनेक कठिनाइयों का सामना करता है। इन सबके पीछे अश्लोक भय काम करता है। इस भय से प्रताड़ित व्यक्ति कभी-कभी बहुत अनर्थकारी कार्य भी कर डालता है।

प्रेक्षा-ध्यान के साधक यदि इस भेदरेखा को समझ लें तो बहुत लाभान्वित हो सकते हैं। भय और भय की परिस्थिति एक नहीं, दो हैं यह आज के प्रवचन का निष्कर्ष-सूत्र है।

23. भय की प्रतिक्रिया

प्रेक्षाध्यान प्रकाश की साधना है। प्रकाश और अभय दोनों साथ होते हैं। अंधकार और भय ये दोनों भी साथ होते हैं। भय को अंधकार और अंधकार को भय माना जा सकता है। जीवन में जितना भय होता है, वह जीवन का अंधकार ही होता है। वह अंधकार चाहे प्रकृति का हो, चाहे दृष्टिकोण का हो, चाहे जीवन का हो, है आखिर वह अंधकार ही। अंधकार को बुरा ही क्यों मानें? भय को बुरा ही क्यों मानें?

यह प्रश्न स्वाभाविक है। एकांतदृष्टि से नहीं कहा जा सकता कि भय बुरा ही है। भय अच्छा भी हो सकता है, परंतु इसका निर्णय हमें प्रतिक्रिया के आधार पर करना होगा। किस भय की कैसी प्रतिक्रिया होती है? भय दो प्रकार का होता है। भय रचनात्मक भी होता है और भय ध्वंसात्मक भी। अभय रचनात्मक तो होता ही है, पर ध्वंसात्मक भी होता है। प्रत्येक तथ्य या वस्तु का विश्लेषण अनेकांत के संदर्भ में करना होगा। आज हम भय की चर्चा प्रतिक्रिया के आधार पर कर रहे हैं। जिसकी प्रतिक्रिया होती है–रोग, बुढ़ापा, मरण, विस्मृति और पागलपन वैसा भय वर्जनीय होता है, इष्ट नहीं होता। ध्वंसात्मक भय की ये पांच प्रतिक्रियाएं हैं।

भय : रोग

भय की पहली प्रतिक्रिया है रोग। यह निर्विवाद तथ्य है कि हम रोग को निमंत्रित करते हैं। अनामंत्रित इतने रोग कहां से आएंगे? घर में भी अनामंत्रित एक-दो व्यक्ति आ सकते हैं, पर पचासों व्यक्ति कैसे आ घुसेंगे? इतने रोग कैसे आएंगे हम उन्हें बुलाते हैं तब वे आते हैं। हम उनका इतना आदर-सत्कार करते हैं कि वे वहां से हटना नहीं चाहते। रोग भय की प्रतिक्रिया है। आदमी डरता है, बहुत डरता है और डर के कारण अनेक रोगों को पाल लेता है। किसी की बीमारी को देखकर दूसरा व्यक्ति भय से भर जाता है कि कहीं यह रोग मुझे भी

न लग जाए? यह विकल्प उठना ही बीमारी का पहला निमंत्रण है। यह विकल्प प्रायः सभी व्यक्तियों में उठता है और वे रोग के भय से आक्रांत हो जाते हैं।

रोग से उतना दुःख नहीं होता, जितना कि भय के साथ रोग दुःखद होता है। भयभीत अधिक रोगी दुःखी होता है। रोग कुछ कष्ट देता होगा, पर जब वह भय से संयुक्त होता है तो कष्ट भयंकर बन जाता है और फिर सताने की बात आ जाती है। रोग अपनी संतान की वृद्धि करता है। एक के बाद दूसरा और दूसरे के बाद तीसरा रोग उभरता रहता है। उत्पादक शक्ति रोग के उत्पादन में लग जाती है।

भय : बुढापा

भय की दूसरी प्रतिक्रिया है बुढ़ापा। भय के कारण आदमी बूढ़ा बनता है। जो अभय होता है, वह बूढ़ा नहीं होता। एक व्यक्ति के बाल सफेद हो गए वह सत्तर वर्ष का हो गया, फिर भी वह बूढ़ा नहीं है। यह तो शरीर की स्वाभाविक प्रक्रिया है। ज्यों-ज्यों अवस्था बढ़ती है, केश सफेद होते हैं, पर यह कोई बुढ़ापा नहीं है।

वास्तव में शक्तियों का क्षीण होना बुढ़ापा है। यह बुढ़ापा भी हमारे निमंत्रण पर आता है। बिना निमंत्रण वह नहीं आता। हम जाने-अनजाने उसे बुलाते हैं तभी आता है।

यूनान के प्रसिद्ध चिकित्सक और संत इगनेशिया से पूछा गया–आदमी जीवन भर स्वस्थ और युवा कैसे रह सकता है? उसने सीधा उत्तर देते हुए कहा–अपनी भूलों को सुधारो, भ्रांतियों को छोड़ो, स्वस्थ रहोगे और जीवन भर युवा बने रहोगे। हमारी भूलें और भ्रांतियां बुढ़ापे को बुलाते हैं। जो व्यक्ति आहार-विहार में भूलें नहीं करता, वह जल्दी बूढ़ा नहीं होता। जल्दी बूढ़े बनने का एक कारण है आहार-विहार में भूलें, रहन-सहन की भूलें। अवस्था छोटी होती है। खाने की पूरी सामग्री सामने होती है। पचाने की क्षमता भी होती है और वह सोचता है कि जितना जीभ को स्वाद दे दिया जाए, उतना ही जीवन का कल्याण है। जितना खा लिया जाए, उतना ही अच्छा है, पता नहीं अगले जन्म में मिलेगा या नहीं? जो सर्वस्वाहा, सर्वभक्षी मनोवृत्ति है, यह बुढ़ापे का पहला निमंत्रण है।

आखिर पाचन-तंत्र की जितनी शक्ति है, उतनी ही है। लीवर जितना रस छोड़ता है, उतना ही छोड़ता है। पेन्क्रियाज को जितना काम करना है, उतना ही करना है। इस प्रकार पाचन-तंत्र के सारे अवयवों को जितना काम करना है, उतना ही करना है। किसी ने कहा–यह फल का रस है, संतरे का रस है, एक

किलो पी लो। पानी जैसा ही तो है। पीने वाला या कहने वाला नहीं जानता कि उस रस को पचाने में पाचन-तंत्र के पास शक्ति है या नहीं? उसकी शक्ति सीमित होती है। पाचन-तंत्र में हर वस्तु को पचाने की अलग-अलग शक्ति है। हमारी आंत और पक्वाशय कितना प्रोटीन, कितना कार्बोहाइड्रेट, कितना क्षार, कितना लवण और विटामिन्स पचा सकते हैं, इसकी एक निश्चित मात्रा है। एक निश्चित गणित है। अनिश्चित कुछ भी नहीं है। मस्तिष्क में चाहे पूरा विवेक हो या न हो, पाचन-तंत्र में पूरा विवेक है कि किसको पचाने के लिए कितना स्राव करना है, पूरी व्यवस्था बनी हुई है।

आदमी व्यवस्थित खाता है, संतुलित भोजन करता है तो बुढ़ापा दूर चला जाता है। यदि संतुलित भोजन नहीं करता है तो बुढ़ापा निकट से निकट आता चला जाता है। जिसको निमंत्रण दिया जाए, वह तो आएगा ही।

चिकित्साशास्त्री संत ने बहुत ही सुंदर समाधान दिया कि भूलें और भ्रांतियां बुढ़ापे को लाती हैं। जो उन्हें छोड़ता है, वह सदा युवा और स्वस्थ बना रहता है। सौ वर्ष की उम्र हो जाने पर भी वह स्वस्थ और युवा बना रहता है।

भय : मृत्यु

भय की तीसरी प्रतिक्रिया है मरण। डरने वाला व्यक्ति स्वाभाविक मौत से नहीं मरता, आत्मघात करके मरता है। स्वाभाविक मौत सहज आती है, बुलाई नहीं जाती। यह हो सकता है कि किसी व्यक्ति का जीवन कम वर्ष का हो और किसी व्यक्ति का जीवन अधिक वर्ष का हो, किंतु स्वाभाविक ढंग से मरेगा तो अपनी मौत मरेगा, आत्महत्या करने वाले का पता लग जाता है कि उसने आत्महत्या की है। सौ में से दो-चार व्यक्ति आत्महत्या करने वाले होते हैं, किंतु आत्मघात करने वाले अधिक होते हैं, सौ में से पचानवे व्यक्ति। पचानवे प्रतिशत व्यक्ति डर से आत्मघात करते हैं, बेमौत करते हैं। वे डरते हैं कि मौत आ न जाए। वे डरते हैं इसलिए मौत जल्दी आ जाती है। जिसे टालने की बात करते हैं और डरते हैं, वह टलता नहीं, शीघ्र आ जाता है। यह एक तर्क है, इसे समझना चाहिए। यह बहुत सरल गणित है, इसे भूलना नहीं चाहिए।

एक आदमी ने पूछा—दो और दो कितने होते हैं? एक ने कहा —चार, दूसरे ने कहा—बाईस और तीसरे ने कहा—कभी चार और कभी बाईस। तीन उत्तर हो गए। तीसरे व्यक्ति को नौकरी मिल गई। प्रश्न सरल था, पर तीनों के तीन उत्तर थे। दो उत्तर ऐकांतिक थे। वे व्यवहार्य नहीं थे। तीसरे का उत्तर अनेकांतिक था। वह व्यवहार्य था। उसका उत्तर पूर्ण था, अधूरा नहीं।

सरल : जटिल

जीवन का गणित बहुत सीधा-सादा है, पर वह बहुत टेढ़ा बन गया है। मेरी कविता की दो पंक्तियां हैं–

सहज सरल जीवन की पोथी,
बड़ा जटिल अनुवाद हो गया।

जीवन की पुस्तक बहुत सहज-सरल है, परंतु उसका अनुवाद इतना जटिल हो गया है कि उसे समझना कठिन हो गया। बहुत बार ऐसा होता है कि मूल ग्रंथ तो सरल होता है, किंतु जो व्यक्ति उसका अनुवाद प्रस्तुत करते हैं, वह अनुवाद कठिन होता है, उसे समझना सरल नहीं होता। अनुवाद किया जाता है मूल ग्रंथ को समझने के लिए, पर उस अनुवाद को समझने के लिए दूसरा अनुवाद और चाहिए और दूसरे अनुवाद को समझने के लिए तीसरा अनुवाद और चाहिए। यह है अनुवाद की कठिनता।

मूल शब्द था 'इन्द्र' अनुवाद करने वाले ने शब्द रखा 'शतक्रतु।' इन्द्र का पर्यायवाची नाम है 'शतक्रतु'। इन्द्र कहने से सब कोई समझ जाते हैं पढ़ा-लिखा भी और अनपढ़ भी, पर 'शतक्रतु' शब्द को कौन समझेगा। शब्द भारी-भरकम बन गया, उसको समझना दुरूह हो गया। इसी प्रकार सहज-सरल का अनुवाद कठिन हो गया, कठिनतर हो गया।

आदमी का जीवन बहुत सरल है। उसके जीवन की आवश्यकताएं भी बहुत सरल हैं, किंतु उसका अनुवाद इतना जटिल हो गया कि आदमी पग-पग पर उलझ जाता है। बात समझ में नहीं आती, पर यह बात तो बहुत सीधी है कि डरो मत, कभी मत डरो, इससे बीमारियां कम होंगी, बुढ़ापा जल्दी नहीं आएगा, मौत जल्दी नहीं आएगी। वह डरता है बीमारी से, बुढ़ापे से और मौत से। ज्यों-ज्यों डरता है, तीनों जल्दी-जल्दी आते हैं। पता नहीं ऐसा क्यों होता है? बेचारे आदमी का दोष ही क्या है? यह तो भीतर में बैठा हुआ कोई कर रहा है।

आदमी की अंतःस्रावी ग्रंथियां ऐसे स्राव करती हैं, भीतर में बैठा कर्मशरीर ऐसे रसों का विपाक कर रहा है कि वे बाहर आते हैं और आदमी को प्रभावित कर देते हैं। अंतःस्रावी थियों के स्राव आदमी की आदतों को प्रभावित करते हैं, उसकी भावदशा और कषाय को प्रभावित करते हैं। तीनों मूल टेम्परामेंट और इमोशन उन ग्रंथियों से प्रभावित होते हैं और इसीलिए इनसे प्रभावित आदमी सीधे गणित को भी नहीं समझ पाता। जब कोई किसी से प्रभावित हो जाता है, फिर उसके सामने सचाइयां कुछ भी काम नहीं कर सकती। अप्रभावित दशा

सत्य के खोज की दशा है। आदमी अप्रभावित रहे, तब तो ठीक चलता है और जब वह किसी के प्रभाव में आ जाता है तब उसे भगवान भी नहीं बचा सकता। जब वह किसी वस्तु से प्रभावित होता है तो जब तक वह वस्तु उसे नहीं मिलती, तब तक वह सुख से सांस तक नहीं ले सकता। रात-दिन उसकी वही धुन रहती है कि 'वह चीज मिले', 'वह चीजे मिले।' नहीं मिलती है तो चोरी करके भी उसे पाना चाहता है। यदि वह किसी व्यक्ति से प्रभावित होता है, तब भी वह बिल्कुल अंधा जैसा बन जाता है और उसके पीछे दौड़ता है। यदि कोई किसी के विचारों से प्रभावित होता है तो भी यही स्थिति बनती है।

प्रभावित न हो

ध्यान-साधना का एक प्रयोजन है–अप्रभावित दशा का अनुभव करना, कभी किसी से प्रभावित न होना, अपनी स्वतंत्रता बनाए रखना, परिस्थिति में बह न जाना। प्रेक्षा इस दशा का निर्माण कर सकती है। जो प्रेक्षा करता है, वह हर बात को गहराई में जाकर देखेगा और तब प्रवाहपाती होने वाली बात धुल जाएगी। आदमी प्रवाह में सहजतया इसलिए बह जाता है कि वह ऊपर-ऊपर से बात को पकड़ता है। घटना को ऊपर से पकड़ता है, स्थूल रूप से पकड़ता है। आदमी व्यवहारनय पर ज्यादा विश्वास करता है, गहराई में नहीं जाता, वास्तविकता तक नहीं जाता। वह प्रवाह में बह जाता है और अनर्थ हो जाता है।

एक व्यक्ति ने गांव में आकर कहा–कुछ जैन मुनि नहर में पानी पी रहे थे। गांव वाले प्रभावित हो गए, प्रवाह में बह गए। सारे गांव में कुहराम मच गया, हो-हल्ला हो गया। जैन मुनि और नहर में पानी पीए–यह कभी जैन परंपरा को मान्य नहीं हो सकता। साधु गांव में पहुंचे। उन्होंने देखा, कोई स्वागत नहीं, कोई बातचीत नहीं। सारे लोग साधुओं को अजनबी दृष्टि से देखने लगे। साधुओं ने सोचा–यह क्या? श्रावक खड़े हैं, कोई हाथ नहीं जोड़ता, वंदना नहीं करता। वे ऐसा व्यवहार कर रहे हैं, मानो कि हम उनके गुरु नहीं हैं। स्थान पर पहुंचे। कोई प्रवचन सुनने नहीं आया। पूछताछ की। एक वृद्ध श्रावक सामने आकर बोला–महाराज! आपने कितना गलत काम किया है? गांव निकट ही तो था। आपने नहर में पानी पी लिया! कच्चा पानी! इतनी भी सहनशीलता नहीं रखी! फिर आप कहते हैं कि श्रावक क्यों नहीं आए। कैसे आते? साधु बोले–हमने तो नहर का पानी पीया ही नहीं। उसने कहा–उस व्यक्ति ने आकर कहा था। उसे पूछा। वह बोला–मैंने उससे सुना था। पूछते-पूछते उस मूल व्यक्ति तक पहुंचे, जिसने कहा था कि साधु नहर में पानी पी रहे थे। उसे बुलाकर पूछा।

उसने कहा 'मैंने अपनी आंखों से देखा था कि साधु नहर में बैठे-बैठे पानी पी रहे हैं।' मुनिजी को स्थिति समझने में देर नहीं लगी। उन्होंने कहा–श्रावको! यह तो निगाह कर लेते कि नहर में पानी बह रहा है या नहर सूखी है। हमारे पास पानी था। हमने नहर में बैठकर पानी पीया। बात में बहुत अंतर आ गया।

सामान्यतः होता यह है कि आदमी बात सुनता है और तत्काल प्रवाह में बह जाता है। वह पूरी खोज नहीं करता। पूरा जानना नहीं चाहता। सचाई को जानने के लिए गहराई में जाना होता है। जो व्यक्ति सचाई को जानना चाहता है, पर गहरे डुबकियां लेना नहीं चाहता, वह कभी सचाई तक नहीं पहुंच पाता। जिन्होंने सत्य का साक्षात्कार किया है वे गहरे में उतरे हैं।

प्रेक्षा करें

प्रेक्षा गहराई में जाने का तत्त्व है। पहले त्वचा को देखा। त्वचा में क्या-क्या हो रहा है? आपको लगता होगा कि त्वचा में क्या है? उसे क्या देखना? वह तो सामने है। ऐसा नहीं है। यदि त्वचा के विषय में पूरा शरीरशास्त्रीय विश्लेषण किया जाए तो यह ज्ञात होगा कि त्वचा के फंक्शन को समझने के लिए कम से कम दस दिन पूरा समय लगाना पड़ेगा। इतने काम हैं चमड़ी के। त्वचा की प्रेक्षा करो, फिर त्वचा के भीतर चलो। भीतर तो बहुत बड़ा खजाना है। भीतर दस प्राण हैं। पांच इन्द्रियों की पांच प्राणशक्तियां, मन की प्राणशक्ति, वचन की प्राणशक्ति, शरीर की प्राणशक्ति, श्वासोच्छ्वास की प्राणशक्ति और जीवनीशक्ति–ये दस प्राण की शक्तियां हैं। उनका अनुभव करो के प्राण के प्रकंपनों का अनुभव करो।

प्राण के प्रकंपन सहजतया पकड़ में नहीं आते। जब तक हमारा संवेदन सूक्ष्म नहीं बन जाता, तब तक प्राणों के प्रकंपनों को पकड़ा नहीं जा सकता। संवेदन सूक्ष्म होता है तो वे पकड़ में आ जाते हैं। कितने प्रकार के प्रकंपन हो रहे हैं। सारे प्रकंपन ही प्रकंपन। कहीं ऐसा ठोस कुछ भी नहीं है जो प्रकंपनयुक्त न हो, फिर श्वास को देखना है। केवल श्वास को नहीं। उसके साथ प्राण भी है। श्वासप्राण श्वास का आकर्षण कर रहा है, श्वासप्राण श्वास का रेचन कर रहा है। हमें केवल श्वास का ही अनुभव नहीं करना है, श्वास को संचालित करने वाली प्राणशक्ति (श्वासप्राण) का अनुभव करना है। यह बहुत सूक्ष्म कार्य हो जाएगा। श्वास स्थूल है। वह हमारी समझ में आता है। अंगुली लगाई, स्पर्श हुआ, पता लग जाएगा कि कोई चीज आ रही है, जा रही है। यह तो कोरा श्वास हुआ। श्वास के परमाणु हुए, किंतु उन्हें कौन ले जा रहा है। अध्यात्म

की मान्यता है कि यह सारा कार्य श्वासप्राण के द्वारा हो रहा है। श्वास की प्राणशक्ति समाप्त हो जाए तो श्वास न आ सकता है और न जा सकता है, फिर चाहे शरीर विद्यमान रहे, रेस्पिरेटरी सिस्टम बना रहे।

हम बोल रहे हैं, भाषा निकल रही है। भाषा का रेचन हो रहा है, पर जो बोली जा रही है वह है भाषा और जिसके द्वारा बोली जा रही है वह संचालक है वचनप्राण, वचन की शक्ति। वचन का उच्चारण हो रहा है इसलिए वचनप्राण है। यदि वह प्राण काम नहीं करता तो भाषा कुंठित हो जाती, समाप्त हो जाती।

शरीरप्रेक्षा

शरीर की सारी प्रवृत्तियां प्राण के द्वारा संचालित होती हैं। पूरे शरीर में प्राण के प्रकंपन हो रहे हैं। प्रेक्षा के द्वारा उन प्राणों के सूक्ष्म प्रकंपनों को पकड़ना है। शरीर में मांस है, मज्जा है, चर्बी है, वीर्य है, ओज है–इस प्रकार सात धातुएं हैं या धातुओं से परे ओज की शक्ति है। प्रेक्षा के द्वारा उनमें होने वाले प्रकंपनों को पकड़ना, उनकी क्रियाओं को जानना आवश्यक होता है।

शरीर में अनेक बीमारियां छिपी पड़ी हैं। कुछ जन्म ले चुकी हैं, कुछ जन्म ले रही हैं और कुछ गर्भावस्था में हैं। वे इतनी परिपक्व नहीं बनी हैं कि आपको उनका अनुभव हो सके। क्या बीमारी होते ही हमें उसी दिन पता लग जाता है? नहीं, पता बहुत दिनों, महीनों या वर्षों बाद लगता है। बीमारी भीतर गर्भा में पड़ी रहती है, पकती रहती है। और पककर जब वह युवा बन जाती है, तब बाहर प्रगट होती है। प्रेक्षा के द्वारा पता लगाया जा सकता है कि शरीर में कहां क्या है?

'एक्यूपंक्चर' चीनी चिकित्सा पद्धति है। उसमें संवादी केन्द्रों का बहुत सूक्ष्म विश्लेषण है। किसी के घुटने में दर्द है। घुटने का संवादी केन्द्र है पांव के तलवे में। पांव के तलवे के उस केन्द्र को दबाओ, यदि वहां दर्द की अनुभूति होती है तो घुटने में भी दर्द है। उस घुटने के दर्द को मिटाने के लिए तलवे के उस केन्द्र को दबाने से वह दर्द ठीक हो जाता है। शरीर के प्रत्येक अवयव का संवादी केन्द्र पैर और हाथ में है।

इस प्रकार शरीर में बहुत सारी सचाइयां हैं। गहराई में गए बिना उनका पता नहीं लगाया जा सकता। प्रेक्षा के प्रयोग गहराई में जाकर संवेदनों को पकड़ने और प्रकंपनों के माध्यम से वस्तुस्थिति को जानने के माध्यम हैं।

जब हम स्थूलस्वरूप में शरीर को देखते हैं तब कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता, किंतु जब हम गहराई में उतर कर देखते हैं तो ज्ञात होता है कि शरीर के

भीतर सैकड़ों-सैकड़ों प्रकार की भिन्न-भिन्न श्रेणियां हैं। अलग-अलग मार्ग बने हुए हैं, प्रणालियां बनी हुई हैं।

नाड़ी का अर्थ वह नहीं है, जो हम समझते हैं। नाड़ी का अर्थ है प्रणाली, रास्ता राजपथ या पगडंडी। हमारे शरीर में इतनी प्रणालियां हैं कि बड़े से बड़े नगर में भी उतनी प्रणालियां नहीं हैं, रास्ते नहीं हैं। ये सारी प्रणालियां अपना-अपना कार्य व्यवस्थित रूप से संपादित करती हैं। कोई घटना घटती है। ज्ञानेन्द्रिय के सामने आते ही वह रिफ्लेक्स होती है, प्रतिवर्त होती है। इस प्रतिवर्तवाद (रिफ्लेक्सोलॉजी) के आधार पर मनुष्य के सारे व्यवहारों की मीमांसा की जा सकती है।

इन सारी गहराइयों में जाने का माध्यम है प्रेक्षा। यह चिंतन भी स्वाभाविक है कि एक बार, दो बार या चार बार शरीर की प्रेक्षा या चैतन्य केन्द्रों की प्रेक्षा कर चुकने पर बार-बार वह प्रेक्षा क्यों की जाए? कितनी बार की जाए? यह प्रश्न होता है, किंतु यह जान लेना चाहिए कि प्रत्येक बात के साथ इतनी सूक्ष्मताएं जुड़ी हुई हैं कि हम दो-चार-दस बार में केवल कुछेक पर्यायों को ही जान पाते हैं। पर्याय अनंत हैं। एक-एक तथ्य के अनंत-अनंत पर्याय हैं। अनन्त रूप हैं। उन्हें ज्ञात करने के लिए एक जीवन तो क्या अनेक जीवन खपाने पड़ सकते हैं।

यदि प्रेक्षा को ठीक से समझ लिया जाय तो आदमी उस कठिनाई से, उस तर्क से सहजतया छूट सकता है, जो तर्क हमारी बीमारियों को पैदा करता है, बुढ़ापे को जल्दी लाता है और अकाल मृत्यु को निमंत्रित करता है। उस तर्क के साथ भय जुड़ा हुआ होता है। वह भय यदि छूट जाए तो रोग भी आ सकता है, बुढ़ापा भी आ सकता है, मौत भी आ सकती है, किंतु उसके प्रारंभ में भी अभय जुड़ा हुआ रहेगा, मध्य में भी अभय जुड़ा हुआ रहेगा और अंत में भी अभय जुड़ा हुआ रहेगा। तब न मौत का कष्ट होगा, न रोग का कष्ट होगा और न बुढ़ापे का कष्ट होगा। उस अवस्था में रोग और बुढ़ापा आएगा भी तो कम मात्रा में। उस मात्रा का पता ही नहीं चलेगा। भय की प्रतिक्रिया से बचने के लिए प्रेक्षा के आलंबन बहुत ही महत्त्वपूर्ण साधन हैं।

भय : विस्मृति

भय की चौथी प्रतिक्रिया है विस्मृति भय से स्मृति कमजोर होने लग जाती है। आज बूढ़े नहीं, छोटे-छोटे किशोर आते हैं और स्मृति कमजोर होने की शिकायत करते हैं। बड़ा आश्चर्य होता है उनकी बातें सुनकर। अस्सी वर्ष का बूढ़ा कहे कि उसकी स्मृति कमजोर हो गई है तो वह बात समझ में आ सकती

है, किंतु बारह वर्ष का किशोर जब स्मृति-दौर्बल्य की बात कहता है तब आश्चर्य होता है। इसका मूल कारण है कि भय जीवन में इस प्रकार घुलमिल गया है कि वह सारे दोष उत्पन्न कर रहा है। चीनी जब दूध में घुल जाती है तब उसके स्वतंत्र अस्तित्व का पता नहीं चलता, किंतु पीने पर दूध की मिठास से उसके अस्तित्व को जान लिया जाता है। इसी प्रकार भय जीवन में इतना घुल गया है कि उसको खोज निकालना कठिन है, परंतु जब विस्मृति आदि को देखा जाता है तब यह निश्चित हो जाता है कि जीवन में कोई न कोई गहरा भय व्याप्त है। भय के कारण हमारे स्मृतितंतु, ज्ञानतंतु सिकुड़ जाते हैं। उनके सिकुड़ने से स्मृति कमजोर हो जाती है।

भय : पागलपन

भय की पांचवीं प्रतिक्रिया है पागलपन। आदमी पागल बनता है, विक्षिप्त होता है। उसके अनेक कारण हो सकते हैं, किंतु सबसे बड़ा कारण है भय। भय के कारण पागलपन को आने का सहज-सरल मार्ग उपलब्ध हो जाता है। कभी अकस्मात् ऐसा आघात लगता है, गहरी चोट लगती है कि आदमी सुध-बुध खो देता है। वह पागलपन की बातें करने लग जाता है। भय का आघात बहुत गहरा होता है। उससे आदमी पागल हो जाता है।

भय की पांच प्रतिक्रियाएं बहुत स्पष्ट हैं और भी अनेक प्रतिक्रियाएं हो सकती हैं, पर उनका वर्गीकरण करने पर सबका समावेश इन पांच में हो जाता है।

भय के स्रोत, भय की परिस्थितयां और भय की प्रतिक्रियाएं–इन सबके विषय में हमने जाना। उनका विश्लेषण भी किया। मात्र हमें यह जानना है कि भय से छुटकारा कैसे मिल सकता है? भगवान महावीर ने कहा–मा भेतव्वं–डरो मत। उपनिषद् कहते हैं–मा भैषी–डरो मत। अध्यात्म की साधना करने वाले प्रत्येक साधक ने कहा–डरो मत। यह कहना तो सरल है कि डरो मत, पर जब तक भय के स्रोत विद्यमान हैं और भय की प्रतिक्रियाएं अस्तित्व में हैं तो फिर 'डरो मत' कहने का अर्थ क्या होगा? भय की उत्पत्ति के सारे कारण जब विद्यमान हैं तो फिर न डरने की बात प्राप्त ही नहीं होती। केवल कहने मात्र से या उपदेश से भय नहीं छूट सकता। हमें उपाय खोजना होगा। उपाय का आचरण करना होगा। उपयुक्त उपाय का अवलंबन लेने पर 'डरो मत' इस वाक्य की सार्थकता हो सकती है।

24. रचनात्मक भय

दिन और रात, रात और दिन, दोनों के बीच में संध्या। रात होती है, दिन होता है, बीच में संध्या होती है। भय और अभय के बीच में भी एक संध्या होती है, उसे न भय कहा जा सकता है, न अभय कहा जा सकता है। भय इसलिए नहीं कहा जा सकता कि भय के द्वारा नाड़ी-संस्थान में जो विकृतियां पैदा होती हैं, भावनात्मक असंतुलन पैदा होता है, वह उससे नहीं होता। उसे शुद्ध अभय भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभय साधना की बहुत ऊंची अवस्थिति है। भय और अभय दोनों के बीच में एक पूर्वोदय होता है, संध्या का संक्रमण होता है, वह है रचनात्मक भय। एक ध्वंसात्मक भय और एक रचनात्मक भय, एक ध्वंसात्मक अभय और एक रचनात्मक अभय—ये चार विकल्प बनते हैं। अभय भी ध्वंसात्मक होता है। सारे अभय रचनात्मक ही नहीं होते, ध्वंसात्मक भी होते हैं।

चोर बहुत निडर था। कोई परवाह नहीं थी उसे। चाहे जैसा चोरी करता, दंड मिलता और छूटता, फिर चोरी में लग जाता। तनिक भी भय नहीं था। एक बार न्यायाधीश ने कहा—कितने निर्लज्ज हो! तुम्हें बार-बार मेरी अदालत में आते हुए शर्म नहीं आती? लज्जा नहीं आती?

वह बोला—न्यायाधीश महोदय! मैं भी जितनी बार आता हूं, आप ही को देखता हूं। आप भी तो यहां रोज-रोज आते हैं। मुझे फिर क्या लज्जा होगी?

रचनात्मक भय

लज्जा, अनुशासन और मानसिक संकोच—रचनात्मक भय के ही नाम हैं। मानसिक संकोच है, आदमी बुरा काम नहीं करता। आत्मानुशासन नहीं बना है, किंतु फिर भी अनुशासन है। बड़े लोगों का निषेध है, ऐसा काम नहीं करना चाहिए। हमारे विद्या-गुरुओं का निषेध है कि ऐसा काम नहीं करना चाहिए। बड़े-बूढ़े लोग कहते हैं कि यह काम नहीं करना चाहिए, इसलिए नहीं करता, यह भी रचनात्मक भय है, एक मानसिक लज्जा है। 'यह काम करूं,' कोई देख

लेगा। लज्जावश भी वह कोई बुरा काम नहीं करता। भय है मन में कि कोई देख लेगा। शुद्ध दृष्टि नहीं है, आध्यात्मिक दृष्टि नहीं है कि कोई देखे या न देखे–यह काम नहीं करना चाहिए। ऐसी दृष्टि नहीं है। ये सब रचनात्मक भय के ही रूप हैं। आध्यात्मिक दृष्टि वह होती है जहां यह प्रश्न नहीं होता कि कोई देखे या न देखे। चाहे देखे, चाहे न देखे, आध्यात्मिक दृष्टि वाला व्यक्ति वैसा आचरण नहीं करता।

व्यावहारिक दृष्टि वाला व्यक्ति यह जरूर सोचता है कि कोई देख न ले। कुछ आदमी इतने निर्लज्ज होते हैं कि वे इस बात की परवाह नहीं करते कि कोई देख लेगा। भले ही देखो, मेरा क्या लिया? यह अभय भी विध्वंसात्मक है। जो इस बात की कोई चिंता नहीं करते, परवाह नहीं करते, उनका अभय भी ध्वंसात्मक होता है। जो बड़े चोर, बड़े लुटेरे, बड़े मार-काट करने वाले होते हैं, उनमें भी अभय होता है वे डरते नहीं, कुछ भी करने में संकुचाते नहीं, भयभीत नहीं होते। पर उनका अभय सही अर्थ में अभय नहीं होता।

हमारे जीवन के प्रारंभ से बचपन से ही अनुशासन का भाव और मानसिक संकोच का भाव। बहुत-सी बुराइयों से बचा जाते हैं।

लज्जा है रचनात्मक

पूज्य कालूगणीजी से एक कहानी सुनी थी। बहुत मार्मिक कहानी है। पुराने जमाने की बात है। एक युवक ने धन अर्जन के लिए परदेश के लिए प्रस्थान किया। वह अपनी युवती पत्नी से बोला–धन कमाने के लिए जा रहा हूं। तुम एक बात का ध्यान रखना, कुल की मर्यादा की बराबर रक्षा करना। शालीन रहना, ब्रह्मचारिणी रहना। कहीं कुल पर कोई दाग न लगे, धब्बा न लगे। सावधान रहना। इतने पर भी मन बड़ा चंचल होता है, कभी किसी अवस्था में तुम्हारा मन विचलित हो जाए और तुम कभी सहवास भी करना चाहो तो एक बात का ध्यान रखना उस व्यक्ति को खोज लाना, जो शौच के लिए सबसे ज्यादा दूर जंगल में जाता हो। पत्नी ने बात मान ली। पति चला गया। पत्नी बहुत शालीन, बहुत संयमी, हर बात का ध्यान रखती। अपनी कुल-परंपरा का ध्यान रखती। बहुत वर्ष बीत गए, बहुत सावधान रही। आखिर मन की अवस्था भी एक समान नहीं रहती। बड़े-बड़े साधक, तपस्वी, दीर्घ तपस्या करने वालों का मन भी न जाने किस समय में किस स्थिति में चला जाता है और मूर्च्छा किस प्रकार घनी हो जाती है, कल्पना नहीं की जा सकती। जीवन भर तप तपने वाले सत्तर वर्ष तक पहुंचते-पहुंचते मूर्च्छित हो जाते हैं।

जीवन-भर जागरूक रहने वाले मूर्च्छित हो जाते हैं। आजीवन मूर्च्छित रहने वाले मरते-मरते इतने जागरूक बन जाते हैं कि लोग कहते हैं कि आदमी ने धर्म कभी किया ही नहीं, धर्म का नाम नहीं लिया, पर अंतिम दस दिन ऐसे निकाले जैसे महान तपस्वी का जीवन है। इस प्रकार की स्थितियां बनती हैं। मूर्च्छा टूटती भी है और घनी भी होती है। यह आश्चर्य नहीं है। यह एक कर्म-शास्त्रीय प्रक्रिया है और ऐसा होता है। वह तो सामान्य युवती थी, कोई विशेष बात ही नहीं थी। एक दिन मन विचलित हो गया, पर भावना थी कि पति के आदेश का पूरा पालन करे। अपने नौकर को भेजा–जाओ! उस आदमी को बुला लाओ, जो शौच के लिए सबसे ज्यादा दूर जाता हो।

नौकर गया। खोज-खाजकर एक आदमी को ले आया। युवती ने बातचीत की। प्रसंगवश पूछा–आप इतनी दूर क्यों जाते हैं?

उसने कहा–'लज्जा बहुत आती है, बहुत सकुचाता हूं। बड़ा संकोचशील हूं। लाज है, शर्म है।'

वह बोला–'कोई भी आदमी मेरे गुप्तांग को न देख ले। पक्षी भी न देख ले और क्या, शौच जाता हूं, पास जो सिकोरा होता है, उसे भी ऐसी ओट में रखता हूं कि मेरे गुप्तांग को न देख सके। इतना लज्जालु हूं। इसलिए मुझे शौच के लिए बहुत दूर जाना पड़ता है।'

युवती ने सुनकर तत्काल कहा–'ठीक हैं मैंने जानना चाहा, आपने बताया, बड़ी कृपा की। आप अपने घर जा सकते हैं।'

वह समझ गयी की मन बहुत बार व्यक्ति को लज्जा बचा लेती है। लज्जा से बहुत बड़ा बचाव हो जाता है।

लज्जा, मानसिक संकोच–ये सारे रचनात्मक भय हैं। आदमी रोग से डरता है, मृत्यु से डरता है। मैं समझता हूं, यह बहुत पुरानी मनोवृत्ति है। हम परिणाम से डरते हैं, प्रवृत्ति से नहीं डरते। परिणाम से डरने का कोई अर्थ नहीं होता। डरना चाहिए प्रवृत्ति से न कि परिणाम से, किंतु मनुष्य की यह दुर्बलता नहीं रही है कि वह हमेशा परिणाम से डरता है, प्रवृत्ति से नहीं डरता। प्रवृत्ति से डरने का अर्थ है आप परिणाम से बच सकते हैं अतः प्रवृत्ति से डर सार्थक होता है, फिर भी, नहीं डरते।

प्रवृत्ति से डर

रोग से डरते हैं। जिन कारणों से रोग होता है, उन कारणों से नहीं डरते। यदि हम रोग के कारणों से भय करते हैं तो हमारा भय रचनात्मक हो जाता है।

मैं अधिक खाऊंगा तो रोग हो जाएगा। इस भय से अधिक खाने से डरें। कुपथ्य खाऊंगा तो रोग हो सकता है, कुपथ्य खाने से डरें। मानसिक आवेग आएंगे तो रोग हो जाएगा, यानी गुस्सा करूंगा तो 'हार्टट्रबल' हो सकती है, रक्तचाप बढ़ सकता है, शरीर में विष पैदा हो सकते हैं तो क्रोध करने से डरें। रोग को पैदा करने वाले कारणों से डरें तो हमारा भय रचनात्मक हो सकता है। अब रोग पैदा हो गया, उससे डरें, बीमारी पैदा हो गई, अब क्या होगा? हे भगवान! कितना दुःख पाना पड़ेगा। यह भय रचनात्मक नहीं है, क्योंकि यह भय और ज्यादा बीमारी को बढ़ा देता है, उसे और ज्यादा कठिनाई में डाल देता है। भय को रचनात्मक बनाएं।

मौत से डरते हैं, मौत के कारणों से नहीं डरते। मौत से तो बड़ी घबराहट है, पर आपको यह तो पता है कि राग-द्वेष करने वाले की मौत जल्दी होती है। अकाल मृत्यु उस व्यक्ति की होती है, जो अधिक राग-द्वेष करता है। अधिक आहार, बहुत ज्यादा खाना, बहुत ज्यादा नींद लेना, बहुत ज्यादा प्रमादी होना, बैठे ही रहना, बहुत आवेगशील होना, अधिक अहंकार, अधिक गुस्सा, ईर्ष्या की भावना, द्वेष की भावना, मानसिक जलन–ये सारे अकाल मृत्यु के कारण हैं। अकाल मृत्यु के कारणों से नहीं डरते, केवल मौत से डरते हैं, उसका कोई अर्थ नहीं। रचनात्मक भय वह होता है कि हम मृत्यु को असमय में लाने वाली प्रवृत्तियों से डरें। उनके प्रति जागरूक रहें, सावधान रहें कि हमारी मृत्यु जल्दी न आ सके। हमारा भय तब रचनात्मक हो जाता है।

अकीर्ति का भय हर आदमी को लगता है कि कहीं उसका अपयश न हो, अकीर्ति न हो। आदमी डरता है, बहुत सावधान रहता है, किंतु अकीर्ति पैदा करने वाले कारणों से भय नहीं है। बड़ी विचित्र बात है। आचरण और व्यवहार तो वैसे हैं कि जिनसे अकीर्ति पैदा हो। भय इस बात का है कि अकीर्ति हो नहीं। आचरण भले ही अकीर्ति लाने वाले हों, किंतु अकीर्ति हो नहीं, इस बात का भय है। हमारा यह भय व्यर्थ का भय हो जाता है। यदि हम प्रवृत्ति से बचें, अकीर्ति लाने वाले कारणों से बचें तो हमारा भय रचनात्मक बन जाता है।

सुरक्षात्मक भय

भय को रचनात्मक बनाने के लिए सूक्ष्म भेद-रेखा पर भी हमें ध्यान केन्द्रित करना होगा। भय से सुरक्षा रखना और भय के कारणों से बचना दोनों एक बात नहीं है दोनों से बीच एक सूक्ष्म भेदरेखा है। एक भय और एक सावधानी बरतना कि भय पैदा न हो, एक बात नहीं है। यदि हम मान लें कि

भय बुरा है तो सुरक्षात्मक व्यवस्था ही लड़खड़ा जाती है। व्यक्ति की सुरक्षा, परिवार की सुरक्षा, समाज की सुरक्षा और राष्ट्र की सुरक्षा-सारी सुरक्षात्मक व्यवस्थाएं अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। सुरक्षात्मक व्यवस्था के लिए भय होता है, किंतु वह रचनात्मक भय होगा, ध्वंसात्मक नहीं। उसमें सूक्ष्म भेद-रेखा है कि सुरक्षा के लिए यह सब कुछ हो रहा है, किसी ध्वंस के लिए नहीं हो रहा है।

सामने आग है। व्यक्ति आग पर अपना पैर नहीं रखता। भय तो मान सकते हैं कि व्यक्ति इस भय से पैर नहीं रख रहा है कि पैर रखने पर जल जाएगा, किन्तु वह भय विध्वंसात्मक भय नहीं है, रचनात्मक भय है, सुरक्षात्मक भय है।

एक व्यक्ति जो बर्फ का कारखाना चला रहा था, उससे पूछा–आप जाड़े के दिनों में क्या करते हैं? गर्मी के दिनों में तो बहुत बर्फ पैदा होती है। खूब बर्फ चलती है, पर सर्दी के दिनों में आप क्या करते हैं?

उत्तर दिया–गर्मी के दिनों में बर्फ बनाता हूं और सर्दी के दिनों में बर्फ खाता हूं।

बिल्कुल ठीक उत्तर था। सर्दी के दिनों में कारखाना तो नहीं चलता, पर गर्मी के दिनों में जो आय होती है, वह सर्दी के दिनों में बैठा-बैठा खाता हूं। गर्मी में बर्फ बनाता हूं और सर्दी में वह मुझे बचाती है, मेरी रक्षा करती है। आदमी सुरक्षात्मक उपाय करता ही है, पर उस सुरक्षात्मक उपाय को ध्वंसात्मक भय नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपने आपको भय और भय के साधनों से, निमित्तों से बचाता है। कोई भी समझदार आदमी जान-बूझकर सांप पर पैर नहीं रखता, जान-बूझकर विष नहीं खाता। इस सुरक्षात्मक उपाय को ध्वंसात्मक भय नहीं मान सकते। वह रचनात्मक भय हो जाता है। वह भय और अभय की बीच की संध्या बन जाती है।

मुझे याद है अपने जीवन की एक घटना। मैं तेरह वर्ष का था। पूज्य कालूगणीजी मोमासर में विराज रहे थे। मैं और मेरे सहपाठी मुनि बुद्धमल्लजी दोनों पूज्य कालूगणी की उपासना में थे।

पूज्य कालूगणीजी ने हमें यह दोहा सिखाया–

हर डर, गुरु डर, गांव डर, डर करणी में सार।
तुलसी डरै सो ऊबरै, गाफिल खावे मार॥

आपने अर्थ बताते हुए कहा हर डर अर्थात् भगवान से डरो, गुरु डर-गुरु से डरो, गांव डर-गांव से डरो, डर करणी में सार-भय निकम्मा नहीं है, भय में

बहुत सार है, सारभूत वस्तु है। 'तुलसी डरै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार।' जो डरता है, वह बच जाता है, जो नहीं डरता वह मार खाता है।

हमने सोचा, बहुत काम की बात बताई। मुनि तुलसी के पास पढ़ते हैं और तुलसी से वैसे ही बहुत डरते हैं। अब पूज्य कालूगणी ने भी कह दिया– तुलसी डरै सो ऊबरे–तुलसी से डरता है, वह उबर बच जाता है। और गाफिल मार खा जाता है। हमें नहीं पता था कि तुलसी का मतलब संत तुलसीदास से है। तुलसीदास का यह दोहा है। हमने यही समझा और वर्षों तक यही समझते रहे कि तुलसी (मुनि तुलसी) से डरने वाला उबर जाता है और जो तुलसी से नहीं डरता वह मार खाता है। मैं समझता हूं इस दोहे ने मेरे और मेरे सहपाठी बुद्धमल्लजी–दोनों के जीवन का निर्माण किया।

भय से निर्माण

मैं यह मानता हूं कि जो भय रचनात्मक होता है, वह जीवन का निर्माण करने वाला होता है। मैं जो सारी चर्चा कर रहा हूं कि अभय बनो, डरना नहीं है, भय से मुक्त होना है, उसका तात्पर्य है ध्वंसात्मक भय से बचें। मैं शुद्ध अभय की चर्चा भी करना चाहता हूं। हमें शुद्ध अभय बनना है। अभय की भूमिका तक पहुंचना है और उस भूमिका तक पहुंचना है, जहां शुद्ध आध्यात्मिक चेतना जाग जाए, सारे भय विलीन हो जाएं। हमारी सारी प्रेरणाएं, ये सारी की सारी अंतःप्रेरणाएं अध्यात्म में से स्फूर्त हों, कहीं भी बाहर से प्रभावित न हों, सारी उद्दीपक सामग्रियां, सारे निमित्त और सारे हेतु विलीन हो जाएं। अध्यात्म चेतना के द्वारा हमारे जीवन का क्षण-क्षण संचालित हो। उस भूमिका पर हमें पहुंचना है, किंतु बचपन को भी मैं जानता हूं, यौवन और प्रौढ़ अवस्था को भी मैं जानता हूं। अभी हम साधना के बचपन की भूमिका में जी रहे हैं और वहां आध्यात्मिक प्रेरणा की बात करूं तो स्वाभाविक नहीं होगी, प्रासंगिक नहीं होगी। प्रासंगिक यही है कि उस बचपन की भूमिका में रचनात्मक भय का आलम्बन होता है, यौवन की अवस्था में-जो साधना का यौवन है उसमें रचनात्मक भय से भी ऊपर उठकर और शुद्ध अभय की भूमिका में आरोहण कर देते हैं। जब अध्यात्म के शिखर पर हमारे पैर आगे बढते हैं, वहां शुद्ध अध्यात्म की चेतना जाग जाती है, भय सर्वथा समाप्त हो जाता है और केवल बचता है अभय, अभय की मुद्रा, अभय का हाव-भाव, अभय की अंतःस्रोतस्विनी, सब कुछ अभय ही अभय।

सभी लोग अभय की चेतना को जगाना चाहते हैं। पर प्रश्न है, यह कैसे जागे?

भाव परिवर्तित कैसे

हमारे शरीर में दो तंत्र हैं एक नाड़ी-संस्थान और दूसरा ग्रंथि-संस्थान। हमारा सारा जीवन उनके द्वारा। नाड़ी संस्थान और ग्रंथि संस्थान के द्वारा, संचालित है। बाहर की परिस्थिति और आंतरिक रसायन–इनसे हम प्रभावित होते हैं। यद्यपि यह माना जाता है कि जैसी परिस्थिति होती है, वैसा आदमी बनता है, यह सचाई भी हो सकती है किंतु यह अधूरी सचाई है। पूरी सचाई यह है कि परिस्थिति और रसायन दोनों का योग होता है, वैसा आदमी बनता है। परिस्थिति को परिष्कृत करने के उपाय भी हम करते हैं। परिस्थिति को बदलने के उपाय भी करते हैं, किंतु काम बनता नहीं। जब तक भीतरी रसायनों को बदलने का काम नहीं होता, तब तक पूरा काम नहीं होता। हम ज्यादा प्रभावित हैं अपने भीतरी रसायनों से, हमारे अंदर से स्रवित होने वाले रसायनों से और वे रसायन बदलते हैं, प्रभावित होते हैं तो हम परिस्थिति को लांघकर भी जा सकते हैं, उसका अतिक्रमण भी कर सकते हैं। जब वे रसायन अनुकूल नहीं होते, तब परिस्थिति भी हमें प्रभावित कर सकती है, बाधित कर सकती है। प्रेक्षाध्यान का अभ्यास करने वाले व्यक्ति इस सचाई का अनुभव करें कि वास्तविकता यह है कि रसायनों को बदलने का उपक्रम करें। आज इस वैज्ञानिक युग में ध्यान करना केवल अंधकार में ढेला फेंकने जैसा नहीं होना चाहिए। इतना विज्ञान का विकास हो चुका है, उसके संदर्भ को छोड़कर केवल अंधेरे में चलते चलें, चलते चलें और संतोष मानते जाएं, यह संभव नहीं लगता। कल ही हमारी प्रोफेसर शर्मा से बातें हो रही थी। वे एन.सी.ई.आर.टी. में एजूकेशनल साइकोलोजी के प्रोफेसर एवं हेड हैं। डॉक्टर टी. भाटिया भी थे। बात चली। उन्होंने कहा कि ध्यान के बारे में हमारे सामने कई स्थितियां आती हैं और अधिकांशतः परिणाम ये ही बताए जाते हैं कि तापमान कम हो गया, ब्लड-प्रेसर की बीमारी ठीक हुई, वजन घटा या बढ़ा, इस प्रकार के परिणाम सामने आते हैं। मैंने कहा–हम लोग ध्यान को चिकित्सा का साधन नहीं मानते। हम शिविर को चिकित्सालय नहीं मानते। हम स्वीकार करते हैं कि रोग भी ठीक होता है, शारीरिक बीमारी ठीक होती है, किंतु इसे गौण मानते हैं। हमारा मुख्य उद्देश्य है भाव-परिवर्तन। जब तक भाव-परिवर्तन नहीं होता तब तक ध्यान की मूल निष्पत्ति हमारी दृष्टि में नहीं है। हमारे भाव बदलने

चाहिए। हमारे जो हिंसा उद्दंडता, उच्छृंखलता और क्रूरता के भाव हैं, वे बदलने चाहिए। अगर भाव में परिवर्तन नहीं होता है तो मैं समझता हूं कि ध्यान की निष्पत्ति पूरी नहीं होती। उपायों के द्वारा भाव-परिवर्तन किया जा सकता है। ध्यान की ऐसी पद्धतियां हैं, जिनके द्वारा भाव का परिवर्तन किया जा सकता है। ज्योतिकेन्द्र पर ध्यान होता है, क्रोध का भाव बदल जाता है। दर्शन केन्द्र पर ध्यान होता है, मोह का भाव बदल जाता है, अंतर्-दृष्टि जाग जाती है। हमारा 'फ्रंटल लोब' इतना महत्त्वपूर्ण है कि सारे भावों का नियंत्रण कर रहा है। हमारे सारे भावों का नियंत्रक है हाइपोथेलेमस। हाइपोथेलेमस पीनीयल और पिच्यूटरी पर नियंत्रण कर रहा है। पिग्रंयूटरी अन्य सारी ग्रंथियों पर नियंत्रण कर रही है। हमें भाव-परिवर्तन की प्रक्रिया में जाना है तो मस्तिष्क, ललाट और मस्तिष्क का अगला हिस्सा-इस भाग पर ध्यान केन्द्रित करना होगा। इस पर ध्यान केन्द्रित किए बिना भावों को नहीं बदला जा सकता। यदि नाभि पर ध्यान केन्द्रित करते हैं, तैजसकेन्द्र पर ध्यान करते हैं तो उत्तेजना बढ़ती है, प्राणशक्ति बढ़ती है इसमें कोई संदेह नहीं। प्राण-विद्युत् का विकास हो सकता है, किंतु साथ-साथ में आवेगों का विकास भी हो सकता है। एड्रीनल का काम है सारे आवेगों को जन्म देना।

इन सारी वृत्तियों, संज्ञाओं और आवेगों पर नियंत्रण पाया जा सकता है। शक्ति-केन्द्र, ज्योति-केन्द्र और दर्शन-केन्द्र-भृकुटि से लेकर सिर के अगले भाग तक जो ये तीन केन्द्र हैं, ये सारे भाव-परिवर्तन के लिए जिम्मेदार हैं। बुरे भाव होते हैं तो यहीं से स्रवित होते हैं, अच्छे भाव पैदा होते हैं तो यहीं से स्रवित होते हैं। हम मानते हैं कि बुरे भावों को बदला जा सकता है। लेश्या ध्यान जैन साधना पद्धति की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। रंगों को विभिन्न प्रकार से ध्यान करने पर विभिन्न प्रकार के मनोभाव बदल जाते हैं। 'कलर थेरापी' ने आज रंगों के महत्त्व पर बहुत प्रकाश डाला है। विदेशों में इस पर बहुत काम हो रहा है और बहुत साहित्य निकल रहा है। हमारे यहां प्राकृतिक चिकित्सा में भी रंग-चिकित्सा, सूर्य रश्मि-चिकित्सा का स्थान है, किंतु ध्यान की प्रक्रिया के साथ लेश्याध्यान और रंगों के ध्यान की प्रक्रिया का प्रेक्षा-ध्यान की पद्धति में जो विकास हुआ है, उसे मैं बहुत महत्त्व देता हूं। प्रेक्षा-ध्यान के सारे प्रयोग अभय की चेतना को जगाने के प्रयोग हैं।

25. अभय की मुद्रा

कुछ बाहर में होता है, कुछ भीतर में होता है। हम बाहर और भीतर दो हिस्सों में बंटे हुए हैं। बाहर का स्पष्ट दीखता है, भीतर का दीखता नहीं, अनुभव होता है, पता चलता है। हमारी मुद्रा होती है बाहर में। कैसे बैठते हैं, हाथ कैसे हैं, मुंह कैसे है, आकृति कैसी है, व्यंजना कैसी है, अंगुलियां कैसी हैं—ये सारी बातें मुद्रा से संबंध रखती हैं। एक होती है भाव-मुद्रा और दूसरी होती है भाव-धारा। दोनों में बहुत गहरा संबंध है। जैसी भाव-धारा होती है, वैसी भाव-मुद्रा बन जाती है। मुद्रा का निर्माण करती है भाव-धारा। क्रोध का भाव जागा, क्रोध की मुद्रा बन जाएगी। बताना नहीं पड़ता, आदमी क्रोध में है। मुद्रा देखते ही पता चल जाता है कि अभी क्रोध में है। स्वयं मुद्रा सूचना दे देती है।

भाव और मुद्रा

काव्य-शास्त्र में इस भाव-धारा का बहुत विशद विवेचन हुआ है। तीन भावधाराएं हैं—स्थायीभाव, सात्त्विकभाव और संचारीभाव। किस मुद्रा में कौन-से भाव जन्म लेते हैं? व्यक्ति किस रूप में प्रकट होता है? यह सारा ज्ञात हो जाता है। शृंगार रस की एक मुद्रा होती है, करुण रस की दूसरी मुद्रा होती है, बीभत्स-रस की तीसरी मुद्रा होती है, रौद्र रस की चौथी मुद्रा होती है, शांत रस की पांचवीं मुद्रा होती है। अलग-अलग मुद्राएं होती हैं। प्रत्येक भाव और प्रत्येक रस की भिन्न-भिन्न मुद्रा होती है। रसानुभूति, भावानुभूति और मुद्रा-सब जुड़े हुए हैं। हमारी मुद्रा का संबंध भाव से जुड़ा हुआ है। भय की भाव-धारा होती है तो एक प्रकार की मुद्रा बनती है। डरा हुआ आदमी सिकुड़ जाता है। चेहरा सिकुड़ता भी है और फैलता भी है। हमारा शरीर सिकुड़ता भी है और फैलता भी है। भय से सिकुड़ता है और हर्ष से फैल जाता है। हर्षोत्फुल्ल मुख फूल की भांति खिल जाता है, भयभीत मुख बिल्कुल सिकुड़ जाता है। ऐसा लगता है कि बिल्कुल पतला-दुबला हो गया है। भय की मुद्रा होती है, उस समय बाहरी आकृति में जो

परिवर्तन होते हैं, वे हमारे सामने स्पष्ट हैं। अंतर के अवयवों में भी परिवर्तन होते हैं। हृदय की धड़कन तेज हो जाती है, रक्तचाप बढ़ जाता है, गला सूख जाता है, लार टपकाने वाली ग्रंथियां निष्क्रिय बन जाती हैं। मुख सूखने लग जाता है। आमाशय और आंतें सिकुड़ जाती हैं, भूख भी कम हो जाती है। जो आदमी रोज डरा-डरा रहता है, उसकी भूख प्रायः समाप्त हो जाती है। त्वचा की संवाहिता में अंतर आ जाता है, त्वचा सूक्ष्मग्राही बन जाती है।

किसी आदमी ने झूठ बोला, किसी ने अपराध किया, न्यायाधीश के सामने उपस्थित किया। उसे डर है कि मेरा झूठ पकड़ा न जाए। अब न्याय करने वालों को कैसे पता चले कि यह झूठ बोल रहा है? उन्हें कैसे पता चले कि इसने अपराध किया है? आजकल कुछ यंत्रों का विकास हुआ है। अपराधी खड़ा है और यंत्र चल रहा है गेल्वेनोमीटर। सूई घूम रही है। यंत्र लगा दिया गया है। अब उसके मन में है, कहीं पकड़ा न जाऊं। भय से आंतरिक अवयवों में उत्तेजना पैदा हो गई। वह गेल्वेनोमीटर बता देता कि यह झूठ बोल रहा है। यह बता देगा कि इसने अपराध किया है। यह सारा होता है त्वचा-संवाहिता के द्वारा। त्वचा-संवाहिता का मापन होता है और इस से सचाई का पता चल जाता है।

क्रोध का संवेग, भय का संवेग या दूसरा किसी भी प्रकार का संवेग हो, संवेग की अवस्था में हमारी बाहर की मुद्रा भी भिन्न बन जाती है। संवेग और मुद्रा–दोनों का पता लगाया जा सकता है। एक आदमी एक दिन में शायद सैकड़ों-सैकड़ों मुद्राएं बना लेता है। यदि कोई सूक्ष्म यंत्र या ऐसा संवेदनशील 'कैमरा' हो 'हाइफ्रिक्वेंसी' का, तो प्रत्येक मुद्रा का भेद मापा जा सकता है। पांच मिनट पहले जो मुद्रा थी, पांच मिनट बाद वह रहने वाली नहीं है। जैसे-जैसे भीतर में भाव बदलेगा, वैसे-वैसे मुद्रा में परिवर्तन आ जाएगा। इसी आधार पर मुखाकृति-विज्ञान का विकास हुआ है। आकृति-विज्ञान के आधार पर मनुष्य की सारी चेष्टाओं को बताया जा सकता है, उसके भविष्य का भी निर्धारण किया जा सकता है।

भय एक संवेग है, तीव्र संवेग है। जब भय की स्थिति होती है उस समय आदमी की मुद्रा दुःखद होती है, और अशांति पैदा करने वाली होती है। डरे हुए आदमी के पास कोई दूसरा जाकर बैठेगा, उसके मन में भी अचानक बेचैनी पैदा हो जाएगी। यह क्यों हुआ? कैसे हुआ? उसे पता नहीं चलेगा, पर वह बेचैन बन जाएगा।

अभय : भाव और मुद्रा

अभय का भाव जब-जब जागता है, तब-तब अभय की मुद्रा का निर्माण होता है। अभय की मुद्रा का बाहरी लक्षण है प्रफुल्लता। चेहरा खिल जाएगा। बिल्कुल प्रसन्नता। कोई समस्या नजर नहीं आती, कोई तनाव नहीं होता। भीतर में बिल्कुल शांति। जब भय की भावधारा होती है तो हमारा सिम्पेथेटिक नर्वस-सिस्टम सक्रिय होता है, यानी पिंगला सक्रिय हो जाती है और जब अभय की भावधारा होती है तो पैरा-सिम्पेथेटिक नर्वस-सिस्टम सक्रिय हो जाता है, इड़ा नाड़ी का प्रवाह सक्रिय हो जाता है। उस समय कोई उत्तेजना नहीं होती, शांति और सुख का अनुभव होता है। सब कुछ अच्छा लगता है।

प्रश्न है हम अधिक से अधिक अभय की मुद्रा में कैसे रह सकें? अधिक से अधिक अभय की भावधारा को कैसे प्रवाहित कर सकें? अधिक से अधिक अभय को कैसे अनुभूत कर सकें? यह हमारे सामने प्रश्न है। हमने भय की भी चर्चा की और अभय की भी। भय हेय है और अभय उपादेय। हमें भय की भावधारा को त्यागना है और अभय की भावधारा को विकसित करना है। इसके लिए तीन साधन अपेक्षित हैं उपाय, मार्ग और साधना। अभय का विकास उपाय के बिना संभव नहीं, मार्ग और साधना के बिना संभव नहीं। खोज होगी उपाय की, मार्ग की और साधना की।

एक उपाय है अनुप्रेक्षा। अनुप्रेक्षा के द्वारा अभय की भावधारा को विकसित किया जा सकता है। शब्द की प्रणालियां हमारे शरीर के भीतर बनी हुई हैं। ये रास्ते, पगडंडियां, राजपथ-हमारे शरीर में बने हुए हैं, जिनके माध्यम से तरंगें हमारे पूरे शरीर में व्याप्त हो जाती है और हमें प्रभावित करती है। तरंग का सिद्धांत बहुत व्यापक सिद्धांत है। 'क्वान्टम थ्योरी' का विकास हुआ तब से नहीं, किंतु ढाई हजार, तीन हजार वर्ष पहले से यह प्रकंपन का सिद्धांत प्रस्थापित है कि संसार में सब कुछ प्रकंपन ही प्रकंपन है, सब कुछ तरंग ही तरंग है। भय की तरंग उठी और भय के प्रकंपन शुरू हो गए। यदि उस समय अभय की तरंग को उठा सकें, अभय के प्रकंपनों को पैदा कर सकें तो भय की तरंग वहीं समाप्त हो जाएगी। यह अनुप्रेक्षा का सिद्धांत प्रतिपक्ष का सिद्धांत है–एक तरंग के द्वारा दूसरी तरंग की शक्ति को निरस्त किया जा सकता है। इसके द्वारा अच्छी तरंग को उठाया जा सकता है, बुरी को निरस्त किया जा सकता है। बुरी तरंग को पैदा किया जा सकता है, अच्छी तरंग को निरस्त किया जा सकता है।

हमारे पुरुषार्थ पर, हमारे ग्रहण पर और हमारी दृष्टि पर यह निर्भर है कि हम किस समय क्या करते हैं और कैसा हमारा प्रयत्न होता है? जिस व्यक्ति ने प्रेक्षाध्यान का प्रयोग किया है, जिसने इस सचाई को समझा है कि शुभभाव की तरंग के द्वारा अशुभ की तरंगों को, विधायक तरंगों के द्वारा निषेधक तरंगों को नष्ट किया जा सकता है, वह इसके लिए बहुत जागरूक हो जाता है कि जब भी मन में कोई बुरा विकल्प उठे, मन में बुरा विचार आए, तत्काल शुभ भाव की तरंग को पैदा कर दे।

असत् से सत् की ओर

तीन अवस्थाएं होती हैं। एक है असत् भाव की अवस्था, दूसरी है सत् भाव की अवस्था और तीसरी है सत्-असत् दोनों भावों से अतीत अवस्था। एक है असत् भाव की अवस्था जो 'निगेटिव'-निषेधात्मक भाव की अवस्था है। दूसरी है सत् भाव की अवस्था जो विधायक भाव की अवस्था है और तीसरी दोनों से परे जिसमें न कोई निषेधात्मक भाव है, न कोई विधायक भाव है, निर्विकल्प और निर्विचार अवस्था। यह बहुत सुंदर अवस्था है, बहुत आगे की बात है, किंतु सामान्यतः हमारा जीवन इन असत् और सत् की भावधाराओं के बीच में चलता है। कभी असत् की तरंग उठती है तो कभी सत् की तरंग उठती है। जैसे-जैसे हमारी भाव-क्रिया प्रबल होती है, जैसे-जैसे हमारा वर्तमान में रहने का अभ्यास शक्तिशाली बनता है, जैसे-जैसे हम प्रेक्षा के प्रति सावधान और जागरूक होते हैं और निरंतर जागरूकता का अभ्यास करते हैं, वैसे-वैसे ही मस्तिष्क में उठने वाली अशुभ भाव की तरंगों का पता लगने लग जाता है कि अब अशुभ भाव की तरंग उठ रही है। उस समय तत्काल शुभ भाव की तरंग पैदा कर देते हैं। अनुप्रेक्षा शुरू कर देते हैं तो अशुभ भाव की तरंग दब जाती है, शांत हो जाती है।

ऊर्ध्वारोहण : अनुप्रेक्षा

अनुप्रेक्षा का प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है असत् से बचने के लिए। सारा जप का विकास इसी आधार पर हुआ है। अनुप्रेक्षा के सिद्धांत के आधार पर जप का विकास हुआ है। इष्ट का जप करो, मंत्र का जप करो, क्योंकि शुभ भाव और शुभ विचार तुम्हारे मन में रहेगा तो अशुभ भाव को जागने का मौका नहीं मिलेगा। इसीलिए मंत्र का आलंबन लिया गया। कुछ लोग अध्यात्म साधना के क्षेत्र में मंत्र की उपयोगिता नहीं मानते। पर हमारा विश्वास है कि मंत्र की

भी बहुत बड़ी उपयोगिता है, उसे नकारा नहीं जा सकता, अस्वीकार नहीं किया या सकता, क्योंकि हम सीधे वीतराग तो बन नहीं सकते। सीधे छलांग वाली बात बहुत कम घटित होती है। कोई व्यक्ति ऐसा हो सकता है कि सीधी छलांग लगा सकता है। कोई-कोई ऐसा हो सकता है कि छत पर से सीधे नीचे छलांग लगा सकता है, पर हर कोई लगाने लग जाए तो सीढ़ियों की जरूरत क्या है? फिर सीढ़ियां लगानी निरर्थक है, पर सब छलांगे लगाने लग जाएंगे तो शायद हॉस्पिटल में स्थान भी खाली नहीं मिलेगा। बड़ी मुसीबत पैदा हो जाएगी। छलांग की बात सार्वजनिक बात नहीं हो सकती। कदाचित् हो सकती है, अपवादस्वरूप हो सकती है। सीधे वीतराग की भूमिका में चले जाने की बात एक छलांग की बात है। हमें सीढ़ियों के सहारे चलना पड़ेगा। आदमी सीढ़ी के सहारे चढ़ेगा,ऊपर पहुंचेगा। सीढ़ियों में दोनों बातें होती हैं। एक ही सीढ़ी बनी हुई है। ऐसा नहीं होता कि ऊपर जाने के लिए सीढ़ियां अलग बनती हैं और नीचे आ जाने के लिए सीढ़ियां अलग बनती हैं। उसी सीढ़ी से ऊपर चढ़ा जा सकता है उसी सीढ़ी से नीचे आया जा सकता है इसी प्रकार भावधारा से ऊपर भी चढ़ा जा सकता है और नीचे भी उतरा जा सकता है। हमारी भावधारा जब सत् के साथ जुड़ती है तब हम ऊपर चढ़ते हैं, हमारा आरोहण होता है। ज्योंही भावधारा असत् के साथ जुड़ती है तब अवरोहण शुरू हो जाता हे, आदमी नीचे उतर आता है। जप का विकास, मंत्र का विकास, इसी भावना पर हुआ था कि एक ऐसा आलंबन बना रहे, जिससे बुरे भावों को आने का अवसर कम से कम मिले।

ऊर्ध्वारोहण : प्रेक्षा

अभय का दूसरा साधन है प्रेक्षा। जैसे-जैसे देखने की शक्ति का विकास होता है, हमारी दृष्टि सत्याग्रही बन जाती है। डर जितना भी लगता है, वह असत्य के कारण लगता है। चाहे असत्य मान्यता, असत्य का सिद्धांत, असत्य की धारणा, असत्य का संकल्प जो भी असत्य का पक्ष है, सारा भय पैदा करने वाला है। जैसे-जैसे दर्शन की शक्ति विकसित होती है और सचाई के निकट जाते हैं, कल्पनाओं से दूर हटते हैं, हमारी शक्ति बढ़ती जाती है और भय अपने आप कम होता जाता है। यथार्थ में भय नहीं होता। भय मूर्च्छा में होता है, असत्य में होता है। प्रेक्षा के द्वारा हमारी मूर्च्छा का चक्र टूटता है और जब मूर्च्छा का चक्र टूटता है तो भय अपने आप समाप्त हो जाता है।

प्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, मंत्र का जप–ये सारे साधन विकसित हुए अभय के विकास के लिए। प्रत्येक परंपरा, जैन परंपरा, वैदिक परंपरा, बौद्ध परंपरा, सब में भय का निवारण करने वाले मंत्रों का विकास हुआ और बहुत सारे मंत्र जपे जाते हैं भय को दूर करने के लिए। कुछ लोग सोते-सोते डर जाते हैं। कुछ लोग रात को डरावने स्वप्न देखते हैं, डर जाते हैं। कुछ लोग अकारण ही डर जाते हैं। इन अवस्थाओं से बचने के लिए सैकड़ों-सैकड़ों 'अभय मंत्रों' का विकास हुआ है और उनका बहुत प्रयोग भी होता है, परिणाम भी आता है और मनःस्थिति बदल जाती है। औषधियों का विकास भी हुआ है। ऐसी भी औषधियां हैं, जड़ियां हैं, कितना भी भय लगे जड़ी को सिरहाने रख दो, बुरे स्वप्न आने बंद हो जाएंगे। जड़ियों का विकास, मंत्रों का विकास और प्रयोग इस दिशा में हुआ और उसके परिणाम भी अच्छे आए।

भय का कारण : संग्रह

अभय का एक और महत्त्वपूर्ण उपाय है। उसका संबंध है हमारे चरित्र से, व्यवहार से। भय पैदा होता है हिंसा से, असत्य से और संग्रह से। ये तीन बड़े कारण हैं जो हमारे चरित्र से संबंध रखते हैं। हर आदमी अनुभव करता होगा कि संग्रह के कारण कितना भय पैदा होता है? बाहर गये और ध्यान आया कि कमरे के तो ताला ही नहीं लगाया है, अलमारी खुली रह गई है, वह बीच में ही दौड़ पड़ता है वापस। कहीं कोई पहले न पहुंच जाए। कोई बाहर से नहीं, घर का आदमी भी भीतर न घुस जाए। वह डर जाता है। लौटता है और संभालता है। क्यों डरा? कोई डराने वाला तो नहीं था, किंतु संग्रह के प्रति इतनी घनी मूर्च्छा है कि जितना अर्जित किया है, उसमें एक राई भी, पाई भर भी कम न हो जाए। बहुत लोग शायद अपनी संपत्ति का उपभोग भी नहीं करते, किंतु दीपावली, रामनवमी या जो अपना एक समय है वर्ष का लेखा-जोखा करने का, उस समय खाते में देखते हैं कि पास में इतनी पूंजी जमा है तो इतने गहरे हर्ष का अनुभव होता है कि शायद जीवन में कभी नहीं होता, बहुत संतुष्टि मिलती है। बस, उतनी-सी संतुष्टि कि मेरे पास है। इसका और कोई अर्थ नहीं, पहले और पीछे भी कोई अर्थ नहीं, कोई उपयोग नहीं, किंतु मेरे पास है, यह भाव ही इतना प्रफुल्ल बना देता है आदमी को कि वह सब कुछ मान लेता है और वही भाव कि 'मेरे पास है' आदमी में इतना भय पैदा करता है कि रात और दिन भय से आक्रांत होता है। मुनीम धोखा न दे दे, भाई धोखा न दे दे, बाप धोखा न दे

दे। निरंतर यह सताता रहता है। एक मानसिक तुष्टि है कि 'मेरे पास है' और मेरे पास जो है वह कहीं चला न जाए, यह भय भी रहता है। संग्रह से मानसिक तुष्टि तो शायद कभी-कभी होती है, पर भय का भाव तो चौबीस घंटों ही बना रहता है। इस प्रकार संग्रह भय का सबसे बड़ा निमित्त है।

भय का कारण : असत्य

असत्य भय का बहुत बड़ा निमित्त है। झूठ बोलते समय तो शायद एक मिनट लगता है। आदमी एक मिनट में झूठ बोल देता है, किंतु झूठ बोलने के बाद कई दिनों तक भय नहीं मिटता कि कहीं पता न लग जाए, संरक्षक को पता न लग जाए, हमेशा भय बना रहता है मन में।

हिंसा भी भय का कारण है। हिंसा, असत्य और संग्रह-जब तक इनमें, इनके प्रति आसक्ति में कमी नहीं होती, अभय की अनुप्रेक्षा कर लेने पर भी अभय का विकास हो जाये, इसमें मुझे संदेह है। यानी रचनात्मक अभय का विकास नहीं हो पाता, ध्वंसात्मक अभय का तो हो सकता है। इतना निडर बन जाए कि किसी से भी नहीं डरता, यह तो हो सकता है और अनर्थकारी भाव पैदा हो सकता है, किंतु रचनात्मक अभय पैदा हो जाए यह संभव नहीं। मैंने दो दिन बाबा नागपाल से बहुत बातें की। मैंने एक विचित्र बात देखी कि शक्ति की उपासना है, सब कुछ है, फिर भी एकमात्र स्वर है चरित्र का। चरित्र का विकास होना चाहिए। इसके सिवा दूसरी बात ही नहीं है। कहते हैं कि मैं तो किसी को भी न तो ताबीज देता हूं, न गंडा देता हूं, कुछ भी नहीं। सबको कहता हूं आहार शुद्ध करो, व्यवहार शुद्ध करो। इसके बिना कुछ भी नहीं होगा। बहुत बड़ी बात कहते हैं।

आचार्य आनंद धन

जैन परंपरा में एक आचार्य हुए हैं आनंदघनजी। बहुत बड़े साधक थे गुजरात के। बहुत बड़े योगी। इतनी सिद्धियां उन्हें प्राप्त थीं कि लोग पीछा नहीं छोड़ते थे। जहां जाते भीड़ इकट्ठी हो जाती। राजा, प्रजा सब लोग इकट्ठे हो जाते। पता चलता कि आनंदघनजी के पास तो स्वर्णसिद्धि है, सोना बनाने की सिद्धि है, हजारों लोग उनके पास आने लगे। भीड़ बनी की बनी रहती। आराम लेने को क्षण भी नहीं मिलता। हर कोई चाहता कि मुझे सोना मिले, मैं सोना बना लूं। बड़ी मुसीबत हो गयी। वे जंगल में चले गए, फिर भी लोग पीछे लगे रहे। कोई आदमी आता कि महाराज! लड़का नहीं है, कोई कहता धन नहीं है,

इस प्रकार सैकड़ों-सैकड़ों समस्याएं लेकर लोग आते। क्या करे? पीछा छुड़ाने के लिए कुछ लिखकर देते और कहते–देखो, इस पुड़िया को खोलना मत। साथ-साथ जो मैं कहूं, उस पथ्य का पालन भी करना। जब आदमी स्वीकार कर लेता, तब कहते–देखो! अगर तुम सफलता चाहते हो तो छह महीने तक या बारह महीने झूठे नहीं बोल सकते। अब्रह्मचर्य का सेवन नहीं कर सकते, चोरी नहीं कर सकते। इस प्रकार पांचों अणुव्रतों की दीक्षा दे देते अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अणुव्रत। ध्यान रखना, अगर इसमें चूक हुई तो तुम्हारा काम नहीं होगा। अगर इसमें चूक न हो तो मेरे पास आ जाना। अब छह महीने, बारह महीने में भावना पूरी हो जाती, वह आता और कहता–महाराज! आपने बड़ी कृपा की। मेरा काम सफल हो गया। वे हंसते और कहते–सफल किससे हुए? मैंने तो सिर्फ लिखा था 'तुम जानो तुम्हारा भाग्य जाने, मुझे क्या लेना देना है।' इससे तुम्हारा काम हो गया। तुमने स्वयं चरित्र का पालन किया, स्वयं ने व्यवहार का परिष्कार किया, स्वयं ने आहार की शुद्धि की और काम बन गया।

काम करने वाली शक्ति हमारे चरित्र की शक्ति है, हमारे चरित्र का बल है और वह बल जैसे-जैसे बढ़ता है आदमी में अभय का विकास होता है। जब अभय का बल बढ़ता है तो अनेक मनोकामनाएं मनुष्य की, जाने-अनजाने में पूरी हो जाती हैं। मनोकामना की पूर्ति में सबसे बड़ी बाधा भय है, आशंका है और संदेह है। कोई काम शुरू करते हैं कि यह काम मेरा होना चाहिए, तत्काल मन में आता है–अरे भई! मैंने सोचा तो है पर होगा या नहीं होगा? क्या यह हो जाएगा? दसों लोगों से पूछता है, मैंने यह बात सोची है, क्या पूरी हो जाएगी? मन में संदेह, मन में आशंका, मन में दुर्बलता और कभी भय भी लगने लग जाता है कि मैंने यह बात कह तो दी लोगों को, अगर पूरी नहीं हुई तो बड़ी भद्दी लगेगी। भय आशंका से घिरा हुआ आदमी असफल तो पहले कदम में ही हो जाता है, फिर उसे क्या सफलता मिलेगी।

चरित्र का विकास

सफलता का सबसे बड़ा सूत्र है चरित्र का विकास और चरित्र-विकास के ये तीन बड़े स्तम्भ हैं–अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह।

हम अभय की मुद्रा का विकास करना चाहें तो अहिंसा का विकास करें। अहिंसा अभय की एक मुद्रा है। सत्य का विकास करें, सत्य अभय की एक

मुद्रा है। असंग्रह का विकास करें, असंग्रह अभय की एक मुद्रा है। जिसके अंतःकरण में ये भावनाएं जन्म लेती हैं, सचमुच वह अभय बन जाता है। मैं यह नहीं कहता हूं कि संग्रह नहीं हो, क्योंकि गृहस्थ के पास कुछ न कुछ संगृहीत होता ही है। एक बात स्पष्ट समझ लें–संग्रह होना और संग्रह के प्रति तीव्र आसक्ति होना–ये दो बातें हैं। हिंसा अनिवार्यता है। हिंसा होना और हिंसा के प्रति लगाव होना–ये स्पष्टतः दो बातें हैं। कभी-कभी इस बात में आस्था जम जाना कि इस युग में असत्य के बिना काम नहीं चल सकता–बिल्कुल दो बातें हैं। हमारी आसक्ति प्रबल न हो। अनिवार्यता और आसक्ति के बीच में एक सूक्ष्म और संकरी रेखा को हम स्पष्ट समझें। पदार्थ के बिना काम नहीं चल सकता। पदार्थ जीवन की अनिवार्यता है। गृहस्थ तो क्या, साधु का भी काम नहीं चल सकता। साधु के पास भी कपड़ा है, पुस्तकें हैं, पात्र हैं। साधु के पास भी शिष्य हैं, पदार्थ हैं, व्यक्ति हैं। कोई भी जीवन धारण करने वाला, संसार में रहने वाला इन सबसे कटकर जी नहीं सकता। इन सबके साथ जीता है, पर यदि इन सबके प्रति ममत्व का भाव क्षीण, शांत होता है तो वह संग्रह नहीं कहता, परिग्रह नहीं बनता। ममत्व का भाव जाग गया तो एक कपड़ा भी परिग्रह बन जाएगा। एक पुस्तक भी परिग्रह बन जाएगी। प्रेक्षा उस सचाई का प्रमाण है कि हमारी मूर्च्छा कितनी टूटती है, आसक्ति कितनी कमजोर होती है। यह आसक्ति को दुर्बल बनाने का प्रयत्न है, शक्ति के जागरण का प्रयत्न है और आनंद को जगाने का प्रयत्न है। कोरी शक्ति नहीं, एक ओर चेतना, एक ओर आनंद, ये दो तट हैं और बीच में शक्ति की धारा प्रवाहित हो। ऐसी स्थिति में कोई खतरा नहीं होता। आनंद का तट टूट जाए, चेतना का तट टूट जाए और कोरी शक्ति जाग जाए तो उपद्रव की बात होती है, फिर विद्रोह और ध्वंस की बात होती है। शक्ति का जागरण भी बड़ा खतरनाक है। बिजली बहुत उपयोगी है, पर बिजली बहुत खतरनाक भी है। बिजली खोल में है तब तक तो ठीक है, पर कोई खुले तार को हाथ छू ले, बड़ा खतरनाक काम हो जाता है। हमारी चेतना का जागरण हो, चेतना शुद्ध होगी तो अभय की मुद्रा विकसित होगी। चेतना का अनुभव अपने आप में अभय है।

चेतना का अनुभव : अभय

एक मुनि जंगल में ध्यान कर रहे थे। वे खड़े थे। एक सांप आया और मुनि को डसकर चला गया। एक आदमी ने देख लिया। वह दौड़ा-दौड़ा आकर

मुनि से बोला–'मुनिवर! अभी-अभी एक काले सांप ने आपको काट खाया है। आपको ज्ञात है?' मुनि बोले–'मैं नहीं जानता।' वह बोला–'अरे आप डरे नहीं?' मुनि ने कहा–'नहीं, डर नहीं लगा।' उसने पूछा–'भय क्यों नहीं लगा? क्या आप मौत से नहीं घबराते?' मुनि बोले–'मैं अपने घर में था। वहां मैंने किसी सर्प को नहीं देखा। संभव है, किसी दूसरे को काटा हो, मुझे तो सांप ने नहीं काटा।'

जब आदमी चैतन्य के अनुभव में होता है, तब सांप भी काट जाता है तो सांप का जहर नहीं चढ़ता। जहर भी विशेष स्थिति में चढ़ता है। आप जानते हैं कि जब सांप काट जाता है, तब घर के लोग विशेष प्रयत्न करते हैं कि नींद न आ जाए। बिल्कुल जागरूक, इतना अप्रमत्त कि आंख में कोई सलवट भी न पड़े। जब तक जागता है, जहर नहीं चढ़ता और सोया तो सो ही गया, उसे सोने नहीं देते, बिल्कुल जागरूक रखते हैं। जागरूकता में जहर नहीं चढ़ता। व्यक्ति अपने चैतन्य के अनुभव में होता है, सांप का जहर क्या करेगा? कोई असर ही नहीं होगा। चैतन्य के अनुभव में अभय की मुद्रा प्रकट होती है। वहां भय नहीं होता।

हम इस बात को आश्चर्य के साथ कहते हैं कि देखो, भगवान महावीर को चंडकौशिक जैसा सांप काट गया और भगवान अविचल रहे। अरे, कोई आश्चर्य की बात ही नहीं है। किसी रास्ते चलते आदमी को सांप काट जाता और अविचल रहता तो आश्चर्य की बात थी, पर महावीर जैसे व्यक्ति के लिए, जो निरंतर अपनी चेतना का अनुभव कर रहे थे, सांप काट जाए, बिच्छू काट जाए, शेर काट जाए, कोई फर्क पड़ने वाला नहीं था। महावीर के लिए यह घटना कोई बड़ी घटना नहीं थी, कोई आश्चर्य की बात भी नहीं थी। अध्यात्म की परम भूमिका का अनुभव करने वाला व्यक्ति कभी सांप के पास नहीं फटकता और सांप उसके पास नहीं फटकता। वह जहर के पास नहीं जाता, जहर उसके पास नहीं जाता। दोनों का संबंध ही नहीं जुड़ता तो आश्चर्य की कौन-सी बात है?

चेतना का अनुभव अभय की मुद्रा का अनुभव है। आनंद का अनुभव अभय की मुद्रा का अनुभव है। हर्ष नहीं, आनंद। आनंद की बात कर रहा हूं, हर्ष की बात अलग है। हर्ष में तो भय आ जाता है। हर्ष और शोक दोनों का संबंध है, दोनों का जोड़ा है। हर्ष आएगा तो शोक को आना ही पड़ेगा। शोक आएगा तो हर्ष को आना ही पड़ेगा। यह नहीं हो सकता कि कोई अकेला आ

जाए। साथ-साथ आएंगे। थोड़ा आगे पीछे हो सकता है। इतनी देरी हो सकती है कि एक साथी पहले पहुंच जाए और दूसरा साथी घंटा भर बाद पहुंच जाए। आखिर पहुंचना पड़ेगा। दोनों साथी हैं। अलग कैसे रहेंगे? आनंद में न हर्ष है और न शोक। यह दोनों से परे की अवस्था है। प्रेक्षा के द्वारा आनंद की ऊमियां जागती हैं। वह आनंद, जिसका संबंध है केवल समता से। समता के अनुभव से आनंद जागता है, न हर्ष, न शोक। उस स्थिति में हमारी अभय की मुद्रा बनती है।

अभय की मुद्रा के दो बड़े साधन हैं चेतना का अनुभव और आनंद का अनुभव। प्रेक्षा का काम है—इन दोनों को विकसित करना। प्रेक्षा है भीतर में देखना। बाहर को देखता है, तब भय जागता है। सारा भय बाहर से जागता है। इसका कारण बहुत स्पष्ट है। हमारे जितने मूल्य, मानदंड और मान्यताएं हैं, वे दूसरे के कारण हैं। मैं दूसरे को देखूंगा तो दो प्रकार की प्रतिक्रियाएं हो सकती हैं। कोई मुझसे छोटा है तो मेरे मन में अहंकार की भावना जागेगी। कोई मुझसे बड़ा है तो मेरे मन में हीन भावना जागेगी। यह अहंकार की ग्रंथि, हीन भावना की ग्रंथि दोनों ग्रंथियां पर-दर्शन से पैदा होती हैं। जितने सामाजिक मूल्य हैं, मापदंड हैं, वे सारे पर-दर्शन से पैदा होते हैं।

पड़ोसी ने ऐसा विवाह किया, यदि मैं वैसा नहीं करूंगा तो लोग क्या समझेंगे? अच्छा ही नहीं लगेगा। बस, पड़ोसी ने किया, इसलिए वह एक मूल्य बन गया, मापदंड बन गया। इस समस्या का, इस भय को पैदा करने वाली समस्या का पार पाना है तो अंतर्दर्शन का अभ्यास करना होगा। जिस व्यक्ति ने अपने भीतर में झांकना, भीतर में देखना शुरू कर दिया, उसके लिए सारे मूल्य समाप्त हो गए, सारे मानदंड समाप्त हो गए। न कोई मूल्य है, न कोई मानदंड है। यह डर नहीं है कि कौन क्या कहेगा? कुछ भी नहीं है। सारी बातें समाप्त हो जाती हैं। जब मूल्यातीत और मानदंडातीत भावना का विकास होता है, इसका अर्थ है अभय की मुद्रा का विकास।